गोरखनाथ

नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

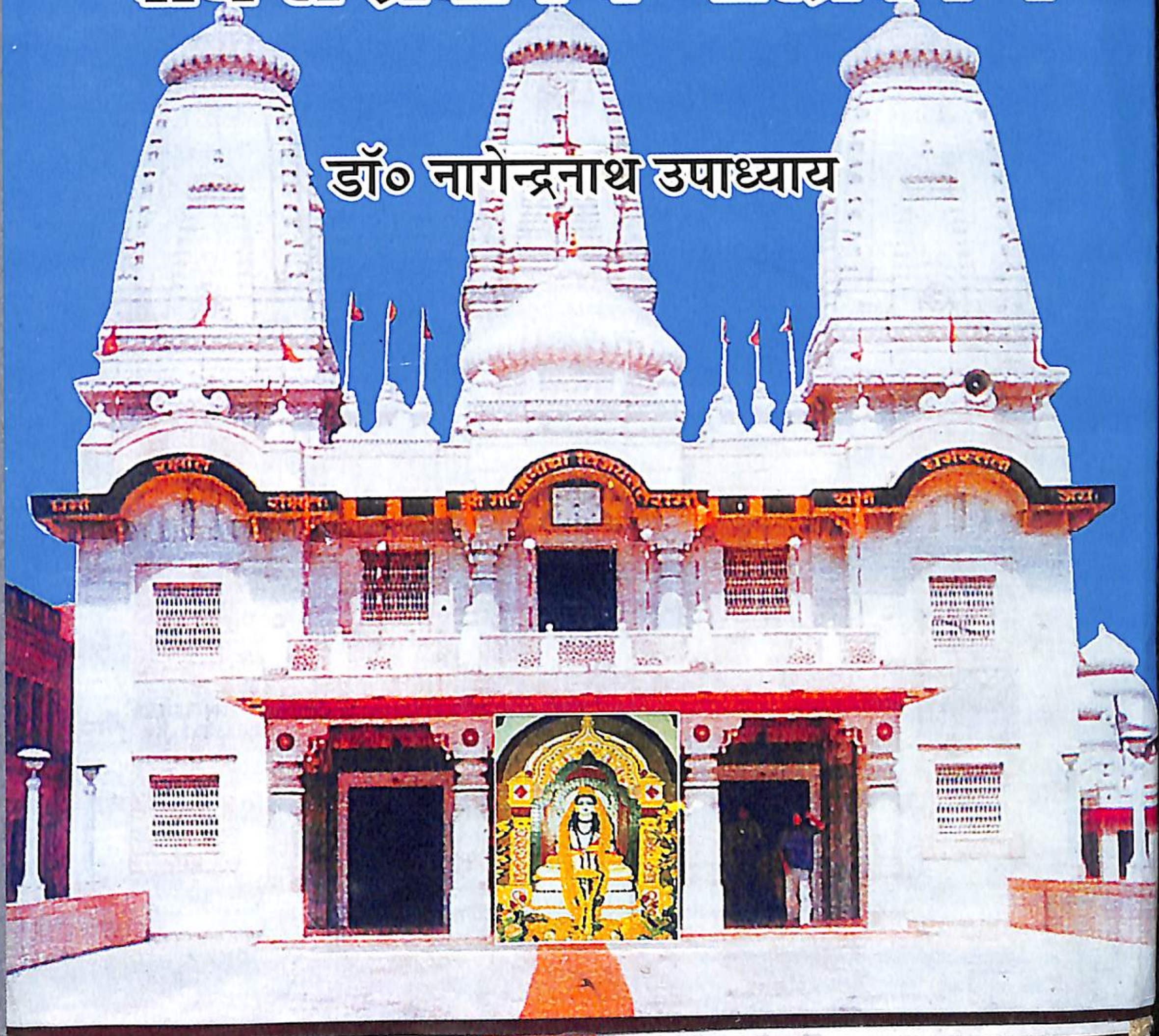

गोरखनाथ

नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में

लेखक
डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
पूर्व आचार्य, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

GORAKHANĀTHA
NĀTHA SAMPRADĀYA KE PARIPREKSHYA MEIN

by

Dr. Nagendra Nath Upadhyaya

ISBN : 978-81-7124-695-3

द्वितीय संस्करण : 2009 ई०

मूल्य : दो सौ पचास रुपये (Rs. 250.00)

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

श्री श्री 'माँ' के
चरणों में

—नागेन्द्र

आशीर्वचन

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय बड़े परिश्रमी विद्वान् हैं। उन्होंने नाथ सम्प्रदाय और परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों के अध्ययन. में बहुत श्रम क़िया है। मुझे उनकी नयी पुस्तक 'गोरखनाथ : नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में' पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। इस सम्बन्ध में जो भी सामग्री उपलब्ध है, उसका उन्होंने बड़ी सावधानी से निरीक्षण किया है। गोरखनाथ के नाम से प्रचलित भाषा-रचनाओं पर तो उन्होंने विशेष परिश्रम किया है। गोरक्षनाथ अपने काल के परम शक्तिशाली महात्मा थे। उनकी रचनाओं के जो रूप उपलब्ध हैं, वे भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। संस्कृत-रचनाओं में जो बातें बहुत सुलझे हुए ढंग से लिखी गई हैं वे हिन्दी-रचनाओं में प्रायः छूट गई हैं। ऐसा लगता है कि हिन्दी-रचनाएँ बाद में संकलित हुई हैं और उनमें किसी बात को क्रमबद्ध रूप में न रखकर केवल समय-समय पर कही गई सूक्तियों के संग्रह-रूप में ही समेटा गया है। परिवर्तन भी उनमें हुए होंगे। हिन्दी-रचनाओं की कुंडलिनी योग की कोई चर्चा नहीं है जबकि नई संस्कृत-रचनाओं में इसका विस्तार है परन्तु सभी पुस्तकों के पढ़ने के बाद गोरखनाथ का अत्यन्त तेजस्वी रूप प्रकट होता है। वे सत्य कहने में बिल्कुल हिचकते नहीं हैं। किसी प्रकार की कुंठा या ग्रंथि उनके मन में नहीं है। वे प्राण-साधना के पोषक हैं। वे सब प्रकार के बाह्याचार और पाखण्ड पर जमकर आघात करते हैं, वे मृत्यु को जीतने में आस्था रखते हैं और असदाचरण पर कसकर आघात करते हैं। संस्कृत-रचनाओं में कुछ ऐसी भी हैं जिनसे उनके तेजस्वी व्यक्तित्व का और चिंतन-मनन से उद्दीप्त स्वर का स्पष्ट आभास मिलता है। कुछ ऐसी भी हैं जो उनके नाम से प्रचलित तो हैं परन्तु केवल यौगिक क्रियाओं के निर्देश के लिए मार्गदर्शिका के रूप में लिखी गई हैं।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने सभी शैलियों की रचनाओं का उत्तम विवेचन किया है। उन्होंने इन रचनाओं का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि 'शुद्ध काव्य की दृष्टि से गोरखनाथ की रचनाओं की परीक्षा से निराशा ही हाथ लगती है'। परन्तु अन्य दृष्टियों से उन्हें ये रचनाएँ काफी महत्वपूर्ण भी लगी हैं। उन्होंने पाया है कि रचनापद्धति और काव्यशैली की दृष्टि से गोरखनाथ की रचनाओं में अनेक रूप मिलते हैं। उनकी प्राणसंकली में दोहा-चौपाई शैली का विकसित रूप देखने को नहीं मिला। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय (संभवत 10वीं शताब्दी में) इसकी रचना

हुई होगी, देशी भाषा में इस पद्धति के प्रमाण का बाहुल्य नहीं था अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने इसकी रचना कर इसका प्रचार गोरखनाथ के नाम से कर दिया हो। इसमें 'घत्ता' देने की प्रवृत्ति का विकास नहीं दिखाई पड़ता। संख्या की तिथि, वार, नक्षत्र और ग्रह से मिलाकर भी उनके अनुसार लिखी गोरखनाथ के नाम से कुछ रचनाएँ गोरखबानी में संगृहीत हैं, जैसे पन्द्रह तिथि, सप्तवार, नवग्रह आदि। संख्या जोड़कर 'पदी' साहित्य की भी रचनाएँ निर्गुण साहित्य में बहुत प्रचलित हैं। गोरखनाथ ने भी अपनी एक रचना को 'षट्पदी' कहा है जिसके अंतर्गत छह छंद प्रतीत होते हैं। यह रचना राग रामग्री के अंतर्गत एक पद के रूप में संकलित है। उनके कुछ पदों के साथ शास्त्रीय रागों के भी निर्देश अथवा शीर्षक मिलते हैं। गोरखनाथ के पदों के स्रोत का विचार करते समय लोगों का विचार है कि बौद्ध सिद्धों के चर्यापद ही इनके मूल हैं। पदों में उद्ग्रह, मेलापक, ध्रुव, अंतरा और आभोग नाम के पाँच भाग बताये जाते हैं। गोरखनाथ के पदों में टेक मिलता है और इसका स्थान पद के आरम्भ में ही रहता है। संतों की रचनाएँ सबदी हैं। उन्हें एक हस्तलेख में 'साखी' भी कहा गया है। 'सबदी' यह संकेत करता प्रतीत होता है कि ये गुरु के शब्द हैं अथवा प्रमाण वचन हैं।

मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि नागेंद्रनाथजी ने बड़े परिश्रम और प्रामाणिकता के साथ अपने विचार प्रकट किए हैं। परमात्मा उन्हें उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायु प्रदान करें। उनसे हिन्दी-साहित्य को बहुत आशा है।

वाराणसी
11-3-'76

हजारीप्रसाद द्विवेदी

पुरोवाक्

नाथ संप्रदाय और गोरखनाथ पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। नाथ संप्रदाय और साहित्य पर शोध के अनेक बिन्दुओं पर लिख-पढ़ कर यह अनुभव हुआ कि इन्हें एकत्र कर व्यवस्थित रूप में प्रकाशित कर नाथ सम्प्रदाय और साहित्य के प्रति रुचि को जगाना आवश्यक है क्योंकि यह सम्प्रदाय, समाज और साहित्य भारतीय संस्कृति का अनिवार्य अंग है। बौद्ध सिद्ध साहित्य पर शोध-कार्य करते समय अनेक विचार उठे और समय-समय पर उन्हें शोध-निबन्धों के रूप में विभिन्न शोध-पत्रिकाओं और अभिनन्दन-ग्रन्थों में प्रकाशन मिलता रहा। उन सबको एक बार देखने पर ऐसा प्रतीत हुआ कि हिन्दी-साहित्य के इतिहासलेखन में तांत्रिक बौद्ध सिद्ध साहित्य और सम्प्रदाय के साथ नाथ सिद्ध साहित्य और संप्रदाय के संबंधस्थापन में न्याय नहीं किया गया। इसी प्रकार नाथ सिद्धों के साधन और सिद्धान्तों के स्रोत तथा स्वरूप पर भी अनेक विवाद हैं। इस ग्रन्थ की अपनी सीमाएँ हैं, इसलिए सभी विषय इसमें समाहित नहीं किये जा सकते थे। अभी भी ऐसे बहुत से विषय हैं, शोध के बिन्दु हैं, जो अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हिन्दी में ऐसी प्रभूत रचनाएँ हैं जिनका मूल्यांकन शुद्ध काव्य के निकष पर नहीं किया जाना चाहिए। ऐसे रचनाकारों ने ऐहिक उपलब्धियों एवं गुणों को नकार दिया था और साथ ही कविता को अहंकार की जननी मानकर रचना और जीवन दोनों से बहिष्कृत कर दिया था। अतः रहस्यवादी काव्यदृष्टि मात्र ही ऐसी कसौटी है जिस पर उनके खरी-खोटी होने का विचार किया जा सकता है। ऐसी कविता में प्रेषणीयता ही प्रथम गुण है और साधनात्मक अनुभूतियों एवं विचारों की जीवनगत सत्यता, सघनता और पुष्टता दूसरा। भारतीय जनजीवन से इनका सम्बन्ध शुद्ध काव्य की अपेक्षा अधिक सघन था और प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक व्यापक। इतना ही नहीं, आज भी सामान्य जनता इनसे प्रेरणा ग्रहण करती है और 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्' के सिद्धान्त को जीवन में, आचरण में उतारती है। भारतीय नैतिकता और आचार का सजीव रूप इन रचनाओं में मिलता है। आचरण के बिना शास्त्र, रहस्यवाद, नीति, सिद्धान्त, प्रवचन, व्याख्यान, निर्देश-उपदेश थोथे हैं। समानता की भावना और समदृष्टि का विकास कर सामाजिक और साम्प्रदायिक वैषम्य के उन्मूलन की आवश्यकता आज कम नहीं है। इसलिए भारतीय जन-जीवन ही नहीं, सम्पूर्ण

वैश्व मानव समाज को आज गोरखनाथ जैसे महापुरुषों और उनके चारित्रिक आदर्शों की अधिक आवश्यकता है।

हिन्दी के आदिकालीन समाज में स्वेच्छाचार, अमर्यादित जीवन, अतिवादिता, सिद्धान्तों और तथाकथित उच्च साधनाओं की आड़ में भोग को योग घोषित करने की प्रवृत्ति, अनधिकारियों के प्रवेश, भोग-विलास की अति, आडम्बर, अनावश्यक संग्रह आदि विभिन्न प्रवृत्तियों का प्राबल्य था। कृच्छ्राचार और सहज भोग को योग का जामा पहनाया जा रहा था। योग के प्रति धारणा गिरती जा रही थी। आडम्बर और अंधविश्वास बढ़ रहा था। अत: वज्रसाधकों और सहजयानियों की अपार भीड़ के बीच में से संयत और अनुशासित जीवन का मार्ग गोरख ने ढूँढ़ निकाला जिससे शुद्ध शरीर, शुद्धाचार, सात्विक और कर्मठ एवं अनुशासित जीवन का यथार्थ रूप सामने आया। आज किसी भी कवि अथवा रचना की प्रासंगिकता के विचार का बड़ा शोर है, इसलिए यह लिखना पड़ा। कहीं घोर अतिवादी भौतिकता के अंधड़ में मानव का चारित्रिक मेरुदंड टूट न जाय, समग्र भारतीय समाज का ओजप्रवाही स्नायुजाल छिन्न-भिन्न न हो जाय और अर्थपिशाच मानव का चर्वण न कर ले। जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का अनुगामी और सम्पूर्ण जीवनशक्ति धारा को उसकी ओर प्रवाहित करने का हामी जीवन और जगत् दोनों से निवृत्त होने की बात तक नहीं कर सकता। यहाँ गोरख की ही बात कही जा रही थी। यदि इस महिमामय व्यक्तित्व के परवर्ती प्रभाव की समीक्षा की जाय तो हिन्दी का संत-साहित्य ही नहीं, सूफी-साहित्य भी, भारत का चतुर्दिक् व्यापक साधनात्मक जीवन ही नहीं, परवर्ती विश्वव्यापक बौद्ध-साहित्य और जीवन भी किसी न किसी रूप में अवश्य प्रेरणा ग्रहण करता रहा है। यदि इस शैव सिद्धाचार्य का इतना महिमामय जीवन और व्यक्तित्व न होता तो परवर्ती तिब्बती बौद्ध शास्त्र और साहित्य इसके गुणकथन में न रमते और न अपनी परम्परा में इसकी महिमा की घोषणा ही करते। सम्पूर्ण भारत में ही नहीं, उससे बाहर भी सम्प्रदाय एवं पंथ के अनेक रूप और संस्थाएँ अभी भी साक्षी-रूप में विद्यमान हैं।

इस ग्रन्थ में शोध की भी कुछ सामग्री है और सामान्य विवेचन की भी। विभिन्न ग्रन्थों में बहुचर्चित प्रकरणों का उल्लेख मात्र कर प्राय: अस्पृष्ट विचारों एवं प्रकरणों को ही विशेष रूप से सामने लाने का प्रयास किया गया है। नाथ सम्प्रदाय, साहित्य और गोरखनाथ से सम्बन्धित अनेक बिन्दुओं पर अनेक विद्वानों से मैं सहमत न हो सका। शोध के क्षेत्र गें 'इदमित्थं' कहना मूर्खता है। आगे के शोधकों को इसमें क्या मिलेगा और वर्तमान विद्वान् इसे किस अर्थ में ग्रहण करेंगे, यह उनकी सहृदयता पर निर्भर करता है। यहाँ दूसरी स्थापनाओं की परीक्षा कर अपनी बात कहने की कोशिश की गई है। यह कहाँ तक सबकी बात बन पाएगी, यह मैं नहीं कह सकता। तांत्रिक बौद्ध सिद्ध साहित्य से लेकर हिन्दी संत-साहित्य तक स्वाध्याय, विचार और

विश्लेषण करने के उपरान्त जिन निष्कर्षों तक पहुँचा; उन्हें मैंने तत्तत् ग्रन्थों में व्यक्त किया। गोरखनाथ सम्बन्धी विचारों को यहाँ प्रस्तुत कर पाया हूँ। नाथ सम्प्रदाय का सिद्ध योगेश्वरी मत से भी सम्बन्ध था, इस पर लिखने का अवसर प्रतीक्ष्य है। डी०लिट्० की उपाधि के लिए लिखित 'तांत्रिक बौद्ध सिद्धाचार्य कृष्णवज्रपाद की अपभ्रंश रचनाओं का अध्ययन और सम्पादन नामक शोधप्रबन्ध में कृष्णवज्रपाद के तांत्रिक बौद्ध कापालिक संप्रदाय पर विचार करते-करते 'बामारग' तक पहुँच गया। हिन्दी के नाथ-साहित्य और संत-साहित्य के सम्बन्ध पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अपना विचार है कि नाथ-साहित्य शैव-साहित्य है, और संत-साहित्य वैष्णव। इसके विविध आयाम हैं, जिन्हें 'नाथ और संत-साहित्य' में स्पष्ट कर चुका हूँ। इसलिए यहाँ उस पर कुछ भी लिखना पिष्टपेषण ही होता। नई सामग्री और नये विचार हाथ लगने पर हरि इच्छा।

कागज का संकट बीच में आ पड़ने के कारण यह ग्रन्थ लगभग दो वर्षों बाद प्रकाशित हो रहा है। 'सभा' के अधिकारियों और कर्मचारियों का मैं अनुग्रह मानता हूँ। जिन विद्वानों और अनुसंधित्सुओं के ग्रन्थों अथवा शोधनिबन्धों का इस ग्रन्थ में उपयोग हुआ है, उनका भी मैं आभारी हूँ। गुरुजनों के 'आशीर्वाद' को मैं अपने जीवन का सम्बल मानता हूँ। स्वावलंबिता का आनन्द निराला है। उन लोगों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे सीधे नकार दिया था।

नाथ सम्प्रदाय, गोरखनाथ और उनके साहित्य के पठन-पाठन को अग्रसर करने में यदि ग्रन्थ सहायक हुआ और विद्वानों को यत्किंचित् संतोष हुआ तो अपना लेखन सार्थक समझूँगा।

रामनवमी, सं० 2032 **नागेंद्र उपाध्याय**

संकेताक्षरों का विवरण

आ०रे०क०—आब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स, डॉ० शशिभूषण दासगुप्त।

आ०रे०लि०इं०—ऐन आउटलाइन ऑव द रेलिजस लिटरेचर ऑव इंडिया, डॉ० जे०एन० फर्कुहर।

इं०बु०ए०
ऐन इं०बु०ए० } —ऐन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज़्म, डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य।

इं०रे०ए०—इंसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, सं० जेम्स हेस्टिंग्स।

इं०सा०
दं०उ०सा० } —इंडियन साधूज़, जी० एस० घुरे।

ओ०डे०बें०लैं०—द ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी।

कौ०नि०—कौलज्ञाननिर्णय, सं० डॉ० प्रबोधचंद्र बागची।

गो०क०यो०—गोरखनाथ ऐंड कानफटा योगीज़, जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स।

गो०बा०—गोरख-बानी, सं० और टीकाकार डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

गो०यु०—गोरखनाथ और उनका युग, डॉ० रांगेय राघव।

गो०सं०—गोरक्षसंहिता, इंद्रजी शर्मा द्वारा प्रकाशित।

गो०सि०सं०—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, सं० डॉ० गोपीनाथ कविराज।

ज०ए०सो०बें०—जर्नल ऑव द एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल।

टि०हा०म्यू०—टिबेट हाउस म्यूजियम, नई दिल्ली।

तां०बौ०सा०सा०—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, नागेंद्रनाथ उपाध्याय।

ना०प्र०प०—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

ना०सं०—नाथ संप्रदाय, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी!

ना०सं०इ०द०प्र; ना०सं०द०सा०प्र०—नाथसंप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना प्रणाली, डॉ० कल्याणी मल्लिक।

ना०सं०सा०—नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० नागेंद्रनाथ उपाध्याय।

बु०टि०ला०—द बुद्धिज़्म ऑ० टिबेट ऑर लामाइज़्म, वैडेल।

बौ०गा०दो०—बौद्ध गान ओ दोहा, सं० डॉ० हरप्रसाद शास्त्री।

बौ०ध०इ०—भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, मूल लेखक लामा तारानाथ।
भा०बौ०ध०इ०—भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, मूल लेखक लामा तारानाथ।
भा०सं०सा०—भारतीय संस्कृति और साधना (दो भाग), डॉ० गोपीनाथ कविराज।
मि०टे०ला०ता०—मिस्टिक टेल्स ऑव लामा तारानाथ, अनु० भूपेंद्रनाथ दत्त।
यो०मा०—योग मार्तण्ड।
रा०यो०—राजगुरु योगिवंश, सुरेशचंद्रनाथ मजुमदार।
वै०शै०—वैष्णविज़्म, शैविज़्म ऐंड अदर माइनर रेलिजस सिस्टम्स, डॉ० आर०जी० भंडारकर।
सि०प०अ०ना०यो०—सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स नाथयोगीज़, सं० डॉ० कल्याणी मल्लिक।
सि०सि०प०—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, सं० कडवः शंभु शर्मा, अनु० योगी नरहरिनाथ शास्त्री।
सि०सि०सं०—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस।
स्ट०बु०क०इं०—स्टडीज़ इन द बुद्धिस्ट कल्चर ऑव इंडिया, डॉ० लालमणि जोशी।
हिं०सा०इ०—हिंदी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल।
हिं०सा०बृ०इ०—हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग 1, सं० डॉ० राजबली पाण्डेय।

❑❑❑

विषयक्रम

विषय	पृष्ठ सं०
पहला परिच्छेद—'नाथ' और 'नाथ संप्रदाय'	1–6
'नाथ शब्द की सांप्रदायिक शाब्दिक दार्शनिक व्याख्याएँ, गोरखबानी में 'नाथ' शब्द, संत-साहित्य में 'नाथ', नाथ और सृष्टिक्रम, उपाधि के रूप में 'नाथ'। नाथ सम्प्रदाय तथा अन्य नाम—योगी, कनफटा, दर्शनी, गोरखनाथी, सिद्धमार्ग, योग संप्रदाय, अवधूत मत आदि; 'नाथ' संप्रदाय' नाम की सार्थकता।	
दूसरा परिच्छेद—चौरासी सिद्ध और नवनाथ	7–34
चौरासी और नौ संख्याएँ, नाथ, पाद और भद्र, सिद्धभेद और चौरासी सिद्ध एवं सर्वमान्यता, रसेश्वर और चर्वटी अथवा चर्पटीनाथ, ताओ धर्म का प्रभाव और ज्ञानसिद्ध, तांत्रिक कादि हादि और सादि के नवनाथ, परशुरामकल्पसूत्र और राजगुरु योगिवंश, अन्य विभिन्न सूचियों के स्रोत और नवनाथ; हठयोगप्रदीपिका की सूची, वर्णरत्नाकर की सूची, सस्क्य विहार की सूची, इन सूचियों का तुलनात्मक अध्ययन, सिद्धों की दीक्षा-परम्परा, सामान्य नाथों के नाम, अभिन्न सिद्ध, चौरासी सिद्धों की सूची में नाथसिद्ध, विवाद के अनेक बिंदु, मीन, मत्स्येंद्र और लुई की भिन्नता और अभिन्नता, डॉ० बागची के मत की समीक्षा, मत्स्येंद्र और कृष्णपाद का समय, गोरखनाथ तथा अन्य सिद्धों का समय, नवनाथों की विभिन्न सूचियाँ, नवनाथों की दीक्षा-परम्परा।	
तीसरा परिच्छेद—बौद्धसिद्ध और नाथसिद्ध : संबंध-विचार	35–42
विभिन्न मत, सांप्रदायिक दृष्टि—जालंधरनाथ और आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ और लुईपाद, कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य; साधनात्मक और दार्शनिक दृष्टि—तांत्रिक बौद्ध अपभ्रंश रचनाओं के कुछ सिद्धान्त, वज्रयान और सहजयान, डॉ० बागची, पं० रामचंद्र शुक्ल तथा राहुल सांकृत्यायन के मतों की समीक्षा, बौद्धसिद्धों से नाथसिद्धों की अन्य भेदक बातें, साधनात्मक भेद का मूलाधार दर्शन में,	

मत्स्येंद्र का योगिनी कौल मत और उसकी नाथ संप्रदाय के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या।

चौथा परिच्छेद—नाथ साहित्य 43–52

शैव नाथ साहित्य की बौद्धसिद्ध साहित्य में भिन्नता, संप्रदाय के मान्य ग्रंथ, मत्स्येंद्र और गोरख की रचनाएँ; गोरखकृत ग्रन्थ—गोरखशतक, गोरखसंहिता और सिद्धसिद्धांतपद्धति, अमरौघशासनम्, महार्थमंजरी; चर्पटमंजरी, भर्तृहरि का कर्तृत्व; हिन्दी की रचनाएँ—गद्य के उद्धरण, गोरखबानी, अन्य नाथसिद्धों की रचनाएँ और उनके संग्रह, कुछ अप्रकाशित रचनाएँ, अन्य कर्ता नाथपंथी और उनका शताब्दीगत एवं देशगत उल्लेख।

पाँचवाँ परिच्छेद—नाथों की जातीय स्थिति 53–65

भारत में विविध जातियाँ और सम्प्रदाय, वर्णसांकर्य और सामाजिक विघटन—विभाजनपूर्ण वर्णव्यवस्था एवं आश्रमव्यवस्था, बौद्ध अबौद्ध संन्यासी संप्रदाय, मुसलमानी आक्रमण का प्रभाव, ब्राह्मण व्यवस्था और ब्राह्मणमुक्त व्यवस्था तथा 'अकाल संन्यास', अत्याश्रमी, अतिवर्णाश्रमी, योगी और जोगी संप्रदाय का धार्मिक आन्दोलन और जातियों का उद्‌भव, मुस्लिम आक्रमण, धर्मपरिवर्तन और जातिभेदवृद्धि एवं अत्याश्रमी, जोगी और मुसलमान, कनफटा, जोगी जाति और उसकी पौराणिकता, संन्यासी और योगी, गृहस्थाश्रमी युगी जाति और उसकी जीविका, नाथयोगी, नाथयोगियों के भेद, गृहस्थयोगियों का प्रसार, उनकी विविध जातियाँ निष्कर्ष

छठा परिच्छेद—नाथों की सांप्रदायिक स्थिति 66–88

बौद्धों और शैवों की स्थिति, शैव मत की प्राचीनता, पाशुपत और लाकुलीश, पाशुपत और आगमिक शैव, नाथ, कापालिक, माहेश्वर संप्रदाय, वैदिक, तांत्रिक और मिश्र, पाँच शैव संप्रदाय, श्रीकंठ लकुलीश और गोरख, अभिनवगुप्त, मत्स्येंद्र तथा पाशुपत, पाशुपत और आगमिक, संन्यासी समाज और माहेश्वर, नाथयोगियों की अवस्थिति, नाथसिद्ध मत में विभिन्न संप्रदाय, तंत्र का प्रसार, नाथ मत का शैवत्व, मत्स्येंद्र का मत और संप्रदाय, प्राचीन सिद्ध मत और नाथ संप्रदाय, सिद्धामृत मार्ग और नाथ संप्रदाय, नाथ संप्रदाय में विभिन्न शैव शाक्तादि मत, शैव संन्यासियों का शंकरोत्तर संगठन।

सातवाँ परिच्छेद—गोरक्षनाथ का जीवन और व्यक्तित्व 89–102

मत्स्येंद्र और गोरख के नामों के ध्वन्यंतर और उनके स्रोत, जन्म और जन्मस्थान संबंधी अनेक सूचनाएँ तथा निष्कर्ष, 'गोरख' शब्द, गोरखनाथ का चरित्र और व्यक्तित्व, शैव संप्रदायों का संगठन, गोरखचरित्र की उच्चता, जीवन की घटनाएँ, गोरख की करुणा तथा अन्य गुण, गोरख की ऐतिहासिकता और कालनिर्णय—समकालीन सिद्ध और गोरख का समय, विभिन्न दंतकथाएँ, नवीं शताब्दी का मध्य भाग।

आठवाँ परिच्छेद—गोरक्षनाथ की संस्कृत-रचनाएँ 103–116

नाथयोगी संप्रदाय की संस्कृत-रचनाएँ और गोरख, प्रामाणिकता, पन्द्रह महत्वपूर्ण ग्रन्थों में गोरखशतक और गोरखसंहिता, चार प्रमुख ग्रन्थ और उनके प्रतिपाद्य—1. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—पिंडोत्पत्ति, पिंडविचार, पिंडसंवित्ति, पिंडाधार, पिंडपद समरसकरण अवधूतयोगिलक्षण; 2. महार्थमंजरी—ग्रन्थ के कर्तृत्व संबंधी विवाद पर विचार, ग्रंथ का प्रतिपाद्य; 3. अमरौघशासनम्—सारणा विभाग, साधनसाध्य संबंधी मतों का खंडन एवं स्वपक्षमंडन, साधनस्वरूप; 4. गोरक्ष संहिता—विभिन्न संस्करण, गोरखशतक और गोरखसंहिता, प्रथम शतक—पिंड और प्राणसाधन, द्वितीय शतक—प्राणायामभेद, कुंडलिनी साधना, पातंजल योगानुक्रम।

नवाँ परिच्छेद—गोरक्षनाथ का दर्शन 117–123

दर्शन के मूलाधार ग्रंथ, गोरखदर्शन का तत्त्वविज्ञान, अद्वैतवाद और द्वैताद्वैतविलक्षणवाद, शैव अद्वैतवाद, परब्रह्म का स्वरूप, कतिपय दार्शनिक विशेषताएँ और सिद्धान्त, त्रिकमत और नाथमत, गोरखमत और शांकर मत, डॉ० गोपीनाथ कविराज का मत, निष्कर्ष।

दसवाँ परिच्छेद—गोरक्षनाथ की साधना 124–137

नाथयोग और तंत्र, गोरखसिद्धान्तसंग्रह और तंत्र-संबंध की पुष्टि; साधना का लक्ष्य—1. जीवन्मुक्ति और सिद्ध देह, जीवन्मुक्तिक्रम और पिंडपद, 2. परमपद और परा मुक्ति, नाथस्वरूपेणावस्थानम्, समरसीकरण; योग ही उपाय, हठयोग और राजयोग, षडंग योग और हठयोग—यमनियम, आसन, प्राणायाम और उसके प्रकार, ओंकारसाधन और अजपाजाप, नादानुसंधान, प्रत्याहार, धारणा—

कुंडलिनी साधन और उसके नामांतर, ध्यान, समाधि; गोरख के ग्रन्थों में योगसाधना—प्राणायाम, धारणांतर्गत कुंडलिनीयोग, चक्रविवेचन, कुंडलिनीभेद, ध्यान का स्वरूप और भेद, समाधि; योगसाधना के कुछ सिद्धान्त—गुरुशिष्यवाद और अधिकारभेद, पिंडब्रह्माण्डवाद; निष्कर्ष।

ग्यारहवाँ परिच्छेद—गोरक्षनाथ की हिंदी-रचनाएँ 138–144

संस्कृत और हिंदी-रचनाएँ, गोरखनाथ का गद्य, डॉ० बड़थ्वाल का कोषोत्सव व्याख्यान, गोरखबानी की रचनाएँ, डॉ० मल्लिक का संग्रह और उसकी उपयोगिता, रचनाओं की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता, 'सबदी' का प्रतिपाद्य, पदों के विषय, अन्य रचनाएँ और उनका मूल्य।

बारहवाँ परिच्छेद—गोरक्षनाथ की हिंदी-रचनाओं में साधना एवं अंतर्भूत सिद्धान्त 145–169

संस्कृत और हिंदी-रचनाओं की प्रकृति, हिंदी-रचनाओं का प्रधान स्वर और योग, गुरु का महत्व और स्वरूप, बत्तीस और छत्तीस तत्त्व तथा परीक्षाएँ, गुरु के कार्य, योगी के अवस्थागत भेद, योगयुक्त ज्ञान का लक्ष्य, परमतत्त्व और उसकी पिंड और ब्रह्माण्ड में व्याप्ति, पिंडपद—परमपद समरसीकरण, पिंडज्ञान, योगयुक्त ज्ञान का स्वरूप और योगी, हठयोग और राजयोग का संबंध, हठयोग और दशांग यम-नियम और ब्रह्मचर्य, आस्तिकता, हठयोग और हठ, आसन और प्राणायाम, प्रत्याहार तथा अन्य अंग, कुंडलिनी, चक्रव्यवस्था, विपरीतकरण, ध्यान, समाधि और उसके पर्याय, सहज और शून्य, निष्कर्ष।

तेरहवाँ परिच्छेद—गोरक्षनाथ की हिंदी-रचनाओं में भाषा, शैली तथा विविध प्रवृत्तियाँ 170–184

हिंदी-रचनाओं की प्रामाणिकता पर विचार, मतों की परीक्षा और भाषा, सधुक्कड़ी भाषा, भाषा के विविध प्रयोग, खड़ी बोली ब्रजभाषा, साहित्य में नाथों की रचनाओं की अग्राह्यता, रहस्यवादी काव्यदृष्टि और भारतीय रहस्यवाद। गोरखनाथ का रहस्यवाद, रहस्यवादी काव्य में प्रतीक, गोरखनाथ के प्रतीक, संधाभाषा, संधाभाषा और अधिकारभेदवाद, संधाभाषा में दो प्रकार की शैलियों और उलटबाँसी, तांत्रिक साधना में आचार एवं भाव और कर्पूरादिस्तोत्र के श्लोक, गोरखनाथ की साधनात्मक रहस्यवादी

काव्यशैली, बौद्धों से संबंध, संधाभाषा की विपर्ययप्रधान शैली और उलटबाँसी, विविध प्रयोग एवं प्रतीक विचार, रस और छंद, रचनापद्धति, काव्यशैली और रूप, गोष्ठी और बोध, निष्कर्ष।

परिशिष्ट— 185-220

1. गोरखवाणी—(क) सबदी
   (ख) पद
2. तिब्बती परम्परा में गोरक्षनाथ और अन्य नाथसिद्ध—मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ; गोरक्षनाथ अथवा गोरक्षपा; जालंधरि और कृष्णाचारी, भर्तृहरि और गोविचन्द्र; चौरंगी; कर्णरीपा; सूचनाओं का विश्लेषण और निष्कर्ष, मंत्रयान संबंधी सूचनाएँ।
3. गोरक्षशिष्य मल्लिकानाथ और उनकी परम्परा।
4. जालंधर और कानुफा का कापालिक संप्रदाय और 'बामारग।'
5. संदर्भ-ग्रंथ

अनुक्रमणिका 221-241

□□□

पहला परिच्छेद

'नाथ' और 'नाथ' संप्रदाय

'नाथ' मत या 'नाथ' संप्रदाय के ग्रन्थों में 'नाथ' शब्द के शाब्दिक और दार्शनिक अर्थ मिलते हैं। डॉ० गोपीनाथ कविराज द्वारा संपादित गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह वास्तव में प्रमाण-संग्रह-ग्रन्थ है। इसमें राजगुह्य और शक्तिसंगमतंत्र के प्रमाणों को उधृत किया गया है। राजगुह्य के अनुसार 'ना' का अर्थ है 'अनादिरूप' और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना। नाथ वह तत्व है जो अनादिरूप है तथा भुवनत्रय की स्थिति का कारण है।[1] शक्तिसंगमतंत्र के अनुसार 'ना' का तात्पर्य उस नाथ ब्रह्म से है जो मोक्षदान में दक्ष है, उसका ज्ञान कराता है। 'थ' का अर्थ है, अज्ञान के सामर्थ्य को स्थगित करने वाला। नाथ वह तत्व है। जो मोक्ष प्रदान करता है, नाथब्रह्म का अनुबोधन करता है तथा अज्ञान का स्थगन करता है।[2] इन दोनों ग्रन्थों के अनुसार नाथ-तत्व परमतत्व है। वह भुवनत्रय का कारण, परम ज्ञान का दाता तथा मोक्षदाता है। वह मोक्षदाता भी है, इसकी पुष्टि गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह ने भी की है। उसके अनुसार सृष्टि-स्थिति-लय की प्रक्रिया में शक्ति विश्व का सृजन करती है, शिव उसका परिपालन करते हैं, काल उसका संहार करते हैं तथा नाथ मुक्ति देते हैं।[3] इस नाथ के तीन रूप माने गए हैं। 'अद्वैतपरिवर्ती' नाथ प्राप्य देवता हैं। निराकार ज्योतिरूप नाथ ध्येय हैं तथा आदिगुरु के रूप में साकार नाथ उपास्य हैं।[4] यही अद्वैतपरिवर्ती नाथ दो प्रकार की सृष्टि (नादरूपा और बिंदुरूपा) के मूल हैं।[5]

---

1. *गोरक्षसिद्धांतसंग्रह,* पृ० 11 पर उधृत राजगुह्य :

   नाकारोऽनादिरूपं थकारः स्थाप्यते सदा।
   भुवनत्रयमेवैकं श्रीगोरक्ष नमोऽस्तुते॥

2. *वही,* पृ० 11 पर उधृत शक्तिसंगमतंत्र :

   श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथ ब्रह्मानुबोधनात्।
   स्थगिताज्ञान विभवात् श्रीनाथ इति गीयते॥

3. *वही,* पृ० 49, 51।

   शक्त्या तु सृज्यते विश्वं शिवेन परिपाल्यते।
   कालेन च संह्रियते मुक्तिर्नाथेन दीयते॥
   तथा—शक्तिर्जगत्कर्त्री शिवः पालकः। कालः संहारकः। नाथो मुक्तिदायकः।

4. *वही,* पृ० 51 : अस्मिन् मार्गे अद्वैतपरिवर्ती नाथो देवता प्राप्य निराकार ज्योतिनाथो ध्येयः साकारनाथ उपास्योऽथ च आदिगुरुः।
5. *वही,* पृ० 72 : नाथाद् द्विप्रकारा सृष्टिर्जाता—नादरूपा बिन्दुरूपा च।

एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि सांसारिकी रीति विपरीत है। उसमें अनुक्रम तो है ही नहीं, व्यतिक्रम है। उदाहरणार्थ, सांसारिकी रीति से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के क्रम को स्वीकार किया जाता है। इस क्रम में मोक्ष को स्थान न देकर चतुर्थ और अंतिम स्थान दिया गया है। नाथमतानुसार इनका क्रम होगा—मोक्ष, धर्म, अर्थ, काम। इस मत का सर्वोपरि पुरुषार्थ मोक्ष है। अत: मोक्षदाता नाथ ही इस मत के सर्वेसर्वा हैं।[1]

'नाथ' शब्द की उपर्युक्त शब्दिक और दार्शनिक व्याख्या में कोई अंतर नहीं प्रतीत होता। दोनों में 'नाथ' शब्द 'परमतत्व' की ओर संकेत करता है। बौद्ध सहजिया सिद्धों के 'बौद्ध गान ओ दोहा' में संपादित शांतिपाद के चर्यापद में 'नाथ' शब्द का प्रयोग मिलता है। संस्कृत टीकाकार मुनिदत्त ने वहाँ 'नाथ' का अर्थ 'सद्गुरु' किया है।[2] नाथों के उपर्युक्त सांप्रदायिक अर्थ से इसकी पूरी संगति नहीं बैठती।

गोरखनाथ ने भी 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया है। 'गोरखबानी' में संगृहीत-संपादित रचनाओं में 'नाथ' शब्द का व्यवहार दो अर्थों में हुआ है। भणिति में 'नाथ' शब्द का जहाँ प्रयोग हुआ है, वहाँ उसके रचयिता की ओर संकेत होता है। जैसे—

नाथ कहै तुम आपा राखौ।
नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू।[3]

अन्य स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म' या परमतत्व के अर्थ में हुआ है। जैसे—

ते निश्चल सदा नाथ के संग।
नाथ कहता सब जग नाथ्या।[4]

नाथ संप्रदाय से संबद्ध साहित्य में प्रयुक्त 'नाथ' शब्द के इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'नाथ' शब्द के दो अर्थ हैं—परमतत्व या ब्रह्म, गुरु।

निर्गुणी संतों के साहित्य में भी शब्द का व्यवहार मिलता है। रामानंद के नाम से प्रसिद्ध 'रामरक्षा' रचना में 'नाथ' को निरंजन और प्राण-पिंड की रक्षा करनेवाला कहा गया है।[5] कबीर ने 'नाथ' शब्द का प्रयोग 'मायाजेता' के अर्थ में किया है। उसे त्रिभुवन का यती कहा गया है।[6] कबीर के इस अर्थ की पुष्टि गोरक्षसिद्धांतसंग्रह के वाक्यों से होती

1. *गोरक्षसिद्धांतसंग्रह,* पृ० 58 : इयं रीति: सांसारिकी न तु परमार्थिकी वार्ता किंच धर्म्मोऽर्थ: कामो मोक्ष: इति . . . किन्त्वनुक्रमस्त्वेवं रीत्या-मोक्षो धर्मोऽर्थ: काम:।
2. *चर्यागीतिकोष,* सं० डॉ० प्रबोधचंद्र बागची तथा शांतिभिक्षु शास्त्री, 1956, पृ० 51, *चर्यापद* सं० 15 : 'माआमोह समुदारे अन्त न बूझसि थाहा। आगे नाव न भेला दीसइ भन्ति न पुच्छसि नाहा।' टीका : 'किं भ्रान्त्य। सद्गुरुनाथं न पृच्छसि।'— *वही,* पृ० 53.
3. *गोरखबानी,* डॉ० बड़थ्वाल, पृ० 11, 26.
4. *वही,* पृ० 4, 5, 45, 61 आदि।
5. *रामानंद की हिंदी रचनाएँ,* डॉ० बड़थ्वाल, पृ० 3.
6. *कबीर ग्रंथावली,* डॉ० श्यामसुंदरदास, पृ० 199. 'नाथ सोइ जो त्रिभुवन जती।'

है। सामान्यतया अन्य शास्त्रों के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का क्रम स्वीकार किया जाता है। किन्तु योगशास्त्र में गोरक्षसिद्धांतसंग्रह के अनुसार सृष्टि का जो क्रम स्वीकार किया जाता है, वह निम्नलिखित है—

शिव→भैरव→श्रीकंठ→सदाशिव→ईश्वर→रुद्र→विष्णु→ब्रह्मा→सृष्टि

इस क्रम से स्पष्ट है कि 'नाथ' इस सृष्टिक्रम से पूर्णतया परे हैं।[1] अन्यत्र कहा गया है कि सिद्धों का इष्ट नाथ है। उन्होंने स्त्री को स्वीकार नहीं किया। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, देवता, शेषादि नाग, मनु आदि नर, अन्य पशु-पक्षी आदि जीव, सभी स्त्रियों के द्वारा विजित होते हैं, केवल एक नाथ ही मायाजेता हैं।[2]

कबीर के उपर्युक्त अर्थ में यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि वहाँ नाथ शब्द का प्रयोग नाथ संप्रदाय के सिद्ध लोगों के लिए किया गया है, कारण यह है कि 'नाथ' शब्द एक उपाधि भी है जो साधकों को नाथ संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद प्रदान की जाती है और यह शब्द दीक्षा के बाद उनके नाम के अंत में जोड़ दिया जाता है। बंगाल के योगी लोग भी अपने नाम के साथ 'नाथ' शब्द जोड़ते हैं तथा अधिकांशत: कपड़ा बीनने, पान बेचने तथा चूने का व्यवसाय करते हैं।[3] किन्तु कबीर ने अपनी रचनाओं में (हमारा तात्पर्य डॉ० श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' में संकलित रचनाओं से है) केवल एक बार इस शब्द का प्रयोग किया है और नाथ शब्द के पूर्व विष्णु, कृष्ण, राम, अल्ला, खुदा, करीम, गोरख, महादेव, सिद्ध आदि का प्रयोग किया है। स्पष्टत: ये शब्द विभिन्न संप्रदायों के मान्य परमतत्व या पूज्य या उपास्य हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ 'नाथ' को नाथपंथ का मान्य परमतत्व स्वीकार करना चाहिए।

'नाथ' शब्द के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'नाथ संप्रदाय' उन साधकों का संप्रदाय है जो 'नाथ' को परमतत्व स्वीकार कर उनकी प्राप्ति के लिए योगसाधन करते थे तथा दीक्षा के बाद नामांत में 'नाथ' उपाधि जोड़ते थे। किन्तु डॉ० कल्याणी मल्लिक का कथन है कि यह 'नाथपंथ' या 'नाथ संप्रदाय' नाम पुराना नहीं है। यह नाम अति आधुनिक है। महामहोपाध्याय डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने सबसे पहले यह नामकरण किया था।[4] इस समय नाथ संप्रदाय के और भी कई नाम प्रचलित हैं। ये नामकरण कभी तो संप्रदायगत वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर किए गए अथवा कभी उनकी साधना सम्बन्धी

1. *गो० सि० सं०,* पृ० 59.
2. *वही,* पृ० 66.
3. *गोरखनाथ ऐंड कनफटा योगीज़, ब्रिग्स,* पृ० 33. *नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली,* डॉ० कल्याणी मल्लिक, पृ० 1. *मयनामतिर गान,* डॉ० एन० के० भट्टशाली, *भूमिका,* पृ० 4. *ऑब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स,* डॉ० शशिभूषण दासगुप्त, पृ० 227, 427 तथा पादटिप्पणी। *राजगुरु योगिवंश,* पृ० 5-31.
4. *नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली,* डॉ० कल्याणी मल्लिक पृ० 1.

विशिष्टता के आधार पर किए गए हैं। हठयोग की साधना करने के कारण उन्हें 'योगी' कहा जाता है। इस 'योगी' शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है। इसका प्रयोग बहुत से ऐसे साधकों के लिए भी किया जाता है जो कनफटे नहीं हैं। बार्थ नाम के लेखक ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है। उसके अनुसार इसका अर्थ 'सेंट' से लेकर 'चमत्कारी' तक विस्तृत है।[1] संन्यासियों के लिए भी सामान्यत: इस शब्द का व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'कनफटा', 'दर्शनी' और 'गोरखनाथी' नाम से इन साधकों का परिचय दिया जाता है। कान की लौ चिरवाने के कारण ही इन्हें कनफटा कहा जाता है। दीक्षा के समय यह कान फाड़ने की क्रिया की जाती है। ये कनफटे भिक्षुक और संन्यासी रूपों में मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, गंगा के आसपास के प्रदेशों और नेपाल में मिलते हैं।[2] बंगाल के रंगपुर के योगी लोग शैव हैं। वे गोरक्ष को अपना आदिगुरु मानते हैं तथा अपने को कनफटा संप्रदाय के अंतर्गत बतलाते हैं।[3] प्राय: कनफटा लोग गोरक्षनाथ को संप्रदाय का पुनर्गठनकर्ता मानते हैं।[4] 'दर्शनी' शब्द का मूल 'दर्शन' है। इसी 'दर्शन' को कुंडल भी कहते हैं। कान फड़वाकर स्फटिक या अन्य किसी धातु या दाँत का कुंडल धारण करने के कारण ही इन्हें 'दर्शनी' कहते हैं। 'कनफटा' और 'दर्शनी' एक ही प्रकार के संस्कार की ओर संकेत करते हैं। किन्तु 'दर्शन' की आध्यात्मिक व्याख्याएँ नाथपंथी ग्रंथों में मिलती हैं। इस दर्शन को योगी लोग दीक्षा के समय धारण करते हैं। इसके धारण करने का अर्थ यह है कि साधक ने परमात्मा का दर्शन कर लिया है। इसे नाथपंथी लोग अत्यधिक पवित्र मानते हैं, इसीलिए इसे 'पवित्री' भी कहते हैं। कर्णभेद से जिस नाड़ी का भेदन होता है, कहा जाता है, उससे योगज सिद्धियाँ मिलती हैं।[5] विभिन्न प्रदेशों में नाथपंथी लोग विभिन्न नामों से भी पुकारे जाते हैं। ब्रिग्स का कथन है कि ये लोग पंजाब, हिमालय प्रदेश और बम्बई आदि प्रदेशों में प्राय: 'नाथ' नाम से, पश्चिमी भारत में प्राय: 'धर्मनाथी' नाम से तथा भारत के अन्य भागों में प्राय: 'गोरखनाथी' और 'कनफटा' नाम से संबोधित किए जाते हैं।[6] यह निस्संदिग्ध है कि 'गोरखनाथी' नामकरण संप्रदाय के प्रवर्तक या संगठनकर्त्ता के कारण ही हुआ है। पंजाब प्रान्त में मुसलमान वर्ग में भी योगी मिलते हैं। उन्हें 'रावल' नाम से पुकारा जाता है।[7]

1. *द रेलिजंस ऑव इंडिया, ए० बार्थ,* पृ० 215. *द ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव द सेंट्रल प्राविंसेज ऑव इंडिया, वा० 3. हिंदू कास्ट्स ऐंड सेक्ट्स,* जोगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य, पृ० 319 तथा आगे, पृ० 402. *एसेज ऐंड लेक्चर्स चीफ्ली ऑन द रिलिजंस ऑव द हिंदूज़,* विल्सन, पृ० 215.
2. *गो० क० यो०,* ब्रिग्स, पृ० 1-2.
3. *ना० सं० इ० द० प्र०,* मल्लिक, पृ० 4.
4. *इं० रे० ए०,* टेस्सिटरी का लेख, वा० 12, पृ० 834.
5. *ना० सं० इ० द० प्र०,* मल्लिक, पृ० 9.
6. *गो० का० यो०,* पृ० 1.
7. *ना० सं०, इ० द० प्र०,* मल्लिक, पृ० 9.

नाथपंथी साहित्य में इन नामों का प्रयोग प्राय: नहीं मिलता। सिद्धान्त-प्रतिपादन के समय सामान्यत: नाथ संप्रदाय, सिद्ध मार्ग, योग मार्ग, योग सम्प्रदाय, अवधूत मत, अवधूत संप्रदाय आदि नामों का प्रयोग मिलता है। सिद्धांतों के प्रतिपादन की दृष्टि से गोरक्षसिद्धांतसंग्रह नाथसिद्धों का प्रामाणिक ग्रंथ है। म० पं० गोपीनाथ कविराज तथा डॉ० कल्याणी मल्लिक के अनुसार इसमें प्रतिपादित सिद्धांत गोरक्ष तथा अन्य सिद्धों के अनुसार है।[1] नाथ संप्रदाय के लिए 'सिद्धमत' शब्द का प्रयोग 'गोरक्षसिद्धांतसंग्रह' में ही मिलता है। वहाँ अन्य मतों तथा प्रपंचनिरत संप्रदायों को छोड़कर सिद्धमत का आश्रयण करने के लिए कहा गया है।[2] संग्रहकार ने इसी प्रकार प्रतिपाद्य सिद्धान्त और संप्रदाय को बताने के लिए क्रमश: योगमार्ग, योगसंप्रदाय, अवधूतमत, अवधूतसंप्रदाय इत्यादि नामों का भी प्रयोग किया है।[3] इससे यह प्रतीत होता है कि संग्रहकार की दृष्टि में ये सभी नाम एक ही संप्रदाय के लिए व्यवहृत हुए हैं। साधारणतया वादी प्रतिवादी द्वारा निर्णीत विचार को ही सिद्धान्त कहा जाता है। किन्तु 'संग्रहकार' को यह अर्थ मान्य नहीं है। उसके अनुसार सिद्धान्त वे ही हैं जो सिद्धों द्वारा निर्णीत या व्याख्यात हों।[4] इस प्रकार का अर्थ देकर संग्रहकार ने सिद्धमत नामकरण की पुष्टि की है।

उपर्युक्त नामों पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि ये नामकरण कई दृष्टियों से किए गए हैं। नाथपंथ या नाथसंप्रदाय, अवधूतमत, योगमत, योगसंप्रदाय इत्यादि नामकरण सिद्धान्त, दर्शन और साधना आदि को ध्यान में रखकर किए गए हैं। कनफटा, दर्शनी, योगी मत, योगी संप्रदाय, गोरखनाथी आदि नाम दीक्षा, संप्रदाय, योगी जाति तथा संप्रदाय के प्रवर्तक की ओर संकेत करते हैं। साहित्य में वर्णित और प्रयुक्त नाम ही इस मत के प्राचीन नाम हैं। अतिरिक्त नाम सामाजिक, धार्मिक, सांप्रदायिक जीवन के अध्येताओं और खोजियों ने ढूँढ़ निकाले हैं। इनमें योगी, सिद्ध और नाथ शब्द ऐसे हैं जो अन्य जीवित वा मृत संप्रदायों वा मतों के लिए भी प्रयुक्त होते रहे हैं। गोरखनाथ द्वारा संगठित और प्रचारित संप्रदाय के लिए हिन्दी में नाथमत वा सम्प्रदाय शब्द ही अधिक प्रचलित है।

इस प्रकार इस परिच्छेद में प्रथमत: नाथ शब्द पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि 'नाथ' शब्द नाथों के परमतत्व का बोधक शब्द है। यद्यपि परमतत्व या ब्रह्म अथवा गुरु के लिए भी इस शब्द के प्रयोग मिलते हैं। यह 'नाथ' सृष्टिक्रम से सर्वथा अतीत है। कहा जा सकता है, इस नाम को अपने परमतत्व और परमोपास्य के रूप

1. *सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑव नाथ योगीज़,* डॉ० मल्लिक, इंट्रो०, पृ० 35, मूल, पृ० 1, श्लोक 3 : सा पिण्डोत्पत्यादि...।
2. *गो० सि० सं०,* पृ० 12— 'तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं...।'
3. *वही,* पृ० 5, 11-12, 58, 18, 56.
4. *वही,* पृ० 18, 'सिद्धान्त: सिद्धस्यैव तात्पर्यम्।'

में स्वीकार करने के कारण ही शैवों का एक विशेष संप्रदाय नाथ संप्रदाय के रूप में ख्यात हुआ। किन्तु प्राचीनता की दृष्टि से यह नाम स्वीकृत नहीं है। नाथपंथी साहित्य में सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योगसंप्रदाय, अवधूतमत, अवधूत सम्प्रदाय आदि जो नाम मिलते हैं वे इतने व्यापक हैं कि उनके अन्तर्गत साधकों के अन्य समूहों का अन्तर्भाव हो सकता है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह नामक ग्रंथ के आधार पर 'सिद्धमत' नाम संप्रदाय के लिए स्वीकार किया जा सकता है किन्तु प्राय: उपास्य, उपासक, प्रवर्तक और साधनापद्धति के अनुसार ही संप्रदायों के नाम देखने को मिलते हैं। दूसरे, ये नाम ऐसे भी हों जो अन्य संप्रदायों का भ्रम न उत्पन्न करें। सिद्धमत नाम स्वीकार करने पर दूसरे साधकसमूहों का इसमें अन्तर्भाव होता ही है, साथ ही नाथ नामक उपास्य की ओर भी, जिसकी घोषणा गोरक्षसिद्धांतसंग्रह ने बड़ी दृढ़ता से की है,कोई संकेत नहीं होता। इसलिए गोरक्षसंप्रदाय अथवा नाथमत अथवा नाथसंप्रदाय नाम ही आधुनिक निर्भ्रांत विवेचन और सुकरता की दृष्टि से अधिक उचित हैं।[1]

•

1. *पं० परशुराम चतुर्वेदी ने नाथ शब्द के वैदिक, बौद्ध, जैनादि सन्दर्भों पर विचार कर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे हमारी उपर्युक्त विचारणा और निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं आता (विस्तार के लिए द्रष्टव्य 'महंत दिग्विजयनाथ स्मृति ग्रंथ',* पृ० 281-282)।

दूसरा परिच्छेद

चौरासी सिद्ध और नवनाथ

सिद्धविवेचन और नाथविचार करते समय सर्वप्रथम 'चौरासी सिद्ध और नवनाथ' कथन पर ध्यान जाता है। सिद्धों की संख्या केवल 84 ही क्यों रखी गई? नवनाथों को 84 से अलग क्यों माना गया? नवनाथों की भी संख्या 9 ही क्यों रखी गई? ये प्रश्न स्वभावत: उठते हैं। जहाँ तक इन संख्याओं का प्रश्न है, इनके समाधान के लिए अनेक विद्वानों ने अनुमान का आश्रय लिया है। कुछ के मतानुसार 84 सिद्धों का संबंध 84 लाख योनियों से है। कामशास्त्र के 84 आसनों से भी इनका संबंध जोड़ा जाता है। किन्तु अधिकतर मान्य मत यह है कि यह संख्या 108 की तरह ही रहस्य संख्या (मिस्टिक नंबर) है। नवनाथों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के अनुमान किए जाते हैं।

इन सिद्धों की सूचियाँ संख्या, काल और देश के प्रभाव से सीमित और भिन्न रूप में देखी जाती हैं। इनकी अनेक सूचियाँ मिलती हैं। कुछ सूचियों में मान्यताप्राप्त सिद्धों के नाम रखे गए हैं। इनकी सर्वाधिक प्रचलित संख्या 84 है। सभी सूचियों में सभी सिद्धों के नाम समान रूप से नहीं मिलते। कुछ में तो कहने के लिए उनकी संख्या 84 कह दी गई है, किन्तु सिद्धों के नाम कम ही दिए गए हैं। उनके नाम के अन्त में 'पा' या 'पाद' या 'नाथ' उपाधि भी जोड़ दी गई है और कुछ सिद्धों के नाम उपाधिहीन ही रहने दिए गए हैं। कुछ नामों के अंत में 'भद्र' भी मिलता है। इनमें से 'पा' अंश प्राय: तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सिद्धों के नामांत में मिलता है और कुछ लोग इसे आदरार्थक संस्कृत 'पाद' का संक्षेप मानते हैं। नाथ उपाधि के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं; किन्तु इनके आधार पर संप्रदायनिर्णय कठिन है और भ्रांति भी उत्पन्न हो सकती है। इसीलिए इन्हें जनसाधारण द्वारा मान्य सिद्धों की सूची के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इनसे यह नहीं ज्ञात होता कि किस सिद्ध की साधना किस स्तर तथा संप्रदाय की थी।

यदि सांप्रदायिक दृष्टि से विचार किया जाय तो भारतीय साहित्य में इनके कई प्रकार अथवा भेद मिलते हैं, जैसे—नाथसिद्ध, बौद्धसिद्ध, रससिद्ध, शैवसिद्ध, महेश्वर-सिद्ध आदि। वास्तव में ये अनेक संप्रदायों की दृष्टि से विभाजित हैं; किन्तु जो सूचियाँ मिलती हैं उनमें अनेक प्रकार के सिद्धों के नाम 84 सिद्धों में ही गिन लिए गए हैं। किसी भी सूची को केवल बौद्धसिद्धों अथवा नाथसिद्धों की सूची कहना बहुत कठिन है। इन सूचियों में अनेक संप्रदायों के सिद्धों के परस्पर विमिश्रित होने के अनेक कारण बताए

जा सकते हैं। कभी एक सिद्ध एक प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद जब दूसरी सिद्धि प्राप्त करने के लिए दूसरे गुरु से दीक्षा लेता है तो उसके साथ ही उसका पूर्वनाम भी परिवर्तित कर दिया जाता है अथवा उस पूर्वनाम के अंत की उपाधि में परिवर्तन कर दिया जाता है। मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ, जलंधरनाथ के भिन्न उपाधिसंयुक्त नाम मत्स्यपा, गोरक्षपा, जालंधरपा अथवा हाडिपा आदि मिलते हैं। कभी दूसरे संप्रदाय में दीक्षित होने पर भी एक ही व्यक्ति का भिन्न नाम रख दिया जाता है। एक गुरु से दीक्षित होने पर बाद में लोग दीक्षित व्यक्ति को भी उसके गुरु के नाम से पुकारने लगते हैं। चरम सिद्धि प्राप्त हो जाने पर उपास्यदेव की उपाधि या नाम ही उस सिद्ध को दे दिया जाता है। इन सिद्धों में भी अवतारवाद का प्रचार था। एक सिद्ध के सिद्धांत और साधनाप्रणाली का प्रचार करनेवाला दूसरा सिद्ध भी उसी के नाम से पुकारा जाने लगता है। एक ही सिद्ध भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न साधनों एवं धर्मों का प्रचार करता दिखाई पड़ता है अथवा वह भिन्न-भिन्न सांप्रदायिक साधनक्रियाओं में निपुण रहता है जिससे वह विभिन्न संप्रदायों में मान्य होता है। विभिन्न संप्रदायों के साधनगत तत्वों एवं प्रणालियों के निकटतम साम्य के कारण विभिन्न संप्रदायों के सिद्ध भिन्न संप्रदायों एवं स्रोतों की सूचियों में मिल जाते हैं। बौद्ध आचार्य द्वारा प्रवर्तित किसी विशेष पद्धति का किसी शैव अथवा नाथसिद्ध द्वारा अनुग्रहण किए जाने पर वह बौद्ध आचार्य के ही नाम को प्राप्त करता था। कुछ लोग बौद्धसिद्ध विरूपा का परिवर्तन नाथसिद्ध विरूपाक्ष के रूप में इसी प्रकार मानते हैं। व्यापक एवं विलक्षण प्रभाववाले महासिद्धों को सभी संप्रदायों की मान्यता मिली और सूचियों में स्थान भी। जातियों के सामूहिक संप्रदायांतर से भी भिन्न-भिन्न संप्रदायानुयायी जाति के सिद्ध की धर्मांतर के संप्रदाय में गणना होने लगी। यह भी लोग मानते हैं कि सिद्धों की कोई एक सूची सर्वमान्य नहीं थी। उपसंप्रदायों के अनुसार उनकी सूचियाँ अलग-अलग हुआ करती थीं। किन्तु यह भी सत्य है कि अत्यधिक व्यापक प्रभाववाले सिद्धों को प्रायः सभी सूचियों में स्थान मिल गया। इन सारी बातों पर विचार करने पर कोई एक सूची सर्वथा प्रामाणिक एवं सर्वमान्य प्रतीत नहीं होती। सिद्धों के संप्रदायांतर से सम्बन्धित अनेक चमत्कारिक एवं प्रायः अविश्वसनीय कहानियाँ भी सुनने पढ़ने को मिलती हैं। सिद्धिप्राप्ति तथा अतिमानवीय विशेषताओं के कारण एक सिद्ध की आयु 300-400 वर्षों तक की स्वीकार कर ली जाती है। इससे इन सिद्धों के कालनिर्णय में भी कठिनाई आती है। अतः सूचियों का ऐतिहासिक दृष्टि से विचार भी बहुत बार भ्रमात्मक हो जाता है।

भारतीय साहित्य में सिद्धों के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ एकत्रित की जा सकती हैं। ऊपर सिद्धों के कुछ भेदों की ओर संकेत किया गया है। रसेश्वर सिद्धों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनमें से कुछ अंतर्वेद के निवासी थे। ये रसायन द्वारा सिद्धि के आकांक्षी थे। इन रसेश्वर सिद्धों का मूल दर्शन

'रसेश्वरदर्शन' प्रतीत होता है। सर्वदर्शनसंग्रह के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि रसेश्वरवादी जीवन्मुक्ति और अजरामरत्व से साधक थे। रससाधना से ही इनकी पृथक्ता सिद्ध होती है। जीवात्मा से परमात्मा का ऐकरूप्य माननेवाले रसेश्वरवादियों के अनुसार रस (अर्थात् पारद) के प्रयोग से जीवन्मुक्ति की सिद्धि होती है। इस जीवन्मुक्ति में मूलतत्व पिंडस्थैर्य है जिसकी प्राप्ति रसप्रयोग से होती है। यह पारद रस सांसारिक कष्टों से मुक्ति देनेवाला है तथा साथ ही मोक्षद भी है। रस और रसायन के प्रयोग से पिंडरक्षा को रसेश्वरवादी अत्यावश्यक मानते हैं। षड्दर्शनों में पिंडपात के उपरांत मुक्ति निर्दिष्ट है किंतु रसेश्वरवादियों के लिए मुक्ति हस्तामलकवत् है। निर्देश दिया गया है कि इसके लिए **रसरसायनोपयोगलभ्य** पिंडरक्षा अवश्य की जानी चाहिए।[1] सर्वदर्शनसंग्रहकार ने इस प्रकार की मुक्ति प्राप्त करनेवालों के प्रमाण दिए हैं। इस प्रयोग से दिव्य देह की प्राप्ति करने वालों की एक महत्वपूर्ण सूची इस प्रसंग में उपलब्ध होती है। देवताओं, दैत्यों, मुनियों ने ही नहीं, मानवों ने भी इस प्रकार से दिव्य देह की प्राप्ति की। देवताओं में महेश ने, दैत्यों में शुक्राचार्य ने, मुनियों में बालखिल्यादि ने तथा राजाओं में सोमेश्वरादि ने इस प्रकार की रससिद्ध काया की प्राप्ति की। अन्य मनुष्यों में इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त करनेवालों में गण्यमान्य हैं—गोविंदभगवत्पादाचार्य, गोविंदनायक, चर्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कंदलायन आदि। ये सभी जीवन्मुक्त होकर विचरण करते हैं।[2]

इस सूची एवं विवेचन का कई दृष्टियों से महत्व है। आगे के विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि नाथ संप्रदाय एवं गोरक्षमत में पिंडस्थैर्य के लिए लगभग समान प्रकार के तर्क दिए गए हैं, जैसे रसेश्वरदर्शन में। दूसरे, रसेश्वरवादियों अथवा रससिद्ध जीवन्मुक्तों में से कुछ नाथ संप्रदाय के प्रसिद्ध सिद्धों में अंतर्गणित हैं। इससे यह पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है कि विभिन्न संप्रदायों के सिद्ध भी किस प्रकार इन संप्रदायों में अंतर्भूत कर लिए

---

1. सर्वदर्शनसंग्रह, रसेश्वरदर्शन प्रकरण : 'अपरे माहेश्वराः परमेश्वरतादात्म्यवादिनोऽपि, पिंडस्थैर्ये सर्वाभिमता जीवन्मुक्तिः सेत्स्यतीत्यास्थाय पिंडस्थैर्योपायं पारदादिपदवेदनीयं रसमेव संगिरन्ते। .... 'रसस्य पारदत्वं संसारपरप्रायणहेतुत्वेन। तदुक्तम्—संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः।' 'षड्दर्शनेऽपि मुक्तिस्तु दर्शिता पिंडपातने। करामलकवत्सापि प्रत्यक्षा नोपलभ्यते। तस्मात्तं रक्षयेत्पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः।
2. *सर्वदर्शनसंग्रह,* पृ० 81: 'अत्यल्पमिदमुच्यते, देवदैत्यमुनिमानवादिषु बहवो रससामर्थ्याद्दिव्यं देहमाश्रित्य जीवन्मुक्तिमाश्रिताः श्रूयन्ते रसेश्वरसिद्धान्ते—'

   देवाः केचिन्महेशाद्या दैत्याः काव्यपुरःसराः।
   मुनयो बालखिल्याद्या नृपाः सोमेश्वरादयः ॥
   गोविन्दभगवत्पादाचार्यो गोविन्दनायकः ।
   चर्वटिः कपिलो व्यालिः कापालिः कन्दलायनः ॥
   एतेऽन्ये बहवः सिद्धा जीवन्मुक्ताश्चरन्ति हि।
   तनुँ रसमयीमाप्य तदात्मककथाचणाः ॥

गए। ध्यान देने योग्य है कि इसमें मत्स्येंद्र और गोरक्ष जैसे सिद्धों का उल्लेख तक नहीं है जबकि चर्वटि जैसे सिद्धों के नाम दिए हैं, यद्यपि यह विवादास्पद है कि ये चर्वटि नाथ संप्रदाय के प्रसिद्ध सिद्ध चर्वटि या चर्पटीनाथ ही हैं। गोरक्षनाथ का नाम न आने से यह भी संकेतित होता है कि गोरक्षनाथ रस-रसायन-प्रयोग से पिंडस्थैर्य के समर्थक नहीं थे। इसका विचार आगे किया गया है। इस सूची में अनेक पौराणिक नाम दिखाई पड़ते हैं और उनमें से अनेक के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री भी अलभ्य है।

इन सिद्धों के सम्बन्ध में अथवा उनकी संख्या के सम्बन्ध में अनेक परंपराएँ मिलती हैं। कुछ के अनुसार सिद्धों की संख्या नवकोटि थी। कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि ये नवकोटि सिद्ध वस्तुतः उस प्रसिद्ध चीनी ताओधर्मी भोग द्वारा प्रभावित थे जो अपने देश से ईसा के पूर्व की किसी शताब्दी में यहाँ यात्री होकर आया था। उस भोग ने दक्षिण भारत के शैवागम एवं शाक्तागमवालों को शुद्ध मार्ग की शिक्षा दी जिस कारण वहाँ के आगमी सिद्धों पर कुछ न कुछ ताओ धर्म का भी प्रभाव पड़ गया। इस शुद्ध मार्ग के अनुयायी सिद्धों में सर्वप्रसिद्ध अष्टादश सिद्ध समझे जाते हैं और उनमें शैव भक्त मणिवाचक, वागीश, ज्ञानसम्बन्ध एवं सुन्दर की भी गणना की जाती है। ये शुद्धमार्गी लोग ज्ञानसिद्धों के नाम से भी अभिहित किए जाते हैं और कहा जाता है कि ये अमर हैं। शुद्धमार्गी सिद्धों के अनुसार पूर्ण सिद्ध वही कहला सकता है जो अपने शरीर को कायासाधनों द्वारा पूर्णतः वश में किए रहता है और जो इस प्रकार अदृश्य रूप में सदा बना रहता है।[1] इस प्रकार इस विवेचन से शैवादि सिद्धों के अतिरिक्त ज्ञानसिद्धों की एक कोटि का भी पता लगता है। पतंजलि ने अपने योगशास्त्र में अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया है। यदि उनके अन्य विवरणों के आधार पर सिद्धों के प्रकार निश्चित किये जाएँ तो वे इस प्रकार हो सकते हैं—जन्म-सिद्ध (जन्मांतर के संस्कारों से विभूतियों को प्राप्त करने वाले सिद्ध), ओषधिसिद्ध (रसायन अथवा रससिद्ध अथवा रसेश्वरसिद्ध ?), मंत्रसिद्ध, तपःसिद्ध, समाधिसिद्ध आदि।[2]

तांत्रिक परम्परा से नाथों की जो सूचियाँ मिलती हैं, वे परस्पर भिन्न हैं। तांत्रिकों में गौड़, कश्मीर और केरल के प्रदेशभेद से कादि, हादी और सादि नाम के तीन मत प्रचलित हैं। इनकी उपास्य देवियाँ क्रमशः काली, तारा और सुंदरी हैं। श्री सुमेरु मठ की 'कुल-कल्याणी पद्धति' (हस्तलिखित पोथी, पृष्ठ 8) में नवनाथों की जो सूची मिलती है, उसमें सभी नवनाथों के नामांत में 'आनंदनाथ' उपाधि जुड़ी हुई है। तीनों मतों के भिन्न-भिन्न नवनाथ हैं—

1. *द कल्चरल हेरिटेज ऑव इंडिया, वा 2, द डाक्ट्रिनल कल्चर ऐंड ट्रैडिशन ऑव द सिद्धाज़,* ज्योतिभूषण वी० वी० रमण शास्त्री, पृ० 313-317; *ऑल इंडिया ओरिएंटल कानफ़रेंस, 1950 में पठित पं० परशुराम चतुर्वेदी का चौरासी सिद्ध कौन थे* लेख, पृथक्तः मुद्रितः, पृ० 3-4.
2. *पातंजल योगदर्शन,* गीताप्रेस संस्करण, 4. 1 : जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

कादि—प्रह्लाद, कुमार, क्रोध, ध्यान, सनक, वशिष्ठ, सुखबोध आदि।

हादि—उद्ध्र्वकेश, नीलकंठ, वशिष्ठ, मीन, हरिहर, व्योमकेश, वृषध्वज, कूर्म और महेश।

सादि—प्रकाश, आनंद, सत्य, स्वभाव, सुभग, विमर्ष, ज्ञान, पूर्ण, महेश्वर।

परशुरामकल्पसूत्र (पृ० 374) में दिव्यौघ, सिद्धौघ एवं मानवौघ सिद्धों के नाम मिलते हैं। दिव्यौघ तो सर्वथा दैवी हैं। सिद्धौघ में निम्नलिखित की गणना की गई है—सनक, सनन्द, सनातन, सनत्कुमार, सनत्सुजात, ऋतु, दत्तात्रेय, रैवतक, वामदेव, व्यास और शुक्र। मानवौघ सिद्धों में नृसिंह, महेश, भास्कर, महेन्द्र, माधव, विष्णु आदि की गणना मिलती है। स्पष्ट है, अभी तक जितनी सामग्री सिद्धों और नाथों के विषय में प्राप्त है, उसके आधार पर ये सभी नवनाथ पौराणिक, प्रतीकात्मक अथवा काल्पनिक हो सकते हैं। राजगुरु योगिवंशकार ने भी एक सूची उधृत की है जिसमें मत्स्येंद्र, गोरक्ष, जालंधर, कानपा, भर्तृहरि, रेवण, नागनाथ, चर्पट और गहिनी के नाम संमिलित हैं। यह सूची तांत्रिक नहीं है और अपेक्षाकृत अधिक ऐतिहासिक है।

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने नवनाथों की कल्पना पर विचार करते हुए नवनाथों की लगभग 30 सूचियों का उल्लेख किया है।[1] इनमें से कदली-मंजुनाथ-माहात्म्य, नवनाथचरित्रम्, गोरख उपनिषद्, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, नवनाथकथा, शिवदिनमठ की परंपरागत सूची, सुधाकरचंद्रिका, हठयोगप्रदीपिका, योगिसंप्रदायाविष्कृति, नवनाथचरित्र (मराठी), नवनाथकथामृत, भक्तिमंजरीमाला, वारकरी आदि की सूचियों एवं परम्पराओं की विशेष उपयोगिता है। इनके अलावा उन्होंने शाबरतंत्र, तंत्रमहार्णव, ताराहस्य, श्यामारहस्य, कौलावलीतंत्र, कल्पद्रुमतंत्र, नेपाल कैटेलाग आदि की सूचियों का भी विचार इस प्रसंग में किया है। सभी सूचियों पर विचार कर एवं शिवपरक तथा देवपरक नामों को निकाल देने के उपरांत उन्होंने जिन नवनाथों के नामों का संग्रह किया है, वे इस प्रकार हैं— (1) मीनपा अथवा मत्स्येंद्रनाथ, (2) गोरखनाथ, (3) जालंधरनाथ, (4) चौरंगीनाथ, (5) कानिप वा कणेरीनाथ, (6) चर्पटीनाथ, (7) भर्तृहरिनाथ, (8) कंथड़िनाथ और (9) गहनीनाथ।[2] उनका अनुमान है कि 'नवनाथ' शब्द 'चौरासी सिद्ध' शब्द से प्राचीन नहीं है, लगभग 15वीं ईसवी शती के बाद का है। इसी प्रकार 'चौरासी सिद्ध' शब्द को वे 1350 ई० के पूर्व का मानते हैं।[3] गोरखबानी तथा अन्य रचनाओं के आधार पर उनका यह अनुमान है कि 'नौ नाथ' अथवा 'नवनाथ' जैसे शब्द एकसाथ बहुत पहले से प्रचलित होते चले आए हैं। उनका निष्कर्ष है कि आज तक प्राप्त नवनाथों की सूचियों की सहायता से हम नाथयोगी संप्रदाय के उदय एवं विकास का इतिहास जान

1. *विश्वभारती पत्रिका,* आषाढ़-भाद्र, 2025, जुलाई-सितम्बर, 1968, खंड 9, अंक 2, पृ० 108।
2. *वही,* पृ० 119 .
3. *वही,* पृ० 121-122 .

पाने में उतने सफल नहीं हो सकते।[1] इससे स्पष्ट होता है कि नौ नाथों की सूचियों की भिन्नता, विविधता और काल्पनिकता अथवा पौराणिकता किसी इतिहासपुष्ट निष्कर्ष तक पहुँचने में बाधक है किन्तु इतना निश्चित है, जैसा ऊपर दी गई पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा विचारित सूचियों के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि नौ नाथों की दो प्रकार की सूचियाँ मिलती हैं—1. तांत्रिक नौ नाथों की सूचियाँ, 2. नाथपंथी नौ नाथों की सूचियाँ। यदि ऐतिहासिक क्रम एवं अद्यतन उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर विचार किया जाय तो नाथों का ऐतिहासिक क्रम मत्स्येंद्रनाथ से आरम्भ होता है जिनकी विद्यमानता लगभग नवीं शती मानी जा सकती है। तान्त्रिक ग्रन्थों की पाश्चात्यों द्वारा स्वीकृत प्राचीनतम तिथियाँ लगभग पाँचवीं-छठी शती की ओर संकेत करती हैं जबकि अन्य स्रोतों से इनकी प्राचीनता अननुमेय है। इस दृष्टि से विचार करने पर ''नौ नाथ'' तांत्रिक नौ नाथों की ओर ही संकेत करता प्रतीत होता है। उसी प्रमाण और अनुगमन पर नाथपंथी नौ नाथों की कल्पना सम्भवत: 13वीं से 15वीं ई० शती के आसापस हुई होगी, इस अनुमान तक भी पहुँचा जा सकता है।

डॉ० रांगेय राघव (गो० यु०, पृ० 3-9) ने तांत्रिक सिद्धों एवं नाथों की अनेक अव्यवस्थित एवं परस्पर भिन्न सूचियाँ उधृत की हैं। परशुरामकल्पसूत्र का उल्लेख न कर उन्होंने अन्य ग्रन्थों से दिव्यौघ, सिद्धौघ एवं मानवीय गुरुओं की परम्पराओं का उल्लेख किया है जिनमें कुछ नाथसिद्धों के भी नाम आ जाते हैं। नाथ संप्रदाय की दृष्टि से ये सूचियाँ बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं। किन्तु यह अवश्य प्रतीत होता है कि तांत्रिक नवनाथों की सूचियाँ छठी शताब्दी के आसपास की हैं, जबसे तांत्रिक साहित्य की ऐतिहासिकता कुछ लोग स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार नाथों की जो सूचियाँ उपलब्ध हैं उनकी अनेकरूपता से उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है। यह भी स्पष्ट होता है कि उनमें से अनेक पौराणिक, अर्ध ऐतिहासिक और ऐतिहासिक हैं। लगभग इसी प्रकार की बात 84 सिद्धों की सूची के विषय में तब तक कही जा सकती है जब तक और प्रामाणिक सामग्री न मिल जाय। विद्वानों ने 84 सिद्धों की जो सूचियाँ प्रकाशित की हैं, उन सबके स्रोत भिन्न-भिन्न हैं। इन सूचियों में ऐसे सिद्धों की संख्या बहुत कम है, जो सभी में समान रूप से आते हों। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सिद्धों की सूची का विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

(1) **हठयोगप्रदीपिका**—1. आदिनाथ, 2. मत्स्येंद्रनाथ, 3. शाबरानंद, 4. भैरव, 5. चौरंगी, 6. मीन, 7. गोरक्ष, 8. विरूपाक्ष, 9. विलेशय, 10. मंथान भैरव, 11. सिद्धिबुद्ध, 12. कंथडि, 13. कोरंटक, 14. सुरानंद, 15. सिद्धिपाद, 16. चर्पटि, 17. कानेरी, 18. पूज्यपाद, 19. नित्यनाथ, 20. निरंजन, 21. कपाली, 22. बिंदुनाथ, 23. काकचंडीश्वर,

1. *विश्वभारती पत्रिका, आषाढ़-भाद्र 2005, जुलाई-सितम्बर, 1968, खंड 9, अंक 2, पृ० 122-123.*

24. आलाम, 25. प्रभुदेव, 26. घोडाचोली, 27. टिंटिणी, 28. भानुकी, 29. नारदेव, 30. खंड कापालिक।[1]

डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हठयोगप्रदीपिका से ही कुछ भिन्न और अतिरिक्त नाम भी दिए हैं—सारदानंद, सिद्धबोध, कन्हड़ीनाथ, मयनाथ, अक्षयनाथ, मल्लरीनाथ, नागबोध।[2] हठयोगप्रदीपिका का समय अब 14वीं शताब्दी निश्चित हो चुका है। इन सिद्धों को इस ग्रंथ में महासिद्ध कहा गया है। इन सिद्धों में मीननाथ को उस मीननाथ से अभिन्न कहा जा सकता है जिनकी रचना चर्यापद संख्या 21 की टीका में उद्धृत की गई है। शाबरानंद शबरिपाद हो सकते हैं जो बौ॰ गा॰ दो॰ में चर्यापद संख्या 28 और 50 के रचयिता हैं। कानेरी काण्हपाद से अभिन्न हो सकते हैं जिन्हें द्विवेदीजी ने कन्हडीनाथ कहा है। बौ॰ गा॰ दो॰ में इनके भी 12 (? 13) चर्यापद मिलते हैं। टिंटिणि बौ॰ गा॰ दो॰ के टेंटणपाद हो सकते हैं जिन्होंने 33वें चर्यापद की रचना की है। इन श्लोकों का भिन्न प्रकार से अन्वय कर कुछ लोग सिद्धों के भिन्न नाम भी देते हैं।

(2) **वर्णरत्नाकर**—1. सीलनाथ (मीननाथ?), 2. गोरक्षणाथ, 3. चौरंगानाथ, 4. चामारीणाथ, 5. तंतिपा, 6. हलिपा, 7. केदारिपा, 8. ढोंगपा, 9. दारिपा, 10. विरूपा, 11. कपाली, 12. कमारी, 13. कान्ह, 14. कनखल, 15. मेषल, 16. उन्मन, 17. कांतलि, 18. धोबी, 19. जालंधर, 20. डोंगी, 21. मवह, (सरह?), 22. नागार्जुन, 23. दौली, 24. भिषणि, 25. अचिति, 26. चंपक, 27. मेदिनि, 28. चेंटस, 29. भूसुरी, 30. धाकलि, 31. कूजी, 32. चर्पटि, 33. भादे, 34. चांदन, 35. कामरि, 36. करवत, 37. धर्मपापतंग, 38. भद्र, 39. पातलिभद्र, 40. पालिहिह, 41. भांड, 42. मीनो, 43. निर्दय, 44. सबर, 45. सांति, 46. भर्तृहरि, 47. भीसन, 48. भटी, 49. गगणपा, 50. गमार, 51. मेंडरा, 52. कुमारी, 53. जीवन, 54. अधोसाधर, 55. गिरिवर, 56. सोयारी, 57. नागवालि, 58. धिभरह, 59. सारंग, 60. विविकिधज, 61. मंगरधज, 62. अचित,

1. *हठयोगप्रदीपिका, प्रथमोपदेश, श्लोक* 5-9, पृ॰ 9-10 :

श्री आदिनाथमत्स्येंद्रशाबरानंदभैरवा।
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षविलेशयाः ॥ 5 ॥
मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ।
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥ 6 ॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ।
कपाली विंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥ 7 ॥
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिंटिणिः।
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ 8 ॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्माण्डे विचरंति ते ॥ 9 ॥

2. *नाथ संप्रदाय,* पृ॰ 24.

63. विचित, 64. नेवक, 65. चाटल, 66. नायन, 67. भीलो, 68. पाहिल, 69. पासल, 70. कमल, 71. कंगारी, 72. चिपिल, 73. गोविंद, 74. भीम, 75. भैरव, 76. भद्रममरी, 77. भूरुकुटि उचरासी सिद्ध।[1]

वर्णरत्नाकर की इस सूची को डॉ० द्विवेदी ने नाथसिद्धों की सूची माना है। कुछ लोगों ने महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के प्रमाण पर इसे नाथसिद्धों की सूची माना है। बौ० गा० दो० के द्वितीय मुद्रण के 'पदकर्तादेर परिचय' में दिए गए जिस कथन के आधार पर ऐसा मान लिया गया है कि वर्णरत्नाकर में उधृत सूची नाथसिद्धों की सूची है, उसका सीधा-सादा अर्थ है—"नाथों को सिद्ध भी कहते हैं, वर्णरत्नाकर में उनकी एक तालिका दी गई।"[2] तालिका के आरम्भ के चार सिद्धों को 'नाथ' उपाधि दी गई है और उसके बाद के 6 सिद्धों के नामांत में 'पा' या 'पाद' उपाधि जुड़ी है। इस सूची में कुछ 'भद्र' लोग भी हैं। अधिकांश सिद्धों के नाम के अंत में कुछ भी नहीं है। अत: आदरार्थक या सांप्रदायिक औपाधिक शब्दों के आधार पर भी कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि इस सूची को केवल नाथसिद्धों की सूची कहने के लिए कोई पुष्टि प्रमाण नहीं है। वर्णरत्नाकर के मुद्रित संस्करण में भी सिद्धों की तालिका के आरंभ में तथा अंत में 'चौरासी सिद्ध वर्णना' तथा 'चौरासी सिद्धा' ही दिया हुआ है न कि 'चौरासी नाथ सिद्ध वर्णना' अथवा 'चौरासी नाथसिद्धा'। शास्त्री महोदय ने जो तालिका दी है उसमें भी आरंभ में 'चौरासी सिद्ध वर्णना' दिया हुआ है। हठयोगप्रदीपिका की तुलना में यह सूची अधिक प्रामाणिक है। म० हरप्रसाद शास्त्री ने इस ग्रन्थ के लेखक को हरिसिंह देव (1300-1231 ई०) का समकालीन माना है।

प्रथम तालिका की दृष्टि से वर्णरत्नाकर की इस सूची में मत्स्येंद्रनाथ का नाम नहीं है और उसके स्थान पर मीननाथ (?) तथा मीना नाम के दो सिद्धों का नाम अलग-अलग (सं० 1, 42) दिया हुआ है। उसमें आदिनाथ का भी नाम नहीं है। हठयोगप्रदीपिका के गोरक्ष, कपाली, कानेरी, टिंटिणी, चर्पटि, मीन और शाबरानंद वर्णरत्नाकर के क्रमशः गोरक्षणाथ, कपाली, कान्हकन, टेंटस, चर्पटि, मीनो और सबर से

1. *वर्णरत्नाकर, सं० सुनीतिकुमार चटर्जी, सप्तम कल्लोल,* पृ० 57-58, चौरासी सिद्ध वर्णना।
2. *बौ० गा० दो०, पदकर्तादेर परिचय,* पृ० 35 . 'नाथ दिगके सिद्धओ वलित, वर्णरत्नाकरे ताहाँदेर एकटि तालिका देवा आछे'।

डॉ० चटर्जी ने भी शास्त्री महोदय के कथन का जो अर्थ लगाया है, वह उन्हीं के शब्दों में "इन हिज इंट्रोडक्शन टु द कलेक्शंस ऑव बुद्धिस्टिक वर्स इन ओल्ड बेंगाली ऐंड वेस्टर्न अपभ्रंश, द 'हजार बछरेर पुराण बाँगलाय बौद्ध गान ओ दोहा', पब्लिश्ड बाइ द बंगीय साहित्य परिषद्, पंडित शास्त्री रेफर्ड टु द लिस्ट ऑव सिद्धज आर महायान सेंट्स ऑव लेटर बुद्धिस्टिक टाइम्स ऐज गिवेन इन द व० 80।" इससे स्पष्ट है कि वर्णरत्नाकर की सूची पूर्णतया नाथसिद्धों की सूची तो नहीं ही है, चाहे अन्य कुछ हो। वर्णरत्नाकर, चटर्जी, इंट्रो०, पृ० 11.

तुलित किए जा सकते हैं। बौ० गा० दो० के चर्यागीतिकारों में कंबलांबर, कान्हुपाद, चाटिलपाद, टेंटणपाद, दारिकपाद, भुसुकुपाद, विरुआपाद, शवरपाद, शांतिपाद और सरहपाद वर्णरत्नाकर के क्रमशः कामरि, कान्हकन, चटिल, टेंटस, दारिपा, भूसुरि, विरुपा, सबर, सांति और मवह (सरह ?) से अभिन्न मालूम पड़ते हैं।

3. **सस्क्य विहार की सूची**—राहुलजी ने इस सूची को तिब्बत के सरस्क्य विहार के पाँच गुरुओं (1091-1279 ई०) की ग्रंथावली "सस्क ब्कं बुम्" के सहारे तैयार किया है। तांत्रिक बौद्ध स्रोत से प्राप्त होने के कारण कुछ लोग इसे बौद्धसिद्धों की सूची कहेंगे। सूची की विशेषता यह है कि इसमें प्रायः प्रत्येक सिद्ध के नाम के साथ उसकी जाति, देश तथा समकालीन राजा या सिद्ध का विवरण मिलता है।

1.लुइपा, 2.लीलापा, 3.विरुपा, 4. डोंबिपा, 5. शबरपा, 6. सरहपा, 7. कंकालिपा (या कोंपलिका,ककलिपा,कंकरिपा), 8.मीनपा, 9.गोरक्षपा, 10.चोरंगिपा, 11. वीणापा, 12. शांतिपा, (या रत्नाकर शांति), 13. तंतिपा, 14. चमरिपा, 15. खड्गपा, 16. नागार्जुन, 17. कण्हपा (या चर्यपा), 18. कर्णरिपा (आर्यदेव), 19. थगनपा, 20. नारोपा, 21. शालिपा (शीलपा या शृगालीपाद), 22. तिलोपा, 23. क्षत्रपा, 24. भद्रपा, 25. दोखंधिपा (या द्विखंडिपा), 26. अजोगिनपा, 27. कालपा, 28. धोंभिपा, 29. कंकणपा, 30. कमरिपा, (कंबलपा), 31. डेंगिपा, 32. भदेपा, 33. तंधेपा (या तंतेपा), 34. कुकुरिपा, 35. कुचिपा (या कुसूलिपा), 36. धर्मपा, 37. महिपा (या महिलपा), 38-अचिंतिपा, 39-भलहपा, (या भवपा), 40-नलिनपा, 41-भुसुकुपा, 42. इंद्रभूति, 43. मेकोपा, 44. कुठालिपा, 45. कर्मरिपा (कंपरिपा), 46. जालंधरपा, 47. राहुलपा, 48. घर्बरिपा (या धर्भरिपा), 49. धोकरिपा, 50. मेदनीपा (या हालीपा?), 51. पंकजपा, 52. (वज्र) घंटापा, 53. जोगीपा (या अजोगिपा), 54. चेलुकपा, 55. गुंडरिपा (गोरुर) पा, 56. लुचिकपा, 57. निर्गुणपा, 58. जयानंत, 59. चर्पटीपा, (या पचरिपा), 60. चंपकपा, 61. भिखनपा, 62. भलिपा, 63. कुमरिपा, 64. चवरिपा (या जवरि=अजपालीपा), 65. मणिभद्रा (योगिनी), 66. मेखलपा (योगिनी), 67. कनखलापा (योगिनी), 68. कलकलपा, 69. कंतालीपा (या कंथालिपा), 70. धहुलिपा (या धहुरिपा), 71. उधलिपा (या उधरिपा), 72. कपालपा (या कमलपा), 73. किलपा, 74. सागरपा, 75. सर्वभक्षपा, 76. नागबोधिपा, 77. दारिकपा, 78. पुतुलिपा, 79. पनहपा (या उपानहपा), 80. कोकालिपा, 81. अनंगपा, 82. लक्ष्मीकरा (योगिनी), 83. समुदपा, 84. भलिपा (या व्यालिपा)।[1]

यह तीसरी सूची है। उपर्युक्त दोनों सूचियों में लुईपा का नाम नहीं आया है। किन्तु उन दोनों सूचियों में मत्स्येंद्रनाथ और मीनपा का नाम अवश्य है। इस सूची में लुई

---

1. *पुरातत्व निबंधावली,* पृ० 146, 148-154.

और मीनपा, दोनों का नाम आता है। वर्णरत्नाकर के मवह (सरह?) का नाम भी इस सूची में मिलता है। इस सूची में नाथ उपाधिधारी कोई भी सिद्ध नहीं है। द्वितीय सूची के मीननाथ, गोरक्षनाथ, चौरंगीनाथ, तंत्रिपा, टोंगपा, दारिपा, विरुपा, कपाली, कान्ह, कनखल, मेषल, कांतलि, धोबी, जालंधर, डेंगी, सरह, नागार्जुन, दौली, अचिति, चंपक, मेदिनि, कूंजी, चर्पटि, भादे, कामरि, धर्मपा, मीना, सबर, सांति, गमार, कुमारी, सियारी, नागबेलि, भीलो, कमल और भद्रनाथ के 37 सिद्धों का न्यूनाधिक परिवर्तित नाम तीसरी सूची में मिलता है। हठयोगप्रदीपिका में हठयोगी सिद्धों की जो सूची दी गई है, उसमें से केवल शाबरानंद, मीन, गोरक्ष, विरूपाक्ष, कंथलि, चौरंगी, चर्पटि, कानेरी और कपाली नाम के 9 सिद्धों के नाम न्यूनाधिक रूपांतर के साथ मिलते हैं।

प्रथम और द्वितीय सूचियाँ भारतीय स्रोतों से प्राप्त हुई हैं और तीसरी सूची तिब्बती स्रोत से। द्वितीय और तृतीय सूचियों में अधिक समानता है। नौ हठयोगी सिद्धों का नाम भी आ जाने से यह स्पष्ट होता है कि तिब्बती बौद्धों ने हठयोगियों की भी गणना अपने सिद्धों में की थी। यह भी द्रष्टव्य है कि सरह और लुई जैसे प्रसिद्ध बौद्धसिद्धों को हठयोगप्रदीपिका में स्थान नहीं दिया गया है। अनुमान किया जा सकता है कि हठयोगप्रदीपिका में सर्वप्रथम नाथ संप्रदाय के हठयोगी सिद्धों की सूची दी गई है। गोरक्षनाथ आदि हठयोग के प्रतिष्ठाता थे, इसमें कोई संदेह नहीं। अत: 'प्रदीपिका' की सूची को नाथ संप्रदाय के हठयोगी सिद्धों की सूची के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। बौ० गा० दो० में जिन सिद्धों की रचनाएँ संगृहीत हैं उन्हें बौद्ध-सिद्ध मानना चाहिए और उसका कारण है कि इसमें जितने चर्यापद संगृहीत हैं, सभी बौद्ध परम्परा की शब्दावली, साधना और दर्शन के अंतर्गत ही हैं। महामहोपाध्याय शास्त्री महोदय मत्स्येंद्र को बौद्धसिद्धों के अतर्गत नहीं मानते। उन्होंने इन रचनाओं को भी बौद्ध सहजिया संप्रदाय की रचना कहा है। इसलिए अनुमान यह किया जा सकता है कि तीसरी सूची जो श्री राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बती बौद्ध मठ से प्राप्त की है, अंशत: बौद्ध सूची है और उसका कारण यह है कि इसमें 22 चर्यापदकर्त्ताओं में से 19 का विवरण मिल जाता है। संभवत: जिन 3 चर्यापदकर्त्ताओं का नाम नहीं मिलता वे सूची के निर्मित होने के बाद के होंगे, जिनके नाम हैं—चाटिल्लपाद, टेंटणपाद और ताड़कपाद। राहुलजी की ही सूची एकमात्र ऐसी सूची है जिसमें सिद्धों के 84 नाम दिए गए हैं, किन्तु इसमें भी कई नामों की आवृत्ति दिखाई पड़ती है, यथा—भलि (62, 84), तंते (13, 33), कमरि (30, 45, 63), भदेपा (24, 32)। यद्यपि इस सूची में अधिकांश सिद्धों के भिन्न-भिन्न गुरु, स्थान और समय का विवरण मिल जाता है फिर भी अनेक सिद्धों की जाति, देश, काल का पता नहीं लगता। इन सबके होते हुए भी इस सूची की उपादेयता स्वत:सिद्ध है।

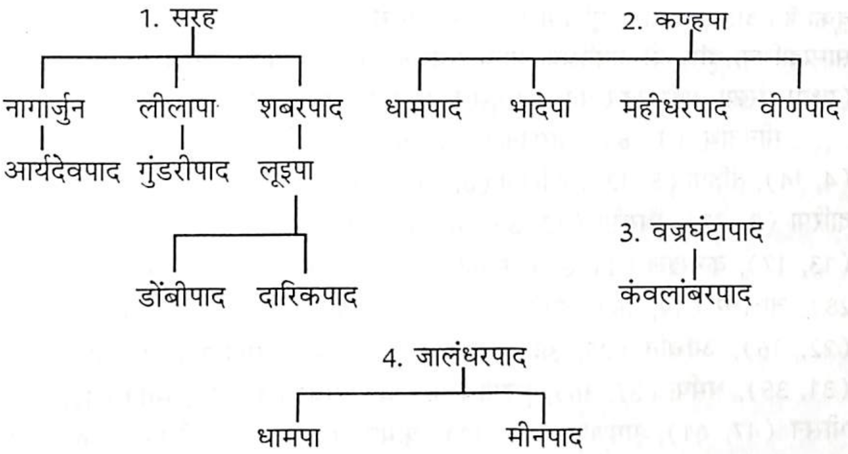

इस 'परम्परा' की रूपरेखा से यह स्पष्ट होता है कि सरहपाद, कण्हपा, वज्रघंटापाद और जालंधरपाद नाम के 4 सिद्ध ऐसे थे, जिन्होंने किसी से दीक्षा नहीं ली थी। कण्हपा अथवा कृष्णपाद अथवा चर्यपा (सिद्ध सं० 17) के विवरण में (पु० नि०, पृ० 149) राहुलजी ने उनके गुरु का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु जालंधरपा (सिद्ध सं० 46, वहीं पृ० 151) के विवरण में उन्होंने कृष्ण और मत्स्येंद्र के गुरु के रूप में जालंधरपा का स्मरण किया है। शेष तीन सिद्धों के गुरु का या तो पता नहीं है अथवा उन लोगों ने किसी से दीक्षा नहीं ली थी और प्राचीन तांत्रिक परंपरा के तत्वों को ग्रहण कर स्वयंविकसित साधना की पद्धति का प्रचार अपनी शिष्यपरंपरा के माध्यम से किया था। तीसरी बात धामपा के सम्बन्ध में। धामपा और धर्मपाद यदि एक ही व्यक्ति थे तो वे जालंधरपाद और कृष्णपाद (गुरु और शिष्य) दोनों के शिष्य थे। ये दोनों सिद्ध नाथसिद्धों में भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसका विवरण आगे प्रस्तुत किया गया है।

इन सूचियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि मीननाथ, गोरखनाथ कपाली, कान्ह, चर्पटि और सबर नाम के सिद्ध तीनों सूचियों में प्राप्त होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हठयोग के जो सिद्ध परवर्ती काल में बहुत अधिक मान्यता को प्राप्त कर चुके थे, उन्हें 13वीं-14वीं शताब्दी तक बौद्ध मान्यता के साथ ही जन सामान्य की भी मान्यता मिल गई। जहाँ तक इन सूचियों के सिद्धों की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, यह तो निश्चित है कि उपर्युक्त सात ऐतिहासिक थे। दूसरी बात यह है कि दूसरी और तीसरी सूचियों में सिद्धों के जितने नाम दिए गए हैं, उनमें 84 संख्या पूरी करने की वृत्ति भी दिखाई देती है। प्राय: सभी विद्वानों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि इनमें सभी सिद्ध ऐतिहासिक नहीं हैं। इनमें कई सिद्धों के नामों की आवृत्ति भी दिखाई देती है। विद्वानों के सत्प्रयत्न से दूसरी और तीसरी का समय पहले ही निश्चित

चुका है। अत: इन दोनों सूचियों में समान रूप से आए हुए सिद्धों को ऐतिहासिक और साम्प्रदायिक दृष्टि से सर्वाधिक मान्य समझना चाहिए। अभिन्न सिद्ध निम्नलिखित हैं (प्रथम संख्या वर्णरत्नाकर की तथा दूसरी संख्या तिब्बती सूची की है)—

मीननाथ (1, 8), गोरक्षनाथ (2, 9), चौंरगीनाथ (3, 10), चामरीणाथ (4, 14), तंतिपा (5, 13), हालिपा (6, 50?), केदारिपा (7, 44), टोंगपा (8, 28), दारिपा (9, 77), विरूपा (10, 3), कपाली (11, 72), कमारी (12, 45), कान्ह (13, 17), कनखल (14, 67), मेषल (15, 66), कांतलि (17, 69), धोबी (18, 28), जालंधर (19, 46), डोंगीपा (20, 31), मवह (सरह?), (21, 6), नागार्जुन (22, 16), अचिति (25, 38), चंपकपा (26, 60), मेदिनि (27, 50), कुजी (31, 35), धर्मपा (37, 36), भद्रपा (38, 24), सबर (44, 5), सांति (45, 12), भीसन (47, 61), गगणपा (49, 19), कुमारी (52, 63), सीयारी (56, 21), नागवालि (57, 76), भीलो (67, 62), कमल (70, 72), भद्रभमरी (76, 24), कामरि (35, 30)।

इनमें से वर्णरत्नाकर के कमारी, डोंगी, सियारी, नागबोलि, भीलो और कमल को तिब्बती सूची के क्रमश: कर्मरिपा, डेंगिपा, शालिपा, नागबोधिपा, भलिपा और कपाल (कमल)-पा से अधिन्न स्वीकार करने में अनुमान का अधिक आश्रय लेना पड़ा है। चामरि को चवरि (जवरि=अजपलि)-पा से और भद्र को मणिभद्रा से अभिन्न मानने की अपेक्षा इन दोनों को तिब्बती सूची के क्रमश: चमरिपा और भद्रपा से अभिन्न मानने में अधिक सुविधा है। ध्यान देने योग्य है कि वर्णरत्नाकर की जो सूची पं० हरप्रसाद शास्त्री के प्रमाण पर विद्वानों ने उद्धृत की है उसमें मेदिनीपा का नाम नहीं है। प्रकाशित 'वर्णरत्नाकर' में मेदिनी का नाम है। इसीलिए राहुलजी के प्रमाण पर उन विद्वानों ने हालिपा या हालीपा को मेदिनीपा का पर्याय माना है, ऐसी स्थिति में वर्णरत्नाकर की सूची में मेदिनीपा की आवृत्ति माननी पड़ेगी। वर्णरत्नाकर के मेदिनिपा को तिब्बती सूची के मेदिनीपा से अभिन्न मानने में अधिक सरलता है। राहुलजी ने मेदिनीपा के 'हालिपा' होने में 'संभावना' प्रकट की है। यों तिब्बती सूची में 'हालिपा' नाम का कोई सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि कई विद्वानों ने शास्त्रीजी के द्वारा उपस्थित की गई सूची को ही उद्धृत कर दिया है। प्रकाशित वर्णरत्नाकर में कुल सिद्ध संख्या 77 है और उसका कारण यह है कि 'मेदिनीपा' नाम के एक और सिद्ध बढ़ गए हैं। तीसरी बात यह है कि शास्त्री महोदय की सूची में 'कमलकंगारि' को एक सिद्ध और भद्रभमरी को दो सिद्ध माना गया है। मैंने प्रकाशित प्रति के आधार पर कमलकंगारि को दो सिद्ध और भद्रभमरी को एक सिद्ध माना है। इन सूचियों की तुलना करने पर मेरा निष्कर्ष यह है कि सर्वाधिक प्रामणिक उपर्युक्त सिद्धों की संख्या 38 होने की संभावना अधिक है। यदि हठयोग प्रदीपिका के श्लोकों के भिन्न प्रकार से अन्वय और पदविग्रह किए जायँ तो

इसमें भी परिवर्तन हो सकता है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन सभी सूचियों के सिद्धों को जाँच कर उनकी अधिकतम संख्या 137 मानी है (द्रष्टव्य 'नाथ संप्रदाय', पृ० 32)।

उपर्युक्त 38 सिद्धों में हठयोगप्रदीपिका (जिसका समय अब 14वीं शताब्दी निश्चित हो चुका है) के उपर्युक्त 6 सिद्धों में चर्पटि को छोड़ कर सभी आ जाते हैं जिनमें मीननाथ और गोरक्षनाथ महत्वपूर्ण हैं। इन दो हठयोगी सिद्धों के नाम आने के कारण संभवत: यह है कि इन दोनों का सम्बन्ध बौद्धसिद्धों से अधिक माना जाता था। हठयोगी सिद्धों के कम नाम आने का कारण यह है कि शरीर को कष्ट देकर साधना करना इन बौद्धसिद्धों को अभीष्ट नहीं था।

पहले ही कहा जा चुका है कि इन सिद्धों में कितने और कौन-कौन से सिद्ध नाथसिद्ध कहे जा सकते हैं और कौन-कौन से बौद्धसिद्ध, इसका निर्णय करना अत्यधिक कठिन है। नाथसिद्धों की भी जो सूचियाँ प्राप्त होती हैं वे भी भिन्न-भिन्न हैं। ऊपर अनुमान किया गया है कि हठयोग नाथसंप्रदायानुयायियों की सर्वोत्तम और आवश्यक निधि है और मत्स्येंद्र तथा गोरक्ष सर्वप्रथम हठयोगी हैं। इसके अनुसार कम से कम नाथसिद्धों में मीननाथ, गोरक्षनाथ, कपाली, कान्ह, चर्पटि और सबर को अवश्य मानना चाहिए। इन 6 हठयोगी सिद्धों में से भी सर्वदर्शनसंग्रहकार ने चर्पटि और कपाली को रसेश्वर सिद्धों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। अनुमान है कि इन 84 सिद्धों में चर्पटि, कपाली आदि रसेश्वर सिद्ध हैं। उपर्युक्त 6 सिद्ध हठयोगी सिद्ध हैं। अन्य के विषय में अनुमान किया जा सकता है कि उनमें से अधिकांश बौद्धसिद्ध होंगे। कुछ अन्य संप्रदायों के भी सिद्ध इस सूची में हो सकते हैं।

इन सिद्धों के संप्रदायों का विचार करते समय कई प्रश्न उठते हैं। मत्स्येंद्र और गोरक्ष बौद्ध तांत्रिक थे अथवा शैव तांत्रिक? यदि मत्स्येंद्र बौद्ध तांत्रिक थे तो उन्हें तिब्बती या बौद्ध सूची में मत्स्येंद्र नाम से न संबोधित कर लुई या लोहित आदि नाम से क्यों संबोधित किया गया है? मीननाथ, मत्स्येंद्रनाथ और लुईपाद भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे अथवा अभिन्न? इन सिद्धों में से किन्हें ऐतिहासिक दृष्टि से नाथसिद्ध कहा जा सकता है? इन नाथसिद्धों और बौद्धसिद्धों में क्या सम्बन्ध था? ये प्रश्न अभी तक विद्वानों को विवाद के लिए बाध्य करते रहे हैं। कुछ विद्वानों ने कई कृष्णपादों की भी कल्पना की है। इन प्रश्नों पर बहुत अधिक विचार विद्वानों ने किया है। आगे के कुछ परिच्छेदों में इनमें से कुछ प्रश्नों पर पृथक् रूप से विचार किया गया है।

इनमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को महामहोपाध्याय शास्त्री महोदय ने भी बौ० गा० दो० के 'मुखबंध' में उठाया था। उन्होंने लुई को बौद्धसिद्ध और मत्स्येंद्रनाथ को नाथसिद्ध माना था। मत्स्येंद्रनाथ मछुआ थे। उनका दूसरा नाम मच्छघ्ननाथ था। नाथसिद्ध होते हुए भी मत्स्येंद्र नेपाली बौद्धों के उपास्य देवता थे; किन्तु गोरक्षनाथ प्रारम्भ में रमणवज्र नाम के बौद्ध थे। बाद में वे ही गोरक्षनाथ नाम के सिद्ध बने।

उन्होंने मीननाथ (जिनकी रचना चर्यापद 21 की टीका में टीकाकार ने उद्धृत की है) और मत्स्येंद्रनाथ के सम्बन्ध पर स्पष्टतया विचार नहीं किया है। सम्भवत: उनके विवेचन से ये दोनों दो भिन्न व्यक्ति मालूम पड़ते हैं। इस प्रकार शास्त्री महोदय की दृष्टि में मीन, मत्स्येद्र और लुई भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। लुई आदि बौद्धसिद्ध थे तथा मत्स्येंद्र नाथसिद्ध थे।[1]

डॉ० प्रबोधचंद्र बागची ने स्थानसाम्य, नामसाम्य, दर्शनसाम्य, साधनासाम्य और जातिसाम्य के आधार पर मीन, मत्स्येंद्र और लुई को एक ही व्यक्ति माना है। इन तीनों की अभिन्नता के प्रश्न पर शास्त्री महोदय से मतभेद होने पर भी डॉ० बागची, शास्त्रीजी के समान ही लुईपाद को आदिसिद्ध मानते हैं। उन्होंने ऐसा सम्भवत: भारतीय और तिब्बती दोनों परम्पराओं का जोड़ बैठाने के लिए किया है।[2] श्री राहुल सांकृत्यायन ने 84 सिद्धों की जो सूची उपस्थित की है, उसके अनुसार मत्स्येंद्र और कन्हपा गुरु भाई थे। उनके गुरु का नाम था जालंधरपा। उन्होंने मीनपा का गुरु कुकुरिपा को माना है। मीनपा मत्स्येंद्र के पिता थे। मीनपा को मछुआ जाति का बताया गया है। राहुलजी की सूची में मत्स्येंद्र स्वतंत्र सिद्ध के रूप में नहीं आए हैं। लुईपा कायस्थ थे और शिष्यपरम्परा दृष्टि से सरह की तीसरी पीढ़ी में हुए थे। उनके इस विवरण से स्पष्ट है कि लुईपा, मत्स्येंद्र और मीनपा भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। अचिंतिपा को भी (जिन्हें बागची महोदय ने मत्स्येंद्र का ध्वन्यतरमात्र समझ कर दोनों को इंट्रो० के पृ० 23 पर अभिन्न माना है) राहुलजी ने भिन्न व्यंक्ति माना है। उन्होंने लुई के स्थान पर सरह को आदिसिद्ध माना है। उनके अनुसार लुई और मत्स्येंद्र की गुरुशिष्य परम्परा निम्नलिखित है—

1—सरह>शबरपा>लुइपा

2—जालंधरपाद>मत्स्येंद्रनाथ, धर्मपाद, तंतिपा, कण्हपा

3—मत्स्येंद्रनाथ>गोरक्षनाथ आदि

4—लुईपाद>दारिकपा, डेंगिपा, डोंबिपा

इस प्रकार की गुरु-शिष्य-परम्परा उपस्थित कर उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नाथ संप्रदाय बौद्धसिद्धों से ही प्रवर्तित हुआ है। 'रत्नाकर जोपम कथा' से उद्धरण देकर उन्होंने मीनपा और मत्स्येंद्र की भिन्नता भी प्रकट कर दी है।[3] शास्त्री महोदय का वह मत यहाँ ध्यान में रखने योग्य है जिसमें उन्होंने मत्स्येंद्र, मीन और लुई को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हुए भी मत्स्येंद्र को बौद्ध नहीं माना है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत शास्त्रीजी के मत से थोड़ा भिन्न है। उनका कथन है कि शास्त्रीजी की यह उक्ति सर्वथा ग्राह्य नहीं है कि कैवर्त आदि जैसी सदैव जीवहिंसा

1. *बौ० गा० दो०* मुखबंध, पृ० 16.
2. *कौलज्ञाननिर्णय, सं० प्रबोधचंद्र बागची, इंट्रो०,* पृ० 22-24, 55-59.
3. *पुरातत्व निबंधावली, राहुल सांकृत्यायन,* पृ० 164.

में रत रहनेवाली जातियाँ कभी भी बौद्धधर्म में दीक्षित नहीं हो सकतीं। उसका कारण उन्होंने यह दिया है कि बौद्ध सिद्धों में कम से कम मीनपा ऐसे अवश्य हैं जिनकी जाति मछुआ है। फिर भी उन्होंने मत्स्येंद्रनाथ का बौद्ध न होना ही ठीक माना है। उन्होंने कौलज्ञाननिर्णय और तंत्रालोक की जयद्रथ लिखित टीका में उद्धृत दो श्लोकों के आधार पर मीननाथ और मत्स्येंद्र को अभिन्न माना है, इस प्रकार द्विवेदीजी के मत से मीन और मत्स्येंद्र अभिन्न हैं, किन्तु लुई इन दोनों से भिन्न हैं।

84 सिद्धों और नवनाथों के विषय में जितना विवरण मिलता है, उससे स्पष्ट होता है कि जिन लोगों ने नाथ साहित्य एवं संप्रदाय का विवेचन करना अपना लक्ष्य समझा है, उन लोगों ने नाथ संप्रदाय के प्रवर्तकों और प्रचारकों को बौद्ध मत से सर्वथा पृथक् माना है। इस तथ्य को प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि उस समय के जितने भी तांत्रिक प्रभावापन्न आस्तिक-नास्तिक संप्रदाय थे, उन सभी में साधनात्मक और वैयक्तिक आदान-प्रदान होता था। 84 सिद्धों और नवनाथों की विभिन्न सूचियों में तथा उनकी साधनाप्रणालियों में जो अनेक समताएँ विषमताएँ दिखाई देती हैं, उनके मूल में इसी वृत्ति को समझना चाहिए। धार्मिक और दार्शनिक संप्रदायों और मतवादों के प्रसार, विस्तार के लिए इस प्रकार आदान-प्रदान सभी करते थे।[1] इसी प्रकार के विचारों को ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त विवादग्रस्त विषयों पर विचार किया है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि अधिकतर विद्वान् मीन और मत्स्येंद्र को अभिन्न स्वीकार करते हैं, किन्तु बंगीय परम्परा के अनुसार मीननाथ पुत्र थे और मत्स्येंद्र उनके पिता थे। तिब्बती मत के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्र के पिता थे। कौलज्ञाननिर्णय के मध्यवर्ती अध्याय की पुष्पिका में मीननाथ का और पोथी के अंत की पुष्पिकाओं में मत्स्येंद्र का नाम दिया गया है। इसलिए मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ दोनों एक-दूसर के पिता या पुत्र नहीं हो सकते। अकुलवीरतंत्र की पुष्पिकाओं में मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ, दोनों का नाम आया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपर्युक्त दोनों पोथियों के रचनाकाल तक मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं थे। दूसरी कथाओं के अनुसार कुछ भिन्न निष्कर्ष निकलता है। नेपाल में मत्स्येंद्रनाथ बुगान के लोहित अवलोकितेश्वर के रूप में पूजित हैं। मीननाथ, जो उनके छोटे भाई थे, सानु मत्स्येंद्रनाथ के रूप में पूजित हैं। दोनों की वहाँ समान रूप से पूजा होती है। उसके अनुसार मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। श्रीमती कल्याणी मल्लिक ने तंत्रालोक भाष्य (1, 24)

भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीन नाथेन वरानने॥
कामरूपे महापीठे मच्छेन्द्रेण महात्मना।

1. *नाथ संप्रदाय, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी,* पृ० 40-41, 41-42.

के आधार पर उन दोनों को एकसिद्ध करने का प्रयत्न किया है। तंत्रालोक में कौल लोगों की बात कही गई है। मीन या मच्छंदविभु ने कामरूप महापीठ में कौलमार्ग की प्रतिष्ठा की थी। कौलज्ञाननिर्णय में कौलों का वर्णन है। पुष्पिका में 'योगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते' इत्यादि कहा गया है। इसलिए मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ को अभिन्न मानना चाहिए।[1] सांप्रदायिक विचारधारा के लोग भी मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ को एक ही व्यक्ति स्वीकार करते हैं। 'राजगुरु योगिवंश'-कार ने डॉ० शहीदुल्ला के कथन के आधार पर स्वीकार किया है कि मीननाथ बंगाली थे तथा उनके नामांतर थे—मीनपद, मत्स्येंद्रनाथ, मच्छिद्रनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, मच्छेंद्रपाद।[2]

डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने नामसाम्य, देशसाम्य, जातिसाम्य के आधार पर बड़ी दृढ़ता से मीन, मत्स्येंद्र और लुई को अभिन्न सिद्ध किया है। उन्होंने दर्शन और साधना-प्रणाली की भी एकता और समानता को आधार मानकर उन्हें एक स्वीकार किया है। उन्होंने बताया है कि तांत्रिक बौद्ध सिद्धान्तों में में तथा मत्स्येंद्रनाथ विरचित कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीरतंत्र और कुलानन्दतंत्रम् के सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता है। सहज बिवेचन, वाह्याचारविरोध, बाह्यसाधना विरोध, कुल विचार (यथा नटी, रजकी, डोंबी, चंडाली और ब्रह्मानी) रहस्यात्मक शब्दावली आदि की दृष्टि से मत्स्येंद्रनाथ का योगिनी कौलमत और तांत्रिक बौद्ध मत सर्वथा समान हैं।[3] किन्तु श्रीमती कल्याणी मल्लिक के अनुसार मत्स्येंद्र और लुई के धर्ममत और साधना-प्रणाली पर विचार करने पर दोनों अभिन्न सिद्ध नहीं होते। उन दोनों के मत में कोई सामंजस्य नहीं है। मत्स्येंद्र और गोरक्ष का हठयोग, लुईपाद के चर्यापदों में वर्णित सहज साधना के पूर्णतया विरुद्ध है। इस आधार पर लुई और मत्स्येंद्र को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानना चाहिए। इसी विचार को तनिक नम्र रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि नाथ गुरु पूर्णतया शैव थे। तांत्रिक विशेषताएँ दोनों में मिलती हैं। इसका कारण यह है कि उस समय तांत्रिक साधना-प्रणाली थी। वह किसी विशेष संप्रदाय की संपत्ति नहीं थी। इस प्रकार की तांत्रिक समानता के कारण ही इन लोगों की साधना-प्रणाली और व्यक्तियों में अभिन्नता का भ्रम होता है। नाम, देश और कथा की दृष्टि से अभिन्नता तथा केवल साधना-पद्धति की दृष्टि से भिन्नता सिद्ध होने पर ही श्री राजमोहननाथ ने दो मत्स्येंद्रनाथों की कल्पना की है। एक मत्स्येंद्रनाथ लुईपाद के नाम से विख्यात थे। उन्होंने कौलज्ञाननिर्णय और

1. *नाथसंप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना-प्रणाली—श्रीमती कल्याणी मल्लिका,* पृ० 59-60. *तथा सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑफ नाथ योगीज़, सं० श्रीमती कल्याणी मल्लिका, इंट्रो०,* पृ० 15.
2. *शनिवारेर चिठि, आश्विन, 1351 बंगाब्द,* पृ० 379; *राजगुरु योगिवंश, श्री सुरेशचंद्रनाथ मजुमदार,* पृ० 164.
3. *कौ० नि०, प्रबोधचंद्र बागची, इंट्रो०,* पृ० 55-59.

चर्यापदों की रचना कर सहज धर्म का प्रचार किया था। दूसरे मत्स्येंद्र मीननाथ थे, जो नाथ मत के गुरु थे और नाथयोगी साधना के अनुयायी थे, किन्तु डॉ० बागची ने कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रंथों में आए नामों के आधार पर मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ को अभिन्न सिद्ध किया है तथा उन ग्रन्थों में विवेचित सहज तत्व की ओर भी संकेत किया है। संभवत: श्री राजमोहननाथ की दृष्टि में वह 'सहज तत्व' विवेचन नहीं था।[1]

कथाओं, किंवदंतियों, नाम, देश के आधार पर लुईपाद और मत्स्येंद्र को भिन्न व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। 'रागगुरु योगिवंश'-कार ने मत्स्येंद्र का प्राचीनतम समय 522 ई० तथा अर्वाचीनतम 10वीं शताब्दी स्वीकार किया है। प्रमाण यह है कि नेपाल का दुर्भिक्ष, हडसन के अनुसार लगभग 5वीं ईस्वी शताब्दी में पड़ा था। चीनी पर्यटक हुएन्त्सांग ने भावविवेक और मत्स्येंद्र को समकालीन माना है। भावविवेक का समय 550 ई० है। लेवी का कहना है कि मत्स्येंद्र 657 ई० में नेपाल के राजा नरेंद्रदेव के निमंत्रण पर वहाँ गए थे। अतिरिक्त विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह कहा गया है कि गोरक्ष के शिष्य पद्मसंभव थे, जिनका समय 721-722 ई० था। ज्ञानेश्वर की परम्परा के आधार पर अंतिम और अधिकतम समय 10वीं-11वीं शताब्दी तक माना जा सकता है।[2]

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि मत्स्येंद्रनाथ बौद्ध नहीं थे, यद्यपि मीननाथ, मत्स्येंद्रनाथ और लुईपाद अभिन्न थे। उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर मत्स्येंद्रनाथ के व्यक्तित्व के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं—एक तो नाथयोगी का, जो शुद्ध हठयोगी और जो नैतिक आचार परायण ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन के उपदेशक का रूप था और दूसरा जो सहज-साधना का प्रचार करने वाला तथा कौलमतवादी का रूप था। ये दोनों रूप क्रमश: गोरक्षनाथ और लुईपाद में दिखाई पड़ते हैं। यदि मत्स्येंद्रनाथ और लुई को अभिन्न मान लिया जाय तो सबसे बड़ी बाधा उनके विचारों का परस्पर विरोध है। यह विरोध गोरक्ष और लुईपाद का तांत्रिक ब्रह्मचर्यपरायण शैव साधना का और तांत्रिक बौद्धसाधना का विरोध है। मत्स्येंद्रनाथ के विषय में जितनी भी कथाएँ प्रचलित हैं, उन सबसे यह संकेत मिलता है कि मत्स्येंद्रनाथ ने गोरक्षनाथ को कामरूप देश या कदली राज्य की यात्रा के पूर्व ही अपना शिष्य बनाया था। मत्स्येंद्र की जो रचनाएँ प्राप्त हुईं, वे प्रामाणिक रूप से (मेरा तात्पर्य कौलज्ञाननिर्णय और संबद्ध ग्रंथों से है) कामरूप देश की यात्रा के बाद की ही हैं। स्पष्ट कहा गया है कि मत्स्येंद्र ने वहाँ कौल योगिनी मत या 'सिद्ध कौल मत' का प्रचार किया था। नाम से प्रकट है कि इस मत में शाक्त तत्व अधिक होंगे। इस कौल मत का प्रचार करने के पूर्व मत्स्येंद्र के साधना सम्बन्धी विचार

1. *नाथसंप्रदायेर इति०, कल्याणी मल्लिक,* पृ० 60-62, 62-68; *सिद्धसिद्धांतपद्धति, कल्याणी मल्लिक, इंट्रो०,* पृ० 17-18, 26.
2. *राजगुरु योगिवंश—सुरेशचंद्रनाथ मजुमदार,* पृ० 171-172.

और सिद्धान्त क्या थे, इसका कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु मत्स्येंद्रोद्धार की कथा से कम से कम इतना तो स्पष्ट होता ही है कि गोरक्ष को जिस साधना-प्रणाली की शिक्षा दी गई थी, कौल मत्स्येंद्र की साधना-प्रणाली से वह पूर्णतया भिन्न और विरुद्ध थी। अतः यह अनुमान करने के लिए एक अवसर निकल आता है कि गोरक्षनाथ, मत्स्येंद्रनाथ के कौल होने के पूर्व की साधना-प्रणाली के प्रचारक थे।

पहले ही बताया जा चुका है कि 11वीं शताब्दी तक तांत्रिक शैव तथा बौद्ध साधना में पर्याप्त आदान-प्रदान होने लगा था तथा अद्वयवज्र के संग्रह से स्पष्ट होता है कि बौद्धों ने शैवों या हिन्दू तांत्रिकों की साधना-प्रणाली और शब्दावली का ग्रहण कर लिया था। इसी प्रकार कौलज्ञाननिर्णय के विवेचन से भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि तांत्रिक शैवों ने भी तांत्रिक बौद्धों की शब्दावली और साधना-प्रणाली को ग्रहण कर लिया था। गोरक्षनाथ की अपेक्षा मत्स्येंद्रनाथ की कौल साधना-प्रणाली बौद्धों के लिए अधिक और ग्राह्य थी। उनकी कौलसाधना तांत्रिक बौद्ध साधना से बहुत अधिक मिलती-जुलती थी। दूसरे, कुछ के मतानुसार मुसलमानों के आक्रमण तथा शांकर अद्वैतवादियों के उच्छेदकार्य से रक्षा पाने के लिए साथ ही शैवों के उग्र विरोध को नम्र बनाने के लिए मत्स्येंद्र को बौद्ध के रूप में ग्रहण करने में उन्हें तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। यही कारण है कि मत्स्येंद्र, बौद्धों और शैवों में समानरूप से मान्य हैं। इस अनुमान से, नाथमत तांत्रिक बौद्धमत का ही एक उपमत है, इसका भी एक समाधान निकल आता है।

इन विवचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध गान ओ दोहा में लुईपाद की तथा मीनपाद की जो रचनाएँ उद्‌धृत हैं, वे कौल मत्स्येंद्रनाथ की रचनाएँ हैं। इस स्थिति में लुईपाद नाम को मीनपा, मत्स्येंद्रपा, मच्छघ्नपा आदि का तिब्बती पर्याय समझना चाहिए। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि 84 सिद्धों की किसी भी अन्य सूची में लुईपाद का नाम नहीं आता। उस तिब्बती सूची में 84 सिद्धों में मत्स्येंद्र नाम के कोई सिद्ध नहीं हैं। मत्स्येंद्र के नामों के रूपांतर, उसका तिब्बत तक प्रसार, अवलोकितेश्वर के अवतार के रूप में नेपाल में पूजित होना, बौद्धसिद्ध या आदि बौद्ध के रूप में मान्य होना, उनकी महानता और उनके प्रभाव विस्तार के पर्याप्त प्रमाण हैं।

चर्यापदकर्त्ता सिद्धों में कुछ सिद्धों का समय ऐतिहासिक दृष्टि से निश्चितप्राय है। मच्छंदविभु या मत्स्येंद्रनाथ का नाम 'तंत्रालोक' में आया है।[1] इसके रचयिता अभिनव गुप्त का समय 10वीं शताब्दी का अंतिम भाग और 11वीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग माना गया है। इसके अनुसार मत्स्येंद्रनाथ का भी समय 10वीं शताब्दी या उसके पूर्व मानना

1. *तंत्रालोक, अभिनवगुप्त, प्रथम भाग,* पृ० 25—।

रागारुणं ग्रंथिविलावकोर्णयो जालमातानवितानवृत्ति।
कलोम्भितं ब्राह्मपथे चकार स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः॥

चाहिए। डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने चर्यापदों और दोहों की भाषा के समय का विचार करते समय लुई या लुईपाद का समय निश्चित किया है। उनका कथन है कि लुईपाद दीपंकर श्रीज्ञान या अतिश के ज्येष्ठ समकालीन थे। इन दोनों व्यक्तियों ने 'अभिसमय विभंग' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। अतिश 1038 ई० में 58 वर्ष की अवस्था में तिब्बत गए थे। इस आधार पर तथा महामहोपाध्याय शास्त्री के प्रमाण पर उन्होंने लुई का समय 10वीं शताब्दी का द्वितीयार्द्ध माना है। डॉ० चटर्जी ने मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ को एक माना है और यह भी बतलाया है कि बंगाल के सहजिया संप्रदाय का सम्बन्ध उत्तरी भारत के पुरुज्जीवित हिन्दू धर्म के शैव नाथमत या योगीमत से अवश्य था। चटर्जी महोदय ने लुई और मत्स्येंद्र की अभिन्नता पर विचार नहीं किया है। उपर्युक्त आधारों पर तथा उपर्युक्त निष्कर्ष के अनुसार यदि मत्स्येंद्र और लुई को एक माना जाना जाय तो मत्स्येंद्र का समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाएगा।[1]

इसी प्रकार बौद्धसिद्धों और नाथसिद्धों, दोनों में समान रूप से मान्य सिद्ध काण्ह या कृष्णपाद की ऐतिहासिकता तथा उनका कालनिर्णय भी विवादास्पद है। लुईपाद चाहे आदिसिद्ध रहे हों या नहीं, किन्तु यह निश्चित है कि उन्हें 84 सिद्धों में बहुत अधिक संमानित स्थान प्राप्त था। दारिकपाद ने उन्हें अपने चर्यापद में बहुत आदर के साथ स्मरण किया है।[2] कृष्णाचार्यपाद ने भी उन्हें स्मरण किया है।[3] काण्ह ने जालंधरिपाद का उल्लेख किया है।[4] सम्भवतः लुईपाद प्राचीनतम सिद्ध थे। काण्हपाद ने 13 चर्यापदों की रचना की है। डॉ० चटर्जी के अनुसार यह पर्याप्त संभव है कि एक नहीं, अनेक काण्ह हुए हों। 13 चर्यापदों में से अनेक में भिन्न-भिन्न नामों का प्रयोग किया गया है, यथा— कान्हुपाद, कृष्णाचार्यपाद, कृष्णपाद, कृष्णा (-चार्य?), कृष्णवज्रपाद। तिब्बती तेंजुर में अनेक कृष्णों का नाम तांत्रिक ग्रंथों के लेखकों के रूप में आया है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में एक 'हेवज्रपंजिका-योग-रत्नमाल' नाम की

---

1. *ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, वा० 1,* पृ० 119-120.
2. *बौ० गा० दो०, चर्यापद 34,* पृ० 53 —

   ''राआ राआ राआ रे अवर राअ मोहेरे बाधा।
   लुइपाउपसाएँ दारिक द्वादश भुअणें लधा॥''
3. *बौ० गा० दो०, चर्यापद 36,* पृ० 53—

   ''सुण वाह तथा पहारी।
   मोहभंडार लुइ सअला अहारी॥''

   किन्तु बौ० गा० दो० के द्वितीय मुद्रण में चर्यापदों का जो पाठसंस्करण श्री ताराप्रसन्न भट्टाचार्य ने दिया है, उसके चर्यापद 36 में 'लुइ' का लइ हो गया है। उद्धृत पंक्तियों की सं० टीका में भी 'लुइ' का नाम नहीं आया है।
4. *बौ० गा० दो०,* पृ० 55— *''शाखि करिव जालंधरि पाए पाखि न राहअ मोरि पांडिआचाए॥'', च० 36.*

हस्तलिखित पोथी है जिसके लेखक हैं, 'पंडिताचार्य श्रीकह्न (=कान्ह)-पाद'। यह पोथी मगध में राजा गोविंदपाल के 39वें वर्ष में लिखी गई थी। मगध के इस अंतिम राजा का समय लगभग 1199 ई० है। यदि काण्ह अनेक थे तो उन काण्हों में से इस तंत्रग्रंथ के रचयिता काण्ह को भी उनमें से एक होना चाहिए। इस काण्ह का समय 12वीं शताब्दी का अंतिम दशक माना जा सकता है।[1] अनेक किंवदंतियाँ इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि जालंधरि और मयनामती गोरक्षनाथ के शिष्य थे। एक मत के अनुसार कृष्णपाद ने चर्यापद 36 में अपने को 'पंडिआचाए' (पंडिताचार्य) कह कर जालंधरिपाद की साक्षी उपस्थित की है। उसी चर्यापद में उन्होंने अपने को 'कान्हिल लाँगा (नग्न काण्ह) भी कहा है। चर्यापद की टीका में इन्हें 'कृष्णाचार्य' कहा गया है। इन्हीं आधारों पर डॉ० चटर्जी ने अनुमान किया है कि चर्यापद 36 के कृष्णाचार्यपाद, कथा के अनुसार, नाथयोगी जालंधरिपाद के शिष्य थे। 'हेवज्रपंजिका-योग-रत्नमाला' नामक तांत्रिक ग्रंथ के लेखक को 'पंडिताचार्य' कहा गया है। अत: ये पंडिताचार्य कृष्णाचार्यपाद नाथयोगी जालंधरि की साक्षी देनेवाले चर्यापाद 36 के रचयिता कृष्णाचार्यपाद से अभिन्न हैं जिनका समय लगभग 1199 ई० मानना चाहिए।

कृष्णपाद के समय पर सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। डॉ० बिनयतोष भट्टाचार्य इनका समय 717 ई० और राहुलजी इन्हें देवपाल (809-49 ई०) का समकालीन मानते हैं। राहुलजी ने तिब्बती सूची के आधार पर मत्स्येंद्र और कण्हपा, दोनों का गुरु जालंधरिपा को माना है। कृष्णपाद के समय के समान ही अन्य सिद्धों के समय पर विवाद है। उन सभी विवादों और मतभेदों को सप्रमाण उपस्थित करने के लिए पर्याप्त अवसर और स्थान चाहिये। अनेक कथाएँ, किंवदंतियाँ, विभिन्न सूचियाँ, शिष्य-परंपराएँ इतनी विरुद्ध हैं कि उनके आधार पर किसी भी सिद्ध का सर्वथा शुद्ध, प्रामाणिक और विरोधशून्य काल निर्णीत करना कठिन और जटिल है। डॉ० भट्टाचार्य ने दो शिष्यपरम्पराओं के आधार पर कालनिर्णय करने का प्रयत्न किया है जिसके विपक्ष में अनेक प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं। इन सूचियों के आधार पर अधिक से अधिक इन सिद्धों के कालविस्तार का ही निर्णय किया जा सकता है। इनमें से अनेक सिद्ध तो समकालीन हैं।

जितने सिद्धों का विवेचन यहाँ उपस्थित किया गया है उनके विषय में सबसे अधिक प्रामाणिक तथ्य यह है कि गोरक्षनाथ मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य थे। सभी सूचियाँ, स्रोत, किंवदंतियाँ, कथाएँ इस सम्बन्ध में पूर्णतया स्पष्ट, निस्संदिग्ध एवं एकमत हैं। यदि मत्स्येंद्र का समय जैसा ऊपर निश्चित किया गया है, दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मान लिया जाय तो गोरक्षनाथ का समय भी दसवीं शताब्दी के अन्त तथा 11वीं शताब्दी के

1. *ओ० डे० बें० लैं०, वा० 1,* पृ० 119-120.

प्रारम्भ में मानना पड़ेगा। कहा जा सकता है कि इन लोगों की शिष्यपरम्परा दो-तीन शताब्दियों तक चलती रही। डॉ० भट्टाचार्य ने प्रथम सिद्ध सरह को मानकर उनका समय 633 ई० निश्चित किया है। अंतिम सिद्ध उन्होंने संभवत: नारोपा को माना है। उनके अनुसार दीपंकर का समय 980-1053 ई० है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में सिद्धों का विस्तारकाल 633-1053 ई० है। इस संपूर्ण काल को उन्होंने दो भागों में बाँट दिया है। प्रथम विकास-काल में तरह (633 ई०), नागार्जुन (645 ई०), शबरिपा या शबरपा (657 ई०), लुइपा (669 ई०), पद्मवज्र (645 ई०), जालंधरिपा (705 ई०), अनंगवज्र (705 ई०), इंद्रभूति (717 ई०), कृष्णाचार्य (717 ई०), लक्ष्मीकरा (729 ई०), लीलावज्र (741 ई०), दारिकपा (753 ई०), सहजयोगिनी चिंता (765 ई०), और डोबी हेरक (777 ई०) की गणना की गई है। द्वितीय काल में दीपंकर (980-1053 ई०), अद्वयवज्र या अवधूतीपा, ललितवज्र, तैलोपा (चिटगाँव के), रत्नाकरमति, प्रज्ञाकरमति और नारोपा को स्थान दिया गया है। भट्टाचार्य महोदय के कथनानुसार द्वितीय विकास काल के सिद्ध अधिकतर पालवंश के महीपाल प्रथम (978-1030 ई०) के समकालीन थे।[1] डॉ० भट्टाचार्य के इस विवरण के आधार पर दारिकपाद लुईपाद के शिष्य नहीं हो सकते। चर्यापाद 34 में इनका जो संदर्भ है, उससे इसका पूर्ण विरोध दिखाई देता है।

राहुलजी ने सिद्धयुग को 800 ई० से 1175 ई० या 1200 ई० तक माना है। उनके अनुसार सरह आदि सिद्ध हैं। सरह राजा धर्मपाल के समकालीन थे जिनका समय 769-809 ई० है। नारोपा का मृत्युकाल उन्होंने 1039 ई० माना है।[2] जितने सिद्धों का परिचय उन्होंने दिया है, उनमें सर्वाधिक परवर्ती नारोपा ही हैं। फिर भी उन्होंने इन सिद्धों का युग 1200 ई० तक माना है और यह भी कहा है कि 1200 ई० के बाद भी सिद्ध होते रहे हैं। इसलिए सिद्धकाल उसके बाद भी रहा है।[3] उन्होंने मैत्रीपा या अवधूतीपा को दीपकर श्रीज्ञान का विद्यागुरु माना है। अवधूतीपा या अद्वयवज्र या मैत्रीपा 11वीं शताब्दी के आरम्भ में वर्तमान थे। इस प्रकार अंतिम सिद्ध 11वीं शताब्दी के अन्त के पूर्व होगा।[4]

डॉ० भट्टाचार्य और राहुलजी ने जो कालनिर्णय किया है, उसके पक्ष-विपक्ष में बहुत से प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं जिनके लिए यहाँ पर्याप्त अवसर नहीं। किन्तु यह तो निश्चित है कि सिद्धों की 84 संख्या 12वीं शताब्दी तक अवश्य पूरी हो गई थी। अत: प्रामाणिक सामग्री के अभाव में इन 84 सिद्धों का अधिक से अधिक विस्तारकाल

---

1. *एन० इं० बु० ए०, भट्टाचार्य,* पृ० 66-82.
2. *पुरातत्व निबंधावली,* राहुल सांकृत्यायन, पृ० 148,195.
3. *वही,* पृ० 161.
4. *वही,* पृ० 156.

लगभग 633–1200 ई० माना जा सकता है। नाथसिद्धों का भी विस्तारकाल इसी अवधि के अंतर्गत होना चाहिए।

अभी तक तो इन तीन विस्तृत सूचियों का, उनके सिद्धों का तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का विचार किया गया। स्पष्ट है कि इन सूचियों में अनेक नाथसिद्धों के भी नाम आए हैं। 84 सिद्धों की इन सूचियों का विचार तब तक अधूरा रहेगा जब तक नवनाथों की विभिन्न सूचियों का भी विचार न कर लिया जाय। चौरासी सिद्धों का उपर्युक्त विवेचन नवनाथों के निर्णय में भी सहायक होगा। अत: नवनाथों की विभिन्न सूचियों का भी संक्षेपतः विश्लेषण, परीक्षण एवं विवेचन लाभकर होगा।

ऊपर की तीन सूचियों में से वर्णरत्नाकर की सूची को कुछ लोग नाथसिद्धों की सूची मानते हैं तथा सस्क्य विहार की सूची को बौद्धसिद्धों की सूची। इस दूसरी सूची को भी वस्तुत: बौद्धसिद्धों की सूची न कहकर बौद्ध स्रोत से प्राप्त सिद्धों को सूची कहना चाहिए। जो लोग नाथ संप्रदाय को तांत्रिक बौद्ध मंत से विकसित मानते हैं वे अवश्य ही इसे बौद्धसिद्धों की सूची कहेंगे, जो संगत नहीं है। जो विद्वान् वर्णरत्नाकर की सूची को नाथसिद्धों की सूची मानते हैं उन्हें विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न स्रोतों से उद्धत नाथों की सूचियों पर भी विचार करना चाहिए। डॉ० रांगेय राघव,[1] डॉ० कल्याणी मल्लिक,[2] पं० परशुराम चतर्वेदी,[3] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी[4] आदि विभिन्न विद्वानों ने 30 से अधिक सूचियों का उल्लेख किया है। इन सारी सूचियों पर विचार करने से सामान्य रूप में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

1. ये सूचियाँ विभिन्न क्षेत्रों में स्वीकृत नवनाथों की नामावली प्रस्तुत करती हैं।
2. इनमें अंतर्गणित नवनाथ परस्पर बहुत भिन्न हैं।
3. इन सूचियों में सबसे अधिक मान्यता क्रमशः मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ, आदिनाथ, जालंधरनाथ, चर्पटीनाथ, चौरंगीनाथ, कानिफानाथ, भर्तृहरिनाथ एवं गोपीचंद्रनाथ को मिली है।
4. इन सूचियों में नवनाथों के अनेक उपनाम, साधनात्मक नाम, लोककथात्मक नाम एवं पौराणिक नाम देखने को मिलते हैं। इनमें तांत्रिक नाथों के नामों का भी मिश्रण मिलता है।
5. इस भिन्नता एवं मिश्रण के कारण नाथों की संख्या में बहुत वृद्धि हो जाती है और भिन्न-भिन्न सूचियों को नवनाथ सूची कहते हुए भी सब मिलाकर नवनाथों की संख्या लगभग 106 हो जाती है।

---

1. *गोरक्षनाथ और उनका युग,* पृ० 4–5.
2. *ना० सं० इ० द० सा० प्र०,* पृ० 14–16 तथा आगे।
3. *विश्वभारती पत्रिका,* खण्ड 9.
4. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 24–37.

6. यदि इन सारे नामों को नाथों की सूची मान लिया जाय तो इन 106 नाथों की सूची को भारतवर्षीयनाथों की सूची कहा जा सकता है।
7. इन सभी सूचियों के आधार पर सर्वसम्मत नवनाथों की सूची नहीं बनाई जा सकती।
8. यदि इन सभी सूचियों में कुछ नामों की अधिकाधिक आवृत्ति का विचार किया जाय तो एक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है, फिर भी यह निष्कर्षित सूची संपूर्ण देश के नाथों की सर्वस्वीकृत नवनाथ सूची नहीं होगी।
9. इनमें से अनेक सूचियाँ ऐसी हैं जिन्हें विद्वानों ने यद्यपि एक ही स्रोत से प्राप्त किया है तथापि उन्हें उद्धृत करने में अनेक त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं। परिणामतः सूचियों की संख्या वृद्धि के साथ ही नाथ संख्या वृद्धि भी हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाथों के नाम में भी भ्रांतियाँ हो गई हैं।

सभी सूचियों को मिलाकर क्रमशः अधिकाधिक सूचियों में आए सभी नाथों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है जो वर्णरत्नाकर तथा सस्क्य विहार की सूचियों से बहुत अंशों में भिन्न है (इसमें मीन और मत्स्येंद्र को अभिन्न माना गया है)—

1. मत्स्येंद्रनाथ, 2. गोरक्षनाथ, 3. आदिनाथ, 4. जालंधरनाथ, 5. चर्पटीनाथ, 6. कानिफनाथ, 7. चौरंगीनाथ, 8. भर्तृहरिनाथ, 9. गोपीचंद्रनाथ, गैनीनाथ, उदयनाथ, सत्यनाथ, संतोषनाथ, रेवणनाथ, कंथलिनाथ, नागनाथ अथवा भागनाथ, कूर्मनाथ, विरूपाक्षनाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ, दंडनाथ, भवनार्जि, नागार्जुन, विष्ण, अचलनाथ, गणेशनाथ, मयनावती, अडबंग, मंगलनाथ, प्राणनाथ, दत्तात्रेय, निरंजननाथ, जड़भरत, भीमनाथ, शाबरानन्द, भैरव, विलेशय, मंथानभैरव, कोंकण, अनंग, अरुणाचलनाथ, सारंगधर, मेघनाथ, सिद्धवुद्ध, कणिक, कार्तिकनाथ, गजकर्ण, औघड़, एकनाथ, ओंकारनाथ, गजबली, अचलेश्वर, शेलनाथ, नाथनाथ, सत्यामलनाथ, गैवीनाथ, गुप्तनाथ, उद्बोधननाथ, केसरीनाथ, शिवदिननाथ, नरहरिनाथ, लक्ष्मणनाथ, मल्हारनाथ, वुग्गानाथ, सुरतनाथ, कम्बनाथ, धर्मनाथ, धुरंधरनाथ, करनारिनाथ, दूरतंगनाथ, गोदड़नाथ, हरिश्चंद्र, अवद्यनाथ, वैराग्यनाथ, कंथाधारीनाथ, मलयार्जुननाथ, सहस्रार्जुननाथ, देवदत्त, वशिष्ठ, हरिनाथ, कुलेश्वर, महेश्वर, सुखनाथ, पारिजातनाथ, विमलनाथ, कृशरनाथ, सुधाकरनाथ, भोजदेव, प्रजापति, कुलदेव, वृत्तिदेव, विघ्नेश्वर, हुताशन, निराकार, निर्विकल्प, निरामय, विधि, प्रकाश, विमर्श, आनन्द, पूर्ण, स्वमा, प्रतिमा, सुभग, घूगो, चम्भा = 106।

इनमें से अनेक नाम ऐसे हैं जो थोड़े से ध्वन्यंतर से अथवा अर्थसाम्य से अभिन्न किए जा सकते हैं, जैसे—आदिनाथ और नाथनाथ, कंथलि और कंथाधारी, नागनाथ और नागार्जुन, अचलनाथ और अरुणाचलनाथ, गणेशनाथ और गजकर्णनाथ आदि। संभव है, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इन्हें पृथक् व्यक्तित्व प्रदान करनेवाली कथाएँ, घटनाएँ

अथवा सांप्रदायिक परम्पराएँ हों। बिना उनकी भलीभाँति परीक्षा किए उन्हें अभिन्न सिद्ध करना भ्रमात्मक होगा। यदि नामवैभिन्य को ध्यान में रखकर अखिल भारतवर्षीय नाथों की सूची बनाई जाए तो वह कुछ उपर्युक्त प्रकार की होगी और अधिकाधिक सूचियों में समान रूप से नामगणना को ध्यान में रखकर नवनाथों की सूची बनाई जाए तो उपर्युक्त 106 नाथों में से प्रथम नौ नाथों के नामों को लिया जा सकता है। गोपीचन्द्र के बाद आनेवाले गैनी, उदय, संतोष, सत्य, रेवण तथा कंथलि के नाम भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं और नाथों में बहुत प्रसिद्ध हैं। हठयोगप्रदीपिका, सस्क्य विहार तथा वर्णरत्नाकर की सूचियों से मिलान करने पर इन नाथसिद्धों से सम्बन्धित निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है—

आदिनाथ—हठयोगप्रदीपिका
अनंग—सस्क्य०
कानिफा—वर्णरत्नाकर, हठयोगप्रदीपिका, सस्क्य०
कंथलि—हठयोगप्रदीपिका
करनारिनाथ—सस्क्य०
गोरक्षनाथ—हठयोगप्रदीपिका, वर्णरत्नाकर, सस्क्य०
चर्पटी—हठयोगप्रदीपिका, सर्वदर्शन०, सस्क्य०
चौरंगी—हठयोगप्रदीपिका, वर्णरत्नाकर, सस्क्य०
जालंधरनाथ—वर्णरत्नाकर, सस्क्य०
नागार्जुन—वर्णरत्नाकर, सस्क्य०
निरंजन—हठयोगप्रदीपिका
भर्तृहरि—वर्णरत्नाकर
भीमनाथ—वर्णरत्नाकर
भैरव—वर्णरत्नाकर, हठयोगप्रदीपिका
मत्स्येंद्रनाथ—वर्णरत्नाकर, हठयोगप्रदीपिका, सस्क्य० (मीन)
मंथानभैरव—हठयोगप्रदीपिका
विरूपाक्ष—वर्णरत्नाकर, हठयोगप्रदीपिका
विलेशय—हठयोगप्रदीपिका, सस्क्य०
सारंगधर—वर्णरत्नाकर
सिद्धिबुद्ध—हठयोगप्रदीपिका

इससे यह स्पष्ट होता है कि 106 नाथों में से केवल 21 नाथ ऐसे हैं जो विभिन्न प्रसिद्ध सूचियों में मिलते हैं। इनमें से भी केवल 10 नाथों के नाम वर्णरत्नाकर में मिलते हैं। अतः इस आधार पर यह प्रामाणिक रूप में कहा जा सकता है कि वर्णरत्नाकर की सूची नाथसिद्धों की सूची नहीं कही जा सकती। इनमें से 14 सिद्धों के नाम

हठयोगप्रदीपिका में मिलते हैं। अतः हठयोगप्रदीपिका में उल्लिखित हठयोगी सिद्धों की सूची, अन्य सूचियों की तुलना में, नाथों की सूची के अधिक निकट है। सर्वदर्शनसंग्रह के रचयिता माधवाचार्य का समय लगभग 13वीं शताब्दी है। हठयोगप्रदीपिका एवं वर्णरत्नाकर का समय 14वीं शती के पूर्व है। अतः यह कहा जा सकता है कि नाथों के उपर्युक्त नाम उन नाथसिद्धों के हैं जो 14वीं शती के पूर्व हो चुके थे। अन्य नाथसिद्धों के नाम न मिलने के कई कारण हो सकते हैं। उन सिद्धों के अनेक नाम हो सकते हैं जिनके साथ उन सूचियों के नामों की अभिन्नता स्थापित नहीं की जा सकती हो। दूसरे, शेष सिद्ध 14वीं शती के बाद हुए हों। ऊपर जिन नवनाथों के नामों की गणना की गई है, यदि उनके नाम का संधान इन सूचियों में किया जाय तो विवरण इस प्रकार होगा—

आदिनाथ—हठयोगप्रदीपिका
मत्स्येंद्रनाथ—वर्णरत्नाकर, हठयोगप्रदीपिका, सस्क्य०
गोरक्षनाथ—हठयोगप्रदीपिका, वर्णरत्नाकर
जालंधरनाथ—वर्णरत्नाकर, सस्क्य०
चर्पटीनाथ—हठयोगप्रदीपिका, वर्णरत्नाकर, सस्क्य०
कानिफानाथ—वर्णरत्नाकर, हठयोगप्रदीपिका, सस्क्य०
चौरंगीनाथ—हठयोगप्रदीपिका, वर्णरत्नाकर, सस्क्य०
भर्तृहरिनाथ—वर्णरत्नाकर
गोपीचन्द्रनाथ— ×

इस विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चौरंगीनाथ तक के नाथसिद्धों को व्यापक प्रसिद्धि एवं मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। भर्तृहरि और गोपीचंद्र की प्रसिद्धि क्षेत्रीय थी। इन लोगों में से भर्तृहरि तक के सिद्धों को 84 सिद्धों में स्थान प्राप्त हो चुका था।

इन नौ नाथों की परम्परा के सम्बन्ध में भी इस प्रसंग में विचार किया जा सकता है। प्रथमतः तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, जालंधरनाथ और कानिफा के नाथत्व अथवा शैवत्व का विचार। राहुल सांकृत्यायन ने जालंधरनाथ को ही आदिनाथ माना है और इसके लिए उन्होंने कार्डियर के कैटेलॉग से जालंधरपाद के 'विमुक्तमंजरी' नामक ग्रन्थ के भोटिया अनुवाद का प्रमाण दिया है।[1] भारतवर्ष में सम्भवतः कोई भी अन्य ऐसा स्रोत देखने में नहीं आया जो आदिनाथ और जालंधरनाथ को अभिन्न मानता हो। राहुलजी 'नाथपंथ' को चौरासी सिद्धों से ही निकला मानते हैं। इसलिए यदि जालंधरपाद को वे बौद्धसिद्ध मानकर उन्हें आदिनाथ घोषित करते हैं तो उचित ही करते हैं।[2] दूसरे वे मत्स्येंद्रनाथ को डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के प्रमाण पर

1. *पुरातत्व निबंधावली*, पृ० 163.
2. *वही*, पृ० 162.

जालंधरपाद का शिष्य मानते हैं।[1] तात्पर्य यह कि नाथों ने जालंधरपाद नामक बौद्धसिद्ध को आदिनाथ माना। उनके सर्वप्रथम शिष्य थे मत्स्येंद्रनाथ। उसके बाद यह परम्परा-विकसित होती रही। इस परम्परा-विकास का मूल ही अन्य प्रमाणस्रोतों से सिद्ध नहीं होता। अतः यह स्थापना बहुत ही कमजोर है। राहुलजी ने बौद्धसिद्धों की जो परम्परा दी है, उसमें उपर्युक्त नवनाथों के स्थान की खोज की जा सकती है। विवरण निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

आदिनाथ
(जालंधरपाद)

कण्हपा मत्स्येंद्र मीनपा तंतिपा धर्मपा

(मत्स्येंद्र →) गोरक्षपा चोरंगीपा

चर्पटीपा
(पचरीपा)
मीनपा

इस परम्परा में वैलक्षण्य यह है कि मत्स्येंद्र को सस्क्य विहार के 84 सिद्धों में गिना ही नहीं गया है किन्तु राहुलजी ने मत्स्येंद्र को जालंधरपाद का शिष्य कह दिया है।[2] चौरासी सिद्धों में मीनपा की गणना की गई है और उन्हें भी मत्स्येंद्र के पिता के साथ ही जालंधरपाद का शिष्य भी कहा गया है।[3] इस प्रकार राहुलजी मीन और मत्स्येंद्र को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं, पिता-पुत्र मानते हैं तथा साथ ही गुरुभाई भी मानते हैं; किन्तु राहुलजी की सूची में इसी प्रकार मीनपाद को चर्पटीपा का भी शिष्य कहा गया है जबकि चर्पटी की दीक्षा-परंपरा का कोई संकेत राहुलजी ने नहीं दिया। गोरक्ष और चौरंगी मत्स्येंद्र के शिष्य थे, इसे वे अवश्य स्वीकार करते हैं। जालंधर के शिष्यों में कण्हपा (कानिफा) की गणना नवनाथों में की जाती है। इस प्रकार इस परम्परा के अनुसार आदिनाथ जालंधरपाद हैं और उनकी शिष्य-परम्परा में शेष 7 नवनाथों में से 4 नाथ भी अंतर्गणित होते हैं। मीन और मत्स्येंद्र की भिन्नता एवं अभिन्नता भी विवादास्पद है। हठयोगप्रदीपिका की सूची में मीन और मत्स्येंद्र दोनों हैं। वर्णरत्नाकर में केवल सीलनाथ (मीननाथ?) का ही नाथ है। इसी प्रकार सस्क्य विहार की सूची में भी केवल मीननाथ का नाम है। डॉ० कल्याणी मल्लिक और डॉ० बागची से सहमत होना अधिक न्यायसंगत है जिनके मतानुसार प्रारम्भ में ये दोनों एक ही व्यक्ति थे, किन्तु बाद में इन्हें परस्पर पिता-पुत्र अथवा पुत्र-पिता के रूप में मान लिया गया।[4]

1. *पुरातत्व निबंधावली,* पृ० 146 पादटिप्पणी।
2. *वही,* पृ० 151.
3. *वही,* पृ० 148 .
4. *ना० सं० द० सा० प्र०,* पृ० 59-60.

योगिसंप्रदायाविष्कृति के अनुसार द्वापर के अंत में राजा ऋषभ से नवनारायण का जन्म हुआ। नारद के परामर्श से ये योगमार्गोद्धार एवं त्रिताप संतापित लोक के उद्धार के लिए कैलास पर महादेव के निकट गए। महादेव की कृपा से 'गोरक्षनाथ' नाम के एक व्यक्ति प्रकट हुए। वे मुमुक्षुजनों के रक्षाकर्ता थे और लोगों को सन्मार्ग पर ले जाने के लिए पृथ्वी पर प्रेरित हुए। नवनारायण में अन्यतम कविनारायण मत्स्येंद्रनाथ नाम से प्रसिद्ध हुए। अन्य हैं (यथा करभाजननारायण, अंतरिक्षनारायण) क्रमशः गहनिनाथ, ज्वालेंद्रनाथ, कानिपानाथ, चर्पटनाथ, रेवणनाथ, नागनाथ, भर्तृनाथ, गोपीचन्द्रनाथ (कुल 10)। इनकी दीक्षा-परम्परा इस प्रकार थी।

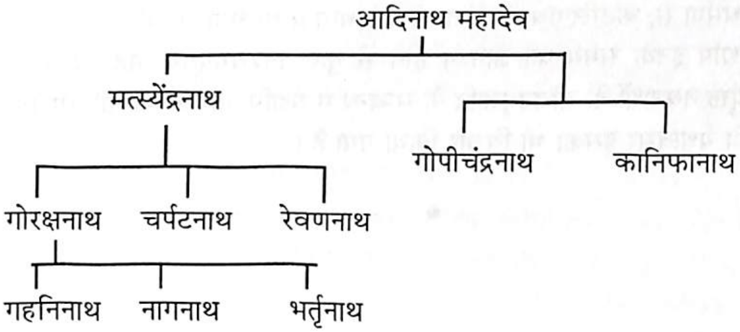

इसके साथ ही गोरक्षविजय से इन सिद्धों की दिशाओं का भी पता लगता है[1]—

हाड़िपा अथवा ज्वालेंद्रनाथ—पूर्व दिशा

कानफा—दक्षिण दिशा

गोरक्ष—पश्चिम दिशा

मीन—उत्तर दिशा

उक्त परम्परा से चौरंगी के गुरु का पता नहीं लगता। राहुलजी के अनुसार तो ये गोरक्ष के गुरु भाई थे। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने गोरक्षनाथ के 'अमरौघप्रबोध' नामक ग्रन्थ के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि चौरंगीनाथ गोरक्षनाथ से ज्येष्ठ थे और उनके लिए नमस्करणीय थे।[2] यदि राहुलजी की दी गई सूचनाओं के आधार पर जालंधरनाथ की शिष्य-परम्परा का पूरा विवरण प्रस्तुत किया जाय तो वह इस प्रकार होता है[3]—

1. *ना० सं० द० सा० प्र०*, पृ० 16.
2. *दिग्विजयनाथ स्मृति ग्रन्थ*, पृ० 293.
3. *पुराततत्व निबंधावली*, पृ० 148-154.

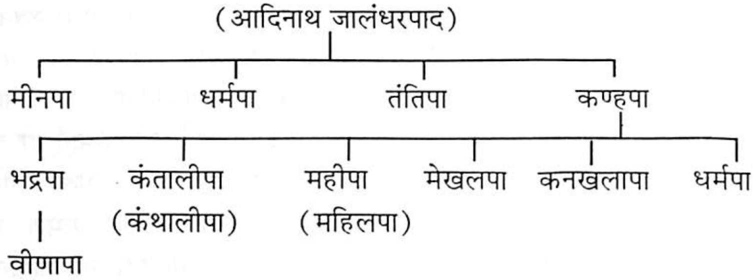

नवनाथों में इनमें से किसी का भी नाम अंतर्गणित नहीं है। गोपीचन्द्रनाथ की शिष्यपरम्परा का पता नहीं है। 106 नाथों की जो सूची प्रस्तुत की गई है, उसमें से धर्मनाथ को धर्मपा से, कंठलिनाथ को कंतालीपा अथवा कंथालीपा से अभिन्न किया जा सकता है यद्यपि इनके समय का ज्ञान न होने से कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त नवनाथों के जीवनवृत्तादि के सम्बन्ध में यद्यपि अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है तथापि यथावसर इसका भी विचार किया गया है।

●

तीसरा परिच्छेद

बौद्धसिद्ध और नाथसिद्ध : सम्बन्ध-विचार

नाथसिद्ध बौद्धसिद्धों से भिन्न हैं; किन्तु बहुत से विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे इससे भी भिन्न हैं। हिन्दी साहित्य के वर्तमान इतिहासों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार की सामाजिक और सांप्रदायिक दृष्टि ज्ञानाश्रयी निर्गुणमार्गी संतों तथा नाथ सिद्धों की थी, प्राय: उसी प्रकार की दृष्टि बौद्धसिद्धों या दूसरे शब्दों में तांत्रिक बौद्धसिद्धों की थी। भक्तिकाल की निर्गुण धारा का विवेचन करते समय प्राय: इतिहासकारों ने बौद्धसिद्ध साहित्य का विवेचन किया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि बौद्धसिद्धों की समाज, धर्म, साधना और दर्शन सम्बन्धी दृष्टियों का विकास नाथसिद्धों में हुआ तथा उनके माध्यम से वह संपत्ति निर्गुणमार्गी ज्ञानाश्रयी संतों को मिली। वही शब्दावली भी ग्रहण की गई। नाथसिद्धों और बौद्धसिद्धों के सम्बन्ध पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है और यहाँ तक कह दिया है कि नाथसिद्ध मत बौद्धसिद्ध मत का विकसित शैव रूप है। नाथसिद्ध लोग पहले बौद्ध थे, बाद में शैव हो गये। इसके अतिरिक्त एक मत यह भी है कि नाथ मत अंतिम तांत्रिक बौद्धयान का एक उपयान है। इनके सम्बन्धों पर विद्वानों ने संप्रदाय, साधना और दर्शन की दृष्टियों से विचार किया है।

संप्रदाय की दृष्टि से विचार करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने जालंधरपाद को आदिनाथ माना है। उनकी इस मान्यता का आधार भोटिया 'विमुक्तमंजरी' नामक वज्रयानी ग्रन्थ है। इस सांप्रदायिक रचना की प्रामाणिकता अभी तक सिद्ध नहीं हो सकी है। डॉ० प्रबोधचंद्र बागची ने नाथों में प्रथम स्थान, दूसरे शब्दों में, संप्रदाय की दृष्टि से आदि स्थान, मत्स्येंद्रनाथ को दिया। चौरासी सिद्धों की तिब्बती सूची में प्रथम स्थान लुईपाद को दिया गया है। और भी प्रमाण देकर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि बौद्धसिद्ध लुईपाद और नाथसिद्ध मत्स्येंद्रनाथ एक ही व्यक्ति थे। मैंने इन दोनों संप्रदायगत स्थापनाओं पर पर्याप्त विस्तार और प्रमाण के साथ विचार 'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य' नामक अपने ग्रन्थ के 'सिद्धियाँ और चौरासी सिद्ध' शीर्षक परिच्छेद में किया है और यह उपस्थित करने की चेष्टा की है कि तिब्बती बौद्ध सूची (सस्क्य विहार की सूची), वर्णरत्नाकर की सूची, हठयोगप्रदीपिका आदि में प्राप्त सिद्धों की सूची को देखने से यह सिद्ध नहीं होता कि जालंधरपाद ही आदिनाथ थे तथा लुईपाद ही मत्स्येंद्रनाथ थे। सिद्धों की तिब्बती चित्रावली को देखने से यह स्पष्ट होता है कि लुईपाद और मीनपाद

के दो अलग-अलग चित्र हैं तथा लुईपाद के चित्र का मत्स्यांत्र के भक्षण से अथवा मत्स्योदर से उदित होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। संप्रदायगत विचार के लिए उपर्युक्त ग्रन्थ देखा जा सकता है। यहाँ हम बौद्धसिद्धों और नाथसिद्धों के साधनागत और दर्शनगत सम्बन्ध पर विचार करेंगे। इस विचार में यह ध्यान में रखा गया है कि बौद्धसिद्धों में आद्यंत अनीश्वरवादिता दिखाई पड़ती है। दूसरे, उनके दर्शन के परवर्ती विकासों में भी प्राचीन महायान दर्शन की धारा का प्रवाह दिखाई पड़ता है। अब यह सिद्ध हो गया है कि नाथ सिद्ध लोग शैव तांत्रिक थे। महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने उन्हें काश्मीरी शैवागमवादी आचार्यों की परम्परा में माना है। इस स्थापना पर पुनर्विचार चर्वितचर्वण ही होगा। नाथों की सेश्वरवादिता स्पष्ट है, यद्यपि वे सांख्ययोगियों की तरह सेश्वरवादी नहीं थे।

ऊपर नाथों और बौद्धों के सम्बन्ध से सम्बन्धित जिन स्थापनाओं का उल्लेख किया गया है, उन पर पुनर्विचार करने के पूर्व बौद्ध साहित्य के मूल आधारों और प्रवृत्तियों पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। बौद्धसिद्धों के अपभ्रंश साहित्य के आधार पर यदि उनकी विशेषताओं का विवेचन क्रिया जाए तो कुछ मुख्य बातें इस रूप में उपस्थित की जा सकती हैं—तांत्रिक शक्तिवाद, अधिकारभेदवाद, मंत्र, सिद्धि, पंचमकार, विशिष्ट आचार, राजयोग, हठयोग आदि तत्व सहजयान के पूर्वरूप वज्रयान में ही स्वीकृत थे। इन तत्वों के साथ ही वज्रयान ने माध्यमिक मत के प्रज्ञा और शून्यता तत्त्व को लिया तथा विज्ञानवाद से विज्ञान या चित्त के साथ ही योग और आचार को लिया। अद्वयभाव, समरसता, महासुख, युगनद्ध आदि की विचारधाराएँ भी तात्विक और मूल रूप में वज्रयान के ही पूर्व के तंत्रप्रभावापन्न रूपों में वर्तमान थीं। इन सबका प्रमाण गुह्यसमाजतंत्र, ज्ञानसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि आदि ग्रन्थों में मिलता है। ये सभी ग्रन्थ 7वीं ई० शताब्दी से 12वीं ई० शताब्दी के बीच लिखे गए। इन शास्त्रीय आधारों के पुष्ट हो जाने पर, जिनका स्पष्टीकरण और व्याख्यान संस्कृत-ग्रन्थों में किया गया था, लोकभाषा (तत्कालीन अपभ्रंश) तथा साहित्यिक अपभ्रंश के माध्यम से उन विचारों, आचारों को कुछ भिन्न परिस्थितियों और आवश्यकताओं के कारण भिन्न रूप में उपस्थित किया गया। भगवती लक्ष्मींकरा ने 'अद्वयसिद्धि' से सहज-साधना को स्पष्ट किया जिसे बाद में सहजिया साधना का आधार ग्रन्थ माना गया। छठीं ई० शताब्दी तक तांत्रिक बौद्ध साधना में राजयोग, धारणी, मंत्र आदि को साधन के रूप में मुख्य रूप से स्वीकार किया गया था। तांत्रिक प्रभाव के अधिक परिपक्व होने पर हठयोग, नाड़ीसाधना, चक्रसाधना, कमलकुलिशसाधना को भी स्वीकार कर लिया गया। किन्तु इन सभी तत्वों को बौद्ध परम्परा के अनुकूल ही ग्रहण किया गया और साथ ही वज्रयान ने उन पर अपनी वज्र की मुद्रा अंकित कर दी। वज्रयोग, वज्रध्यान, वज्रयान, वज्रासन आदि शब्द इसकी ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार की साधना के मूलाधार शक्तिवाद और पिण्डब्रह्मांडवाद थे। इस

सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी वज्रयान मंत्र, मुद्रा, मैथुन तथा अन्य मकारों, मंडलों आदि की साधना में सदैव तथा सर्वथा लीन रहा। मंडलादि कर्मों में स्थूलता तथा बाह्य कर्मों की अधिकता होने पर उनके प्रति विरोध प्रकट किया जाने लगा। फलतः बौद्ध तंत्रयान में प्रविष्ट पश्वाचार और वीराचार से अपेक्षाकृत अधिक प्रकृष्ट और सूक्ष्म साधन दिव्याचार को प्रश्रय दिया गया। वज्र जैसे कठोर और बाह्याचारप्रधान साधनात्मक जीवन के आदर्श के प्रतीक के स्थान पर सहज यौनयौगिक, साधनात्मक और आध्यात्मिक जीवन के आदर्श के प्रतीक सहज (भावना और तत्व) को उपजीव्य माना गया।[1] इन सहजिया सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य पर विचार करने पर उनकी गुरुशिष्यवाद, पिंडब्रह्मांडवाद, बाह्याडंबर विरोध, अंतस्साधनावाद, कमलकुलिशसाधना या प्रज्ञोपायसाधना, युगनद्ध और महासुखवाद, ध्यान, वाम-दक्षिण-साधना आदि विभिन्न साधनाओं पर प्रकाश पड़ता है।

बौद्धसिद्धों ने शून्यतातत्त्व या प्रज्ञातत्त्व को शून्यवाद या माध्यमिक मत से तथा चित्ततत्त्व या विज्ञानतत्त्व को विज्ञानवाद या योगाचार मत से ग्रहण किया। बौद्धसिद्धों ने अपने तांत्रिक दर्शन के आधार के लिए प्रज्ञा को शक्ति के रूप में ग्रहण किया। सहजयानियों ने इसे अवधूती या नैरात्मायोगिनी या नैरामणिदारिका या आध्यात्मिक शक्ति माना। तांत्रिक मत अपने पिंडब्रह्मांडवाद के अनुसार ब्रह्मांड के सभी तत्त्वों, पदार्थों को पिंडस्थ मानता है जिनका दर्शन साधक स्वयं अपने शरीर के भीतर कर सकता है। इस विचार से जीव की अपनी शक्ति की महत्ता बढ़ गई। विज्ञानवाद के चित्ततत्त्व को स्वीकार करने के कारण उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ा कि यह विश्व इस चित्त की सृष्टि है। चित्त ही मोक्ष बंधन का कारण है। इसी मत के अनुसार उन लोगों ने यह माना कि संसार और निर्वाण में कुछ भेद नहीं है। भेददृष्टि से ही इन दोनों में भेद दिखाई पड़ता है। योग में चित्त की महत्ता स्वतःसिद्ध है। उस पांतजल योग का भी प्रभाव बौद्धों के ऊपर पड़ा था जिसमें चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि दर्शन और साधना की दृष्टि से बौद्धसिद्धों के मूलाधार शून्यवाद या माध्यमिक मत, विज्ञानवाद या योगाचार मत और भारत की तांत्रिक धारा थी।

इन दार्शनिक और साधनात्मक आधारों को लेकर तांत्रिक बौद्धों का विकास हुआ। इस विकास को ध्यान से न देखने के कारण बहुत से लेखकों को भ्रम हो गया। वस्तुतः वज्रयान और सहजयान दो यान हैं। वज्रयान के संस्कृत में लिखे विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों तथा बौद्ध सहजिया सिद्धों की लोकभाषा की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात निर्भ्रांत हो जाती है। वज्र के स्थान पर सहज की प्रतिष्ठा, बाह्य साधना

1. *विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य का 9वाँ तथा 11वाँ परिच्छेद।*

के स्थान पर अंतस्साधना पर जोर, महायान के तंत्र, मंत्र, समाधि, आसन आदि का खंडन—ये सभी बातें सहजयान को वज्रयान से अलग सिद्ध करती हैं। कुछ तत्त्व जैसे गुह्यतत्व, पिंडब्रह्मांडवाद, चक्र, शक्तितत्व, नाड़ीतत्त्व, महासुखवाद आदि शब्दांतर और मानांतर से ही स्वीकार कर लिए गए। गुह्यसमाजतंत्र तथा उसके बाद के अन्य ग्रंथों में विविध देवताओं की कल्पना अत्यधिक तीव्रता से हो रही थी। सहजयान की रचनाओं में बहुदेववाद की भर्त्सना की गई है, उसे निरर्थक बताया गया है। केवल चित्तमार्ग को ही सर्वोत्तम मार्ग बताया गया है। कालविजय को साधना का आवश्यक अंग स्वीकार कर उसके मार्ग को मध्यममार्ग या अवधूतीमार्ग बताया गया है। सहजसुख में अद्वैतस्थिति को प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था। यह माना गया कि परमार्थत: प्रत्येक प्राणी शुद्ध है। प्रत्येक में धर्ममहासुख या सहजसुख या सहजामृत रस या सहज रस या महारस सदैव स्थित रहता है। इसी तत्त्व को परमार्थ कहा गया है। संसार और निर्वाण में, जन्म और मृत्यु में कोई भेद, समदर्शिता के कारण, नहीं माना गया। उस रस या तत्त्व को प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति इन दोनों में कोई भेद नहीं करता। कल्पना से मुक्त चित्त या निर्विकल्प चित्त इन द्वंद्वों से परे होता है। अत: इस चित्त के मार्ग को ही साधन-मार्ग कहा गया। परमार्थ चित्त सर्वथा मुक्त रहता है, इसीलिए चित्तमार्ग ही मुक्ति-मार्ग है। यह संसार चित्त की ही सृष्टि है। शुद्ध चित्त संसार में व्याप्त अमृततत्त्व का पान करता है। विकल्पग्रस्त चित्त विष का भक्षण करता है। संसार में ही रहकर उसके अमृततत्त्व या निर्वाणतत्व को ग्रहण करना ही महासुख की प्राप्ति है। यह जगत् चंद्र और जल में पड़नेवाले उसके प्रतिबिंब के समान ही सत्-असत् की कोटियों से परे है। महासुख रस सहज तत्त्व है। चित्त की विमुक्तावस्था ही मुक्ति है। मुक्ति की अवस्था में वह परमज्ञान या शून्यता को प्राप्त कर लेता है।[1]

इस प्रकार की विचारधारा और साधन-पद्धति का अनुसरण करनेवाले बौद्धसिद्धों और नाथसिद्धों को एक ही परम्परा का, एक ही संप्रदाय का अनुवर्तन करनेवाला माना जाता है। बौद्धसिद्ध और नाथसिद्ध साहित्य का अध्ययन करने से यह बात ठीक नहीं मालूम पड़ती। इस सम्बन्ध में तीन विवेचकों के मत का विचार किया जा सकता है—पं० रामचन्द्र शुक्ल, महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डॉ० प्रबोधचंद्र बागची। शुक्लजी राहुलजी के विवेचन और निष्कर्ष को प्रमाण मानकर चले हैं। अत: नीचे राहुलजी और डॉ० बागची की स्थापनाओं की परीक्षा की जा रही है।

शुक्लजी के अनुसार नाथ संप्रदाय बौद्ध वज्रयान की एक शाखा-मात्र है, जिसने कालक्रम में अपने को वज्रयानी साधना और संप्रदाय से पूर्णतया अलग कर लिया था। राहुलजी के अनुसार जालंधरपाद को आदिनाथ (शिव) माना गया और यह निश्चय

1. *विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य,* पृ० 67-70, 78-85, 163-171, 171-183; 175, 183, 195-197 आदि।

किया गया कि जालंधर पहले बौद्ध थे, बाद में पश्चिमी प्रदेशों में आकर उन्होंने नाथ संप्रदाय का प्रचार किया। इस मत के अनुसार 'रत्नाकर जोपम कथा' नामक वज्रयानी रचना प्रामाणिक रचना है। लेकिन इस रचना की शुद्ध ऐतिहासिकता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यदि राहुलजी की दृष्टि में नाथ संप्रदाय बौद्ध उपयान है या वज्रयान का विकसित रूप है तो उसमें वज्रयान की कुछ विशेषता भी होनी चाहिए। राहुलजी ने वज्रयान की चार चीजें मुख्य मानी हैं—मद्य, मंत्र, हठयोग और स्त्री; किन्तु उन्होंने इन तत्त्वों को नाथपंथ में कहीं भी नहीं दिखलाया है। उन्होंने तो यह भी लिखा है कि नाथमत ने कुछ अंशों में अपने को वज्रयान से अलग रखा। वे बौद्धसिद्धों को निरीश्वरवादी और नाथसिद्धों को ईश्वरवादी मानते हैं।[1] नाथ पंथ की साधनपद्धति और दर्शन में कौन-कौन से ऐसे तत्त्व हैं जो बौद्ध स्रोत से नि:सृत सिद्ध करते हैं, इसका कहीं भी संकेत नहीं मिलता। नाथपंथियों की साधना में मद्य और स्त्री निषिद्ध हैं। हिन्दी-रचनाओं से यह बात सिद्ध होती है। हठयोग और मंत्र विचारणीय हैं। राहुलजी ने वज्रयान और सहजयान में भेद नहीं किया है। बौद्धसिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं में उपलब्ध साधनपद्धति और दर्शन में तथा बौद्धसिद्धों की कुछ संस्कृत-रचनाओं में वर्णित साधनपद्धति और दर्शन में पर्याप्त अंतर है। वज्रयानियों के संस्कृत ग्रंथ 'गुह्यसमाजतंत्र' में अवश्य हठयोग का विधान है, किन्तु 'बौद्ध गान ओ दोहा' की रचनाओं में हठयोग का विरोध मिलता है।[2]

नाथसिद्धों और बौद्धसिद्धों के सम्बन्ध को स्थिर करने के लिए विद्वानों ने कृष्णपाद और जालंधरपाद के सम्बन्ध पर भी विचार किया है। बताया गया है कि कृष्णपाद जालंधरपाद के शिष्य हैं। कृष्णपाद सहजिया सिद्ध हैं जिनकी अपभ्रंश रचनाओं में मंत्र, तंत्र, हठयोग, कृच्छ्राचार का विरोध मिलता है। अर्थात् यदि राहुलजी की दृष्टि से जालंधरपाद से नाथमत का उद्भव माना जाय तो कृष्णपाद को भी लगभग उसी प्रकार का साधन मिलना चाहिए था। जालंधरपाद की कोई भी शुद्ध अपभ्रंश रचना उपलब्ध नहीं है। कृष्णपाद की रचनाओं के आधार पर गुरु जालंधरपाद हठयोगी नहीं थे। इस प्रकार वे कृच्छ्राचार और काया-कष्ट-साधना के विरोधी थे। अब यह प्रमाणित हो चुका है कि गोरक्ष द्वारा प्रचारित नाथमत में हठयोग साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान था, जबकि उसका लक्ष्य राजयोग था। एक अन्य शब्द मुद्रा है। वज्रयानियों में 'मुद्रा' शब्द किस अर्थ में ग्रहीत था, यह राहुलजी ने नहीं बताया। तांत्रिकों में देवार्पण के लिए निर्मित पक्वान्न, उँगलियों से बनाए गए विभिन्न प्रकार के आकार, शरीर के हाथ-पैर आदि की विभिन्न स्थितियों, बंधों, इनसे युक्त श्वास नियंत्रणादि की क्रियाओं तथा साधन संगिनी को मुद्रा कहा गया है। राहुलजी द्वारा विवेचित वज्रयान में इनमें से कौन सा अर्थ ग्रहीत

1. *पुरातत्त्व निबंधावली, राहुल सांकृत्यायन,* पृ० 143, 161.
2. *तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य,* पृ० 117, 127, 153, 194.

है ? तांत्रिक बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से 'उँगलियों के आकार' तथा 'साधिका' शक्ति या विद्या का अर्थ ग्राह्य मालूम पड़ता है। इनमें से कोई भी नाथयोगियों को ग्राह्य नहीं है। नाथपंथियों में मुद्रा शब्द कान में पहने जानेवाले एक प्रकार के कुंडल के अर्थ में व्यवहृत होता है। यह कुंडल दीक्षा देते समय पहनाया जाता है। हठयोगी क्रिया के अर्थ में भी यह ग्राह्य है। इससे स्पष्ट है कि साधना की दृष्टि से भी नाथ लोग बौद्ध नहीं थे। उनमें जो अन्य तत्त्व दूसरे विद्वानों के अनुसार पाए जाते हैं, उनकी ओर राहुलजी ने कोई संकेत नहीं किया। मंत्र तत्त्व तो सामान्य तांत्रिक साधना का तत्त्व है।

इसी प्रकार और भी भेदक बातें हैं। नाथों का चमत्कार, सिद्धि, गूढ़ता आदि पर विशेष आग्रह उन्हें अन्य सहजिया संप्रदायों से अलग कर देता है। ये सहजिया संप्रदाय हैं—बौद्ध सहजिया, वैष्णव सहजिया, बाउल आदि। इन सहजिया संप्रदायों में गूढ़ क्रियाओं, जादूगरी, चमत्कारप्रदर्शन, कठोर कष्टमय साधन, बाह्य प्रदर्शन आदि के प्रति तीव्र विरोधभाव था। किन्तु नाथमत की उपर्युक्त विशेषताएँ केवल बाह्य हैं, आंतरिक नहीं। यद्यपि बौद्ध सहजिया लोगों ने नाथसिद्धों के समान ही कायसाधन को स्वीकार किया था तथापि उनका लक्ष्य था—आत्म और अनात्म का पूर्ण सुखात्मक ज्ञान। इससे भिन्न नाथसिद्धों की साधना का लक्ष्य था अमरताप्राप्ति तथा उससे महेश्वरत्व की प्राप्ति। इस प्रकार नाथों का लक्ष्य अमरता तथा उससे प्राप्त शिवत्व है और बौद्ध सहजिया लोगों का लक्ष्य था महासुख। नाथसिद्ध जन्म और मृत्यु की सत्यता में विश्वास करते थे तथा परिवर्तनशील भौतिक शरीर को सूक्ष्म वायव्य शरीर में द्रव्यांतरित कर तथा उसे भी पुन: दिव्य देह में रूपांतरित कर उस जन्म-मृत्यु-चक्र का निवारण करते थे; किन्तु बौद्ध सहजिया लोग अपनी बौद्ध परम्परा के विचारवाद (प्रत्ययवाद) के अनुसार जन्म-मृत्यु-चक्र को आत्म-अनात्म के शून्यज्ञान का साक्षात्कार कर निवारित करना चाहते थे। इस शून्यज्ञान को केवल महासुख से साध्य माना गया। नाथों में जरामृत्युशील इस भौतिक शरीर के द्रव्यांतर की यौगिक प्रक्रिया का आग्रह विशेष है; किन्तु बौद्ध सहजिया लोगों में उस यौनयौगिक साधना का आग्रह विशेष है, जिससे सामान्य यौन सुख उच्चतर और गंभीरतर आनन्द में परिणत हो जाता है। निश्चय ही, नाथों का कायासाधन, बौद्ध सहजिया लोगों में मिलता है तथा दोहों और चर्यापदों में अमृतक्षरण तथा उसके पान के सन्दर्भ भी मिलते हैं तथा इस पान से स्कंधों की दृढ़ता तथा अजरामरता की प्राप्ति भी स्वीकार की गई है, किन्तु पद्धति में पर्याप्त भेद है।[1]

इन भेदों के कारण ही नाथसिद्धों ने साधना में किसी भी प्रकार के नारी-संपर्क का विरोध किया है और उसे बाघिन आदि शब्दों से संबोधित किया है। इसके विरुद्ध बौद्ध सहजिया लोगों ने स्पष्ट रूप से, सभी प्रकार से, नारी को प्रज्ञा या शून्यता का

1. *आब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स, डॉ० शशिभूषण दासगुप्त,* पृ० 248-249, 262-263, 284-285.

अवतार घोषित कर साधना के क्षेत्र में उसे सर्वथा ग्राह्य माना और साथ ही बिना उसके अपने प्राप्य महासुखात्मक शून्यज्ञान को असंभव माना। उसके बिना आध्यात्मिक जीवन में सिद्धि असम्भव है। निश्चय ही, यह ध्यान रखने योग्य है कि प्रज्ञा या योगिनी या मुद्रा बौद्ध सहजिया लोगों में सदैव भौतिक शरीर की नारी के अर्थ में गृहीत नहीं रही है। वह नैरात्मा, शून्यता या सहज-सुन्दरी भी है, यह भी स्पष्ट है कि बौद्ध सहजयानियों का महासुख शुद्ध शारीरिक अनुभव नहीं है। उसमें एक मनोवैज्ञानिक तत्व भी संनिहित है। नाथ साधना में यह दृष्टिकोण (कामावेग और कामानन्द) अभाव के कारण पूर्णतया स्पष्ट है।[1] ऐसी स्थिति में कुछ लोग वज्रोली, सहजोली, अमरोली आदि साधन क्रियाओं की ओर संकेत करते हैं कि नाथ साधना में ये तत्त्व बौद्ध साधना के अवशिष्ट चिह्न हैं। इन साधनाओं में नारी संपर्क अनिवार्य है। किन्तु ये सब शुद्ध रूप से यौगिक क्रियाएँ ही हैं। इनमें नारी को दार्शनिक अर्थ नहीं दिया गया है और न उसे विचारात्मक तत्त्व ही माना गया है। ये साधनाएँ यह सिद्ध करने के स्थान पर कि नाथ लोग पहले बौद्धसिद्ध थे बाद में शैव हो गए, अपेक्षाकृत यह सरलता से संकेत करती हैं कि समकालीन साधना होने के कारण किसी प्रकार ये साधनाएँ नाथसाधन में प्रवेश कर गई हैं। इस प्रकार इन्हें प्रक्षिप्त भी कहा जा सकता है। यदि पारमार्थिक अर्थ में लिया जाय तो कोई बाधा भी नहीं है और न नाथमत की मूल प्रकृति के विपरीत ही प्रतीत होता है। सिद्धसिद्धांतसंग्रह में कहा गया है कि वज्रोली के केवल ज्ञानमात्र से सिद्धमार्ग प्रकाशित होता है।[2] अर्थात् यह साधना पारमार्थिक रूप में ग्राह्य थी। स्त्रीनिस्संगता को नाथसाधना का वैशिष्ट्य स्वीकार करते हुए भी यह अनुमान किया जा सकता है कि ये साधनाएँ यदि बाद में प्रक्षिप्त हुईं तो भी ये केवल गृहस्थ नाथयोगियों द्वारा साध्य रही होंगी। ऐसा स्वीकार कर लेने पर नाथमत के साधन ग्रन्थों में उनकी उपस्थिति से विचिकित्सा करने की कोई आवश्यकता न होगी। इस विवेचन से यही स्पष्ट होता है कि नाथ और बौद्ध दोनों साधनों में तांत्रिक तत्त्व मिलते हैं, फिर भी भेद यह है कि दोनों ने अपने मत की मूल प्रकृति के अनुसार ही इन तत्त्वों को ग्रहण किया है।

इस साधनात्मक भेद का मूल उनके दर्शनों में भी दिखाई पड़ता है। विद्वानों ने सांख्य मत की पुरुषप्रकृति की विचारधारा, बौद्धों की उपाय प्रज्ञा की विचारधारा तथा शैवों और शाक्तों की शिवशक्ति की विचारधारा में स्पष्ट अंतर कर लिया है। शैवों ने और नाथयोगियों ने भी, सांख्य मत के 25 तत्त्वों को भी स्वीकार कर लिया है; किन्तु उनकी व्याख्या अपने ढंग से की है। यह तत्त्वज्ञान बौद्धों में नहीं मिलता। बौद्ध सहजिया लोगों की दार्शनिक परम्परा में प्रज्ञा, शून्यता, नारीशक्ति निष्क्रिय आदि विशेषणों से व्यक्त की गई है। उनके यहाँ नरतत्त्व उपाय सक्रिय है। दूसरे, प्रज्ञा निर्वाणतत्त्व और पारमार्थिक

1. *आ० रे० क०*, पृ० 286-287.
2. *नाथ संप्रदाय, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी*, पृ० 71-72, 125-126.

सत्य का प्रतिनिधित्व करती है तथा उपाय संसार तत्त्व, सांवृतिक और सांसारिक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। नाथों में शैव परम्परा के अनुकूल शिव निष्क्रियता, स्थिरता, अचंचलता, अमरता और परमार्थ के प्रतीक हैं तथा शक्ति सक्रियता, चंचलता, परिवर्तन संसार आदि का प्रतीक है। ऐसी अवस्था में नाथयोगियों ने अपनी प्रकृति के अनुकूल अमरता, विराग आदि के प्रतीक को ग्रहण किया तथा शक्ति को बलात् आक्रांत कर अपनी साधना के अनुकूल नियंत्रित करना उचित माना। यह भेद नाथसिद्धों और बौद्धसिद्धों में महान् अंतर उपस्थित करता है।

कौलज्ञाननिर्णय आदि रचनाओं के आधार पर तो यह निष्कर्ष निकलता ही है कि मत्स्येंद्र बौद्ध नहीं थे और न उनका योगिनीकौल मत ही बौद्ध था। साथ ही नाथयोगियों की यदि मत्स्येंद्रेतर रचनाओं की मीमांसा कर साधनपद्धति और दर्शन को उपस्थित किया जाय तो यह सप्रमाण सिद्ध हो जाएगा कि नाथमत न तो बौद्धसिद्धों से प्रवर्तित है और न उसके मूल सिद्धांत ही बौद्ध हैं। इस प्रकार नाथसिद्ध और बौद्धसिद्ध भिन्न-भिन्न हैं तथा उनके द्वारा प्रवर्तित, प्रचारित संप्रदाय और धर्ममत समकालीन भिन्न-भिन्न धर्ममत हैं। जो समानताएँ मिलती हैं, वे भारतीय तांत्रिक धर्मसाधना की विशेषताएँ हैं, जो एकसाथ ही जैनों, बौद्धों, शैवों, शाक्तों, वैष्णवों—सबमें मिलती हैं। मत्स्येंद्र और गोरक्ष के प्रचारित मतों में जो अन्तर है, उसका भी यदि भलीभाँति विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि गोरक्ष मत्स्येंद्र की शुद्ध नाथयोगी साधना के शिष्य थे। मत्स्येंद्र की योगिनीकौल साधना अधिकांशत: शाक्त और वीराचारी प्रतीत होती है तथा वह बाद में मत्स्येंद्र द्वारा प्रचारित की गई थी। शाक्तों और तांत्रिकों की वीराचारी साधना से प्रभावित होने के कारण उसमें प्राय: वैसी कुछ विशेषताएँ प्रकट हुई हैं जैसी बौद्धसिद्धों की विभिन्न रचनाओं में मिलती हैं। इस साम्य के कारण ही बौद्धों में मत्स्येंद्र का सम्मान उपयुक्त प्रतीत होता है, साथ ही यही लोगों में भ्रम भी उत्पन्न करता है।[1] इस प्रकार संप्रदाय, साधना और दर्शन की आधारभूत प्रवृत्तियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथसिद्धों की परम्परा बौद्धसिद्धों से मूलत: भिन्न है।

•

1. *विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य,* पृ० 227-231.

चौथा परिच्छेद

नाथ साहित्य

नाथसिद्धों की सांप्रदायिक परम्परा जिस प्रकार बौद्ध परम्परा से भिन्न है, उसी प्रकार नाथों का साहित्य भी बौद्धों से भिन्न है। बौद्धसिद्धों ने वज्रयान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और संस्कृत में भी क्रियापद्धति और सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ लिखे हैं साथ ही उन्हीं लोगों ने अपभ्रंश में भी रचनाएँ लिखी हैं। संस्कृत ग्रन्थों की भाषा महायान के अनेक ग्रन्थों की भाषा की तरह ही मिश्र संस्कृत जैसी है। अर्थात् व्याकरण सम्बन्धी नियमों और प्रतिबंधों का कठोर पालन इन वज्रयान की संस्कृत रचनाओं में भी नहीं मिलता।[1] तात्पर्य यह है कि बौद्ध सहजयानी सिद्धों के मूल आधार ग्रन्थों की भाषा के समान ही, भाषा की दृष्टि से, नाथपंथियों के प्रमाण ग्रन्थों की भाषा भी मिश्र संस्कृत है तथा इनकी भाषा में व्याकरणिक अशुद्धियों की संख्या पर्याप्त है। यह भी निश्चित है कि भाषासाम्य के होते हुए भी बौद्धसिद्धों और नाथसिद्धों या नाथयोगियों के प्रमाण ग्रन्थ भिन्न हैं। बौद्धसिद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ चर्यापदों और मुख्य रूप से दोहा छंदों में मिलती हैं। चर्यापदों की अपभ्रंश भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं जब कि दोहों में पश्चिमी अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप मिलता है। नाथयोगियों की भी रचनाएँ लोकभाषा में मिलती हैं, जिसे शब्दांतर से देशी भाषा का एक रूप अथवा 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा जाता है। इसलिए इनकी भाषा का जो रूप उपलब्ध है उसे अपभ्रंश भाषा का एक परवर्ती विकास कहा जा सकता है अथवा उसे अपभ्रंशोत्तर देशी भाषा कह सकते हैं। भाषा की दृष्टि से इनकी रचनाओं का विस्तृत विचार आगे किया गया है; किन्तु यहाँ इतना कह रखना आवश्यक है कि मीनपाद नाम के एक सिद्ध की, जिसे कभी-कभी मीननाथ नामक नाथपंथी सिद्ध से अभिन्न माना जाता है, एक रचना 'बौद्ध गान ओ दोहा' के एक चर्यापद की संस्कृत टीका में टीकाकार मुनिदत्त ने उद्धृत की है तथा जिसे म० म० हरप्रसाद शास्त्री प्राचीन बंगला का उदाहरण मानते हैं।[2] उक्त बातों के स्पष्टीकरण के लिए नाथों के साहित्य का एक परिचय आवश्यक है, जिसके आधार पर आगे विवेचन किया गया है।

हिन्दी का विवेचन करनेवालों में सबसे पहले मिश्रबंधुओं ने नाथपंथियों को शैव माना था। उस समय तक गोरक्षनाथ के संस्कृत में लिखे नौ ग्रन्थ परिचित थे—गोरखशतक (ज्ञानशतक), चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योगचिंतामणि, योगमहिमा,

1. *तां० बौ० सा० सा०*, पृ० 34, 185-186.
2. *वही*, पृ० 223, 258.

योगमार्त्तंड, योगसिद्धांतपद्धति, विवेकमार्त्तंड और सिद्धसिद्धांतपद्धति।[1] शुक्लजी ने गोरक्षनाथ लिखित संस्कृत ग्रन्थों की परिगणना न कर नाथपंथीय संस्कृत ग्रन्थों की गणना की है। उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त ग्रन्थ हैं—शक्तिसंगमतंत्र, निरंजनपुराण, वैराटपुराण।[2] जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स ने अधुनातन नाथपंथियों द्वारा प्रयुक्त तथा मान्य ग्रन्थों की एक लम्बी सूची दी है जिसमें हिन्दी तथा संस्कृत ग्रन्थों का विभेद नहीं किया गया है। उसमें गोरक्ष, मत्स्येंद्र आदि के अतिरिक्त विभिन्न सिद्धों के ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। कुछ अन्य संप्रदायों द्वारा मान्य ग्रन्थ भी अनुसूचित हैं—रुद्रयामलतंत्र, विष्णुसहस्रनाम आदि।[3] ब्रिग्स ने गोरक्षशतक को गोरक्षनाथ की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना माना है और उसका रोमन अक्षरों में संपादन कर अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है।[4] डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने मत्स्येंद्रनाथ की संस्कृत रचनाओं का संपादन 'कौलज्ञाननिर्णय' नामक संग्रह ग्रन्थ के रूप में किया। इसमें कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीरतंत्र (ए), अकुवीरतंत्र (बी) , कुलानंदतंत्रम्, ज्ञानकारिका ग्रन्थ संपादित हैं।[5] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरक्ष लिखित 28 संस्कृत ग्रन्थों की एक सूची दी है। उन्होंने यह मत भी व्यक्त किया है कि "इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे।" उपरिलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त ग्रन्थ हैं—अमनस्क, अमरौघशासनम्, अवधूतगीता, गोरक्षकल्प, गोरक्षकौमुदी, गोरक्षगीता, गोरक्षचिकित्सा, गोरक्षपंचय, गोरक्षपद्धति, गोरक्षसंहिता, ज्ञानामृतयोग, नाड़ीज्ञानप्रदीपिका, महार्थमंजरी, योगबीज, योगसिद्धासनपद्धति, श्रीनाथसूत्र, हठयोग, हठसंहिता।[6] द्विवेदीजी द्वारा उल्लिखित कई ग्रन्थों का उल्लेख ऊपर हो जाने के कारण उनकी यहाँ गणना नहीं की गई है। म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज ने गोरक्षसिद्धांतसंग्रह और सिद्धसिद्धांतसंग्रह नामक ग्रन्थों का संपादन सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, काशी के अंतर्गत किया था।[7] डॉ० कल्याणी मल्लिक ने गोरक्षनाथ कृत सिद्धसिद्धांतपद्धति, मीननाथ (मत्स्येंद्रनाथ) कृत योगविषय, गोरक्षरचित अमरौघप्रबोध और योगमार्त्तंड नामक संस्कृत ग्रन्थों का संपादन किया।[8] इस प्रकार नाथसिद्धों के कुल 37 ग्रन्थों की तालिका एक ऐसी तालिका है जो नाथपंथियों में मान्य और प्रचलित है।

1. *मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग,* पृ० 211.
2. *हिं० सा० इ०, शुक्ल,* पृ० 19.
3. *गो० क० यो०, जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स,* पृ० 252-257.
4. *वही,* पृ० 284-304.
5. *कौलज्ञाननिर्णय, सं० डॉ० बागची। कौलज्ञाननिर्णय,* पृ० 1-83, *अकुलवीरतंत्रम् (ए),* पृ० 84-91, *अकुलवीरतंत्रम् (बी),* पृ० 92-106, *कुलानंदतंत्रम्,* पृ० 107-113, ज्ञानकारिका, पृ० 114 *से आगे।*
6. *नाथ संप्रदाय, द्विवेदी,* पृ० 98-100.
7. *सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, संख्या 13—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, सं० 18—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह।*
8. *सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑव नाथयोगीज़, सं० डॉ० कल्याणी मल्लिक।*

इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता प्राय: संदिग्ध है। डॉ० बागची द्वारा संपादित ग्रन्थ पूर्णतया वैज्ञानिक रीत्या संपादित हैं तथा प्रयुक्त हस्तलेखों का समय भी लगभग 12वीं शताब्दी है।[1] अब तक मत्स्येंद्रनाथ लिखित 'योगविषय' सहित 6 ग्रन्थ संपादित-प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से प्रथम पाँच ग्रन्थों की प्रामाणिकता के विषय में अभी तक संदेह नहीं प्रकट किया गया है। गोरखनाथ की कोई भी संस्कृत-रचना इस प्रामाणिकता के साथ न तो उपलब्ध हुई और न उनका इस प्रकार प्रकाशन-संपादन ही हुआ है। पुराने हस्तलेखों के उपलब्ध होने पर ही उनकी असंदिग्ध प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है। वैज्ञानिक पद्धति से सिद्धसिद्धान्तपद्धति का सर्वप्रथम संपादन डॉ० कल्याणी मल्लिक ने किया। इसके तीन हस्तलेखों में से तंजौर से प्राप्त हस्तलेख ताड़पात्र पर है, लिपि तेलुगु है तथा उसके समय का अनुमान संपादिका ने 1699 ई० किया है।[2] डॉ० मल्लिक ने अमरौघप्रबोध और योगमार्त्तंड को भी गोरक्ष की रचना माना है।[3] ब्रिग्स ने सिद्धसिद्धांतपद्धति को राजेंद्रलाल मित्र के प्रमाण पर नित्यानन्द कृत माना है, यद्यपि एक अन्य स्रोत को उद्धृत कर उन्होंने इसे गोरक्षनाथकृत ही कहा है।[4] गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में इसे एक स्थान पर नित्यनाथकृत तथा अन्यत्र श्रीनाथकृत कहा गया है।[5] डॉ० मल्लिक द्वारा प्राप्त हस्तलेखों में इसे गोरक्षनाथकृत ही कहा गया है।[6] अधिकांश प्रमाण गोरक्ष के पक्ष में इसका निर्णय करते हैं। डॉ० द्विवेदी तथा ब्रिग्स ने अमरौघप्रबोध नाम के किसी ग्रन्थ की ओर संकेत नहीं किया है। योगमार्त्तंड का नाम तो उन लोगों ने अवश्य दिया है, किन्तु वे लोग उसका कोई विवरण नहीं दे सके थे। राजेंद्रलाल मित्र ने योगसिद्धांतसंग्रह, सिद्धांतपद्धति और ज्ञानामृत को भी गोरक्षकृत ही कहा है।[7] डॉ० द्विवेदी ने अमरौघशासनम्, अवधूतगीता, गोरक्षपद्धति (गोरक्षशतक या गोरक्षज्ञान+योगशात्र), महार्थमंजरी, विवेकमार्त्तंड को भी गोरक्षकृत ही कहा है। यद्यपि डॉ० द्विवेदी ने गोरक्षकृत कुल 28 ग्रन्थों की एक सूची दी है तथापि उन्होंने सभी के गोरक्षकृत होने में संदेह व्यक्त किया है।[8] डॉ०कल्याणी मल्लिक ने चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योगमहिमा, योगसिद्धांतपद्धति, गोरक्षकला, गोरक्षसहस्रनाम और गोरक्षपिष्टिका को भी गोरक्षकृत ही कहा है।[9]

1. *कौलज्ञाननिर्णय, इंट्रो०,* पृ० 5.
2. *सि० प० अ० ना० यो०, इंट्रो०,* पृ० 33.
3. *वही, इंट्रो०,* पृ० 34.
4. *गो० क० यो०, ब्रिग्स,* पृ० 255.
5. *गो० सि० सं०,* पृ० 11.
6. *सि० प० अ० ना० यो०, इंट्रो०,* पृ० 32-33.
7. *गो० क० यो०,* पृ० 255.
8. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 98.
9. *ना० सं० द० सा० प्र०,* पृ० 122-123.

इस प्रकार यद्यपि विद्वानों ने लगभग 35 ग्रन्थों को गोरक्षकृत माना है तथापि उनमें से निम्नलिखित को गोरक्षकृत मानने का विशेष आग्रह प्रतीत होता है—

1. अमरौघशासनम्, 2. अवधूतगीता, 3. गोरक्षगीता, 4. गोरक्षशतक, 5. विवेकमार्त्तंड, 6. महार्थमंजरी, 7. सिद्धसिद्धांतपद्धति, 8. चतुरशीत्यासन, 9. ज्ञानामृत, 10. योगमहिमा, 11. योगसिद्धांतपद्धति, 12. गोरक्षकला, 13. गोरक्षसहस्रनाम, 14. गोरक्षपिष्टिका तथा 15. योगबीज।

ब्रिग्स ने इनमें से केवल गोरक्षशतक को गोरक्ष की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना माना है। ज्ञानशतक और ज्ञानप्रकाशशतक भी गोरक्षशतक के नामांतर हैं। फर्कुहर के प्रमाण को उद्धृत कर उन्होंने बताया है कि गोरक्षकल्प नामक ग्रन्थ का गोरक्षपद्धति के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया गया है।[1] गोरक्षपद्धति में कुल दो शतक हैं। प्रथम शतक को गोरक्षशतक, गोरक्षज्ञान, ज्ञानप्रकाशशतक और ज्ञानशतक भी कहते हैं। दूसरे शतक को योगशास्त्र भी कहते हैं।[2] गोरक्षपद्धति की हिन्दी टीका में बहुत से ऐसे श्लोक भी हैं जो हठयोगप्रदीपिका में मिलते हैं। गोरक्षशतक टीका, गोरक्षशतक टिप्पण, गोरक्षकल्प, गोरक्षपद्धति, योगसिद्धांतपद्धति और सिद्धांतपद्धति नामक ग्रन्थ गोरक्षशतक नामक ग्रन्थ के भाष्य, परिशिष्ट, टिप्पणी आदि हैं। गोरक्षपद्धति में उसे 'गोरक्षसंहिता' भी कहा गया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि गोरक्षशतक इस संप्रदाय का मूलभूत ग्रन्थ है। इसे प्रमाण और परम्पराएँ गोरक्षनाथकृत तथा बारहवीं शताब्दी की रचना स्वीकार करती है।[3]

गोरक्षशतक अथवा गोरक्षपद्धति के इस प्रकार गोरक्षकृत और संप्रदाय का मूलभूत ग्रन्थ मानने के विरुद्ध भी कई प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। प्रथम तथा द्वितीय शतकों की रचना-पद्धति से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ गोरक्षसंहिता के बाद लिखा गया है क्योंकि उस रहस्यवादी प्राचीन परम्परा का प्रयोग इसमें नहीं दिखाई पड़ता, जैसा कौलज्ञाननिर्णय में दिखाई पड़ता है। कई स्थानों पर[4] गोरक्षसंहिता के संदर्भ आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि किसी परवर्ती नाथयोगी ने इसे गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध कर दिया और वह भी गोरक्षसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि को आधार बना कर 'ग्रंथांतरे' शीर्षक देकर अनेक श्लोक हठयोगप्रदीपिका से उद्धृत किए गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका संग्राहक गोरक्षसंहिता और हठयोगप्रदीपिका को आधार ग्रन्थ मानता है। इन ग्रन्थों में गोरक्षसंहिता को प्रधानता दी गई है। हठयोगप्रदीपिका के श्लोकों को 'ग्रन्थांतरे' करके 'शतक' के श्लोकों से अलग उद्धृत किया गया है; किन्तु गोरक्षसंहिता के श्लोक

---

1. *गो० क० यो०*, पृ० 225.
2. *नाथ संप्रदाय*, पृ० 99-100.
3. *गो० क० यो०*, पृ० 255-257.
4. *उदाहरणार्थ—गोरक्षपद्धति*, 1-4, 2-99.

शतक के श्लोकों में अंतर्भूत हैं। सम्भव है कि हठयोगप्रदीपिका के श्लोकों का ग्रहण उद्धरण टीकाकरण ने किया हो। निष्कर्ष यह है कि गोरक्षपद्धति के प्रथम शतक अथवा द्वितीय शतक गोरक्षनाथ की रचनाएँ नहीं हैं। हठयोगप्रदीपिका तो ब्रिग्स के अनुसार 15वीं शताब्दी की रचना है।[1] हम अन्यत्र यह उल्लेख कर चुके हैं कि यह ग्रन्थ 14वीं शताब्दी की रचना है। इन सबके होते हुए भी यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गोरक्षशतक को परवर्ती नाथपंथी योगियों ने इतना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ समझा कि वे लोग उस पर अनेक भाष्य, टीका, व्याख्या आदि के ग्रन्थ लिखते रहे।

गोरक्षशतक के समान ही सिद्धसिद्धांतपद्धति भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के आधार पर आगे चलकर सिद्धसिद्धांतसंग्रह और गोरक्षसिद्धांतसंग्रह जैसे ग्रन्थ लिखे गए। इन ग्रन्थों में यत्रतत्र सिद्धसिद्धांतपद्धति के उद्धरण भी मिलते हैं।[2] इस प्रकार इन संस्कृत ग्रन्थों में गोरक्षशतक (कुछ अंशों में गोरक्षसंहिता) तथा सिद्धसिद्धांतपद्धति—ये दो ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं तथा गोरक्षकृत भी हैं। अमरौघशासनम् तथा महार्थमंजरी ग्रंथ भी गोरक्षकृत माने जाते हैं तथा विभिन्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। शैवागमों से नाथमत का संबंधनिरूपण करने के लिए अमरौघशासनम् महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की रचनातिथि अथवा लिपिकाल अज्ञात है। सांख्ययोग, काश्मीर शैव मत और तंत्र दर्शन के 36 तत्त्वों के साथ सम्बन्ध विचार के लिए महार्थमंजरी विचारणीय ग्रन्थ है।[3] इन आधारों पर दार्शनिक, साधनात्मक तथा सांप्रदायिक विचारधारा के विवेचन की दृष्टि से गोरखनाथ के निम्नलिखित ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं तथा संस्कृत में लिखे हैं—

1. सिद्धसिद्धांतपद्धति, 2. गोरक्षसंहिता, 3. अमरौघशासनम्, 4. महार्थमंजरी।

इनमें से दर्शन की दृष्टि से सिद्धसिद्धांतपद्धति तथा महार्थमंजरी महत्वपूर्ण हैं तथा साधना की दृष्टि से गोरक्षसंहिता और अमरौघशासनम्। उपर्युक्त 15 ग्रन्थों में शेष ग्रन्थ इनके सहायक ग्रन्थों के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं। इन चार ग्रन्थों में से प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ ग्रन्थों का संपादन क्रमशः डॉ० कल्याणी मल्लिक तथा म० म० पं० मुकुंदराम शास्त्री ने विभिन्न हस्तलिखित पोथियों के आधार पर किया है।

पहले बताया जा चुका है कि नाथों की लम्बी सूची में 12 सिद्ध ऐसे हैं जो अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं तथा जिनका नाम नवनाथों की किसी न किसी सूची में अवश्य मिल जाता है। इन नाथों में से मत्स्येंद्र और गोरक्ष की संस्कृत-रचनाओं का परिचय ऊपर दिया गया है। चर्पट के एक शतक का प्रकाशन काशीस्थ गोरक्षटिल्ला की योगप्रचारिणी सभा द्वारा किया गया है। इसे चर्पटमंजरी भी कहा जा जाता है। इसका कोई भी प्रामाणिक

1. *गो० क० यो०,* पृ० 253.
2. *सि० सि० सं० 4.39, सि० सि० प० 4.28-29 में द्रष्टव्य; गो० सि० सं०,* पृ० 11-13 तक के श्लोक सि० सि० प० के पृ० 39, 1, 39 के श्लोकों से तुलनीय।
3. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 99-100.

विवरण अलभ्य है। अन्य नाथसिद्धों की ऐसी संस्कृत-रचनाएँ अभी उपलब्ध नहीं, जो प्रकृत्या नाथपंथी हों। भर्तृहरि की संस्कृत रचनाएँ, नाथसंप्रदाय की दृष्टि से संदिग्ध हैं। विभिन्न प्रमाणों पर विचार कर लोगों ने यह सिद्ध किया है कि वाक्यपदीयकार और शतककार भर्तृहरि नाथपंथी नहीं थे।[1] यह विवादास्पद विषय है जिसके लिए यहाँ पर्याप्त अवसर नहीं है।

विद्वानों का विचार था कि इन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर आगे नाथसिद्धों और योगियों ने विभिन्न रचनाएँ आधुनिक भारतीय आर्यभाषा अथवा देशी भाषा में कीं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्टतया यह निर्देश किया था कि सिद्धसिद्धांतपद्धति, विवेकमार्त्तंड, शक्तिसंगमतंत्र, निरंजनपुराण तथा वैराटपुराण नाथपंथियों के संस्कृत ग्रन्थ हैं तथा हिन्दी भाषा में लिखी पुस्तकें अधिकतर इन्हीं के अनुवाद या सार हैं।[2] इस प्रकाश में नाथपंथियों की संपूर्ण रचनाओं को देखने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। संस्कृत और हिन्दी रचनाओं के परस्पर सम्बन्ध के विषय में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है— "संस्कृत में योगियों के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे साधारण तौर पर साधनमार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रन्थ हैं। उनसे योगियों के दार्शनिक और नैतिक उपदेशों का आभास बहुत कम मिलता है। हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित हैं, उनमें भी साधनमार्ग की व्याख्या की गई है पर उनमें योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है। इस दृष्टि से इन हिन्दी रचनाओं का विशेष महत्व है।[3] नाथ संप्रदाय के सिद्धान्तों और साधनापद्धतियों के परिचय के लिए तो इनका महत्व है ही, अनेक विद्वान् परवर्ती निर्गुणमार्गी संतों की विचारधाराओं, प्रवृत्तियों, काव्यशैलियों से तुलना करने के लिए भी इनका महत्व मानते हैं।

मिश्रबंधुओं ने सर्वप्रथम नाथपंथियों की हिन्दी रचनाओं को उद्धृत किया था। उन्होंने जो रचनाएँ उद्धृत की थीं, वे भाषा के विकास और प्रकारभेद का निर्देश करने के लिए ही की गई थीं। विचारधाराओं से परिचित कराना उनका उद्देश्य नहीं था। उन्होंने गोरक्षनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी नाथसिद्ध की रचना उद्धृत नहीं की थी। सम्भवत: उस समय तक अन्य नाथपंथियों की रचनाएँ प्राप्त नहीं थीं। मिश्रबंधुविनोद में गोरक्ष की जो रचनाएँ उद्धृत हैं[4] उनमें से केवल निम्नलिखित रचना का शोध नहीं हो सका। शेष रचनाएँ बाद में विभिन्न संग्रह-ग्रन्थों में प्रकाशित संपादित हो गई हैं—

1. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 166-167.
2. *हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल,* पृ० 19.
3. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 101.
4. *मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग,* पृ० 150, 157, 211-212.

1. ''सो वह पुरुष संपूर्ण तीर्थस्नान करि चुकौ अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि को दै चुकौ अरु सहस्त्र यज्ञ करि चुकौ, अरु देवता सर्व पुजि चुकौ, अरु पितरिन को संतुष्ट करि चुकौ, स्वर्गलोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य के छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।''

2. ''श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत् है। हैं कैसे वे परमानन्द आनन्द स्वरूप है सरीर जिन्हि को। जिन्ही के नित्य गावै ते सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु हैं। मैं जु हौं गोरष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ। आत्मा ज्योति निश्चल है अंतहकरन जिनि कौ अरु मूल द्वार तै छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै; अरु जुग काल कल्प इनि की रचना तत्व जिनि गायो। सुगंध को समुद्र तिनि को मेरी दंडवत। स्वामी तुमे तो सतगुरु अम्हैं तौ सिष सबद एक पुछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस॥''[1]

द्वितीय उद्धरण का अंतिम वाक्य 'गोरखबानी' के 'मच्छींद्र गोरख बोध' के आरम्भ में अवश्य मिल जाता है;[2] किन्तु शेष वाक्य अभी तक मुद्रित रूप में अप्राप्य हैं। मिश्रबंधुओं ने लिखा है—गोरखनाथजी का लिखा हुआ एक गद्य ग्रन्थ भी खोज में मिला है। अत: सबसे प्रथम गद्य लेखक गोरखनाथजी ही हैं।[3] किन्तु ये गद्यांश उनके किस ग्रन्थ से उद्धृत किए गए हैं, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। आगे के इतिहासकारों और शोधकों ने भी इन महत्वपूर्ण गद्य के उद्धरणों का शोध नहीं किया। आचार्य शुक्ल ने ऊपर के दूसरे उद्धरण को उद्धृत किया है, किन्तु उन्होंने भी इसके स्रोत की ओर संकेत नहीं किया।[4] डॉ० रामकुमार वर्मा ने उद्धरण को यथावत् पूर्ववर्ती इतिहासकारों का अनुसरण कर उद्धृत कर दिया।[5] मिश्रबंधुओं द्वारा उद्धृत एक अन्य गद्यांश बाद में डॉ० बड़थ्वाल द्वारा संपादित 'गोरखबानी' में प्राप्य है।[6] मिश्रबंधुओं द्वारा उद्धृत अन्य रचनाएँ भी गोरखबानी में उपलब्ध हैं।[7] आचार्य शुक्ल द्वारा उद्धृत रचनाएँ भी आज उपलब्ध हैं।[8]

नाथपंथियों की रचनाओं के संपादन का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कार्य डॉ० पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल ने अनेक हस्तलिखित पोथियों को शोधकर 'गोरखबानी' के द्वारा पूरा किया (प्रकाशन सन् 1942)। इसके पूर्व आलोचक तथा इतिहासकारगण गोरख की रचनाओं के कुछ अंशों को उद्धृत कर ही संतोष कर लिया करते थे। 'गोरखबानी' के प्रकाशन तक केवल गोरखनाथ की रचनाओं की जानकारी लोगों को थी। डॉ० बड़थ्वाल

1. *मिश्रबंधुविनोद*, पृ० 211-212.
2. *गोरखबानी*, पृ० 186.
3. *मिश्रबंधुविनोद*, पृ० 211.
4. *हिं० सा० इ०, शुक्ल*, पृ० 403.
5. *हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास*, पृ० 139-140.
6. *मिश्रबंधुविनोद*, पृ० 212; *गोरखबानी, सिष्ट पुराण*, पृ० 236-237 *में मूल तथा पाठभेद।*
7. *गोरखबानी, मच्छींद्र गोरख बोध*, पृ० 186.
8. *हिं० सा० इ०*, पृ० 19; *गोरखबानी, मच्छींद्र गोरखबोध*, पृ० 186.

ने 'गोरखबानी' की भूमिका में लिखा था—''यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में गोरखनाथ की बनी संगृहीत है और दूसरे में अन्य योगियों की बानियाँ।''[1] इससे यह प्रतीत होता है कि डॉ० बड़थ्वाल ने अन्य योगियों की बानियाँ भी संगृहीत कर ली थीं; किन्तु इस द्वितीय भाग को संपादित कर प्रकाशित करने के पूर्व ही उन्होंने इहलोक त्याग दिया। उन्होंने अन्य नाथयोगियों की हिन्दी रचनाओं का परिचय देने के लिए ''हिन्दी कविता में योगप्रवाह'' शीर्षक एक विस्तृत निबन्ध लिखा जिसमें गोरखनाथ के अतिरिक्त नाथयोगियों के पर्याप्त उद्धरण देकर उन्होंने उन पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी लिखीं।[2] इसके बाद अन्य नाथयोगियों की रचनाओं का संग्रह, सम्पादन डॉ० कल्याणी मल्लिक ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑव नाथयोगीज़' नामक ग्रन्थ के रूप में किया (प्रकाशन सन् 1954)। इसमें उन्होंने गोरक्षनाथ की 'गोरख उपनिषद्' नाम की रचना प्रकाशित की जो न तो गोरखबानी में ही प्रकाशित हुई थी और न उसका कोई संकेत ही तब तक उपलब्ध था। विशेषता यह है कि यह रचना गद्य में है।[3] इस संग्रह से पहली बार मत्स्येंद्र, भरथरी और गोपीचंद्र की हिन्दी रचनाओं का परिचय मिला। इस प्रकार इन तीनों योगियों के क्रमशः दो पद, उनचास तथा 19 सबदियाँ प्रकाशित की गईं।[4] डॉ० बड़थ्वाल द्वारा उद्धृत चरपट तथा जालंधरपाद की सब रचनाएँ यद्यपि इस संग्रह में नहीं मिलतीं फिर भी उनका अधिकांश इस संग्रह में आ गया है।[5]

नाथयोगियों की रचनाओं का तीसरा महत्वपूर्ण संग्रह डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित हुआ (प्रकाशन सन् 1957)। तीन हस्तलिखित (संग्रह) ग्रन्थों से इसमें 24 नाथसिद्धों की बानियाँ संगृहीत हैं।[6] भूमिका में यद्यपि एक स्थान पर बालगुंदाई, बालनाथ और लक्ष्मण को अभिन्न माना गया है, पर सूची में उन्हें भिन्न-भिन्न गिना गया है।[7] इस सूची में मीड़कीपाव, लालजी, परबत सिद्ध का नाम नहीं है। संपादक के अनुसार 'पार्वतीजी' परबत सिद्ध का विकृत रूप है।[8] महादेव, पार्वती और रामचन्द्र नाम के नाथयोगी कौन थे, इसका निश्चय नहीं हो सका है, फिर भी इन लोगों के नाम से सबदियाँ और पद संगृहीत हैं। सतवंशीजी, सुकुल हंसजी और हणवंतजी का भी अनिश्चय ही है। इस प्रकार से 6 नाथसिद्ध (नाथयोगी) सर्वथा कल्पित प्रतीत होते हैं अथवा इन पौराणिक व्यक्तियों के नाम से रचना कर हस्तलिखित पोथियों में अन्य नाथयोगी-रचनाओं में

1. *गोरखबानी, भूमिका,* पृ० 11.
2. *योगप्रवाह,* पृ० 54-78, *यह निबन्ध सर्वप्रथम नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।*
3. *सि० सि० अ० ना० यो०,* पृ० 72-75.
4. *वही,* पृ० 76, 77-81, 88-89.
5. *वही,* पृ० 82-87, 90-91 .
6. *नाथसिद्धों की बानियाँ, भूमिका,* पृ० 20.
7. *वही, भूमिका,* पृ० 20, 23.
8. *वही, भूमिका,* पृ० 25.

सम्मिलित कर दी गई थीं। इन 25 नाथसिद्धों में से काणेरीपाव, गोपीचन्द्र (गोविन्द), चरपट, चौरंगी, जालंध्रीपाव, नागार्जुन और मत्स्येंद्र (मीन) वर्णरत्नाकर की सूची में मिलते हैं।[1] डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने अपने 'हिन्दी में योगप्रवाह' शीर्षक विस्तृत निबन्ध में जिन नाथयोगियों की रचनाओं का परिचय उपस्थित किया था, उसमें से सबकी रचनाएँ इस संग्रह में आ गई हैं। इसके अतिरिक्त परबत सिद्ध, हणवंतजी, रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी, लालजी, सुकुल हंसजी, सतवंतीजी, मीड़कीपावजी, महादेवजी, दत्तात्रेयजी, भरथरी, गोपीचन्द्र, अजैपाल आदि की भी रचनाएँ संगृहीत हैं। इनमें से पौराणिक व्यक्तियों की रचनाओं को डॉ० बड़थ्वाल ने हस्तलिखित ग्रन्थों में देखा था किन्तु अप्रामाणिक समझकर उनका परिचय नहीं दिया।[2] नागार्जुन और उनकी रचनाओं पर एक स्वतंत्र निबन्ध डॉ० बड़थ्वाल ने लिखा था और उनकी रचनाओं को भी उन्होंने निबन्धान्त में उद्‌धृत किया था।[3] इस संग्रह के 'गोपीचन्द्रजी की सबदी', 'जलंध्रीपावणी की सबदी', 'चरपटीजी की सबदी' तथा 'मच्छंद्रनाथजी का पद' रचनाओं के पाठभेदादि के लिए डॉ० मल्लिक के संग्रह-ग्रन्थ को देखा जा सकता है। योगप्रचारिणी सभा, गोरक्ष-टिल्ला, वाराणसी से प्रकाशित 'श्रीनाथशतकम्' के अन्त में चन्द्रनाथ तथा गरीबनाथ की सबदियाँ प्रकाशित हैं। इन रचनाओं को पाठभेदादि के लिए स्वीकार किया जा सकता है। चन्द्रनाथ की कोई भी सबदी 'नाथसिद्धों की वाणियाँ' में संपादित नहीं है।

डॉ० एस० पी० चन्दोला ने अपने शोधप्रबन्ध के अन्त में नाथयोगियों की कुछ अप्रकाशित रचनाएँ प्रकाशित की हैं। उनमें से कुछ तो शोधप्रबन्ध के लिखे जाने के पूर्व डॉ० मल्लिक ने अपने संग्रह-ग्रन्थ में प्रकाशित कर दी थीं तथा अधिकांश रचनाएँ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के संग्रह-ग्रन्थ में बाद में प्रकाशित हुईं। जो रचनाएँ अभी तक केवल उक्त शोधप्रबन्ध में ही सुरक्षित हैं, वे हैं—

1. सिद्ध हड़तालीजी की सबदियाँ,
2. काफर बोध,
3. अबलि मीर का लवलि सिलूक ग्रन्थ।[4]

ये रचनाएँ कहाँ से संगृहीत की गई हैं तथा उनके हस्तलिखित ग्रन्थों का क्या विवरण है, यह कहीं भी उनके प्रबन्ध में उपलब्ध नहीं होता।

बौद्धसिद्धों और नाथसिद्धों का विवेचन करते समय निम्नलिखित नाथसिद्धों की गणना की गई है—मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ, जालंधर, चर्पटि, भर्तृहरि, रेवण, चौरंगी, गोपीचन्द्र, कान्हिप, गहिनी, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ। इनमें से रेवण, गहिणी, निवृत्ति और

1. *तां० बौ० सा० सा०,* पृ० 211-212.
2. *योगप्रवाह,* पृ० 66.
3. *ना० प्र० प०, भाग 14, अंक 4.*
4. *नाथपंथ, डॉ० शांतिप्रसाद चंदोला,* पृ० 235-243, 243-245, 245-247.

ज्ञाननाथ की नाथवाणियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। ज्ञानदेव या ज्ञाननाथ या ज्ञानेश्वर वारकरी संत हैं तथा नाथपरम्परा में भी आते हैं, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। महाराष्ट्र के सन्तों में विशेषकर वारकरी सन्तों में सर्वप्रथम ज्ञानदेव नाथपंथी थे। उनकी जो हिन्दी रचना उपलब्ध है उसका विवरण भी मिलता है। डॉ० विनयमोहन शर्मा ने ज्ञानेश्वर के हिन्दी पदों का संपादन किया है।[1] इनके अतिरिक्त जिन नाथयोगियों की हिन्दी वाणियाँ प्रकाशित हुई हैं तथा जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है, वे निम्नलिखित हैं—

अजैपाल, गरीबनाथ, धूधलीमल, घोड़ाचौली, चुणकरनाथ, देवलनाथ, नागार्जुन, परबत सिद्ध, पृथ्वीराज, बालनाथ या बालगुंदाई या लक्ष्मणनाथ, मीड़कीपाव, सुकुल हंसजी, सतवंतीजी, हणवंतजी, रामचन्द्रजी, लालजी, महादेवजी, चंद्रनाथ।

इन नाथयोगियों का शताब्दीगत परिचय निम्नलिखित है (उल्लिखित समय अनुमित हैं तथा आसपास की ओर संकेत करते हैं)—

9वीं ई० शताब्दी—मत्स्येंद्र, जालंधर, गोरक्ष, कान्हुपा, नागार्जुन।

10वीं-11वीं ई० शताब्दी—भर्तृहरि, गोविंदचन्द्र (गोपीचन्द्र), चर्पटनाथ, काणेरी, चौरंगीनाथ, चुणकरनाथ, चंद्रनाथ।

12वीं ई० शताब्दी—घोड़ाचौली।

13वीं ई० शताब्दी—धूधलीमल, देवलनाथ, परबत सिद्ध, बालनाथ।

14वीं ई० शताब्दी—गरीबनाथ।

15वीं ई० शताब्दी—अजैपाल, हणवंतजी।

16वीं ई० शताब्दी—पृथ्वीनाथ।

इनमें से अनेक योगियों की जाति और देश का पता नहीं है। जिनका पता है, उनमें से अधिकांश क्षत्रिय और ब्राह्मण थे तथा उत्तरी भारत के पूर्वी भाग तथा पश्चिमी प्रदेशों के थे। मत्स्येंद्र को मछुआ और चर्पटि को चारणपुत्र, काणेरीपाव को जुलाहा भी कभी-कभी कहा जाता है। देश की दृष्टि से नागार्जुन को दाक्षिणस्य, अजैपाल को गढ़वाली, काणेरीपाव को कर्णाटकी अथवा उड़ीसा निवासी, गोरक्ष को पंजाबी, मत्स्येंद्र को बंगाली, जालंधर को भोगदेशीय या हस्तिनापुर निवासी या पंजाबी, गोपीचन्द को बंगाली, धूधलीमल को धीणोद निवासी, चौरंगी को पूर्वदेशीय कहा गया है। यह परिचय अधिकांशत: अनुमित ही है, ऐतिहासिक तथ्यों से पुष्ट नहीं। इन सभी नाथयोगियों की जाति, देश और काल विवादास्पद हैं, फिर भी विद्वानों द्वारा दिया गया जो विवरण विभिन्न संग्रह ग्रन्थों तथा उल्लिखित ग्रन्थों में प्राप्य हैं, उनका यहाँ उल्लेख-मात्र कर दिया गया है। इस विवेचन के आधार पर, जहाँ तक नाथयोगी रचनाकारों का सम्बन्ध है, इनका विस्तारकाल 9वीं ई० शताब्दी से 16वीं ई० शताब्दी तक है।

●

1. *हिन्दी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा, विषय-सूची द्रष्टव्य।*

पाँचवाँ परिच्छेद

नाथों की जातीय स्थिति

भारतवर्ष विभिन्न प्रकार की जातियों की निवासभूमि रहा है। हिमालय में किरात जाति की यक्ष, गंधर्व, किंपुरुष आदि जातियाँ, विंध्य मेखला में शबर, पुलिंद आदि जातियाँ, दक्षिणापथ में वन्य और पार्वत्य प्रदेशों में कोल, निषाद आदि जातियाँ तथा सुदूर दक्षिण में द्रविड जातियाँ निवास करती थीं। हिमालय से लेकर विंध्य तथा पूर्वी-पश्चिमी समुद्रों के बीच की भूमि आर्यों की निवासभूमि थी। इन प्रदेशों को संस्कृतवेत्ता लोग जातीय भूमि कहते हैं। इन विभिन्न जातियों में जातीय भ्रमण, उपनिवेश, विजय, व्यापार, सामाजिक संबंध, धार्मिक यात्रा आदि के कारण परस्पर संपर्क, मिश्रण आदि होते रहे हैं। यद्यपि विभिन्न धर्मग्रंथों तथा जातीय प्रतिबंधों और विधानों के कारण निवारण और पार्थक्य को जीवित रखने के लिए भी प्रयत्न होते रहते थे। प्रमुख निवासी आर्य एकांत वर्जनशीलता को न अपनाकर कुछ वन्य और अंत्यज या पार्वत्य जातियों को छोड़कर प्राय: सभी को अपने समाज में यथाक्रम स्थान देते रहे। पारसीक, यवन, वख्री, पह्लव, शक, तुषार (कुषाण) आदि विदेशी जातियाँ भी भारतीय समाज में इसी प्रकार आत्मसात् हो गईं। गुप्त साम्राज्य के विच्छेद के बाद आनेवाले नृशंस और बर्बर हूणों ने भी भारतीय भाषा, धर्म, सामाजिक संबंध, खानपान, वेशभूषा आदि को अपना लिया। इनके ब्राह्मणों और क्षत्रियों से वैवाहिक संबंध होने लगे थे। मध्ययुग में समाजरचना में जाति संबंधी दो समस्याएँ थीं। पहली थी हूणादि बाहरी जातियों को समाज में मिलाना और दूसरे बहुत से परंपराविरोधी तथा आचारभ्रष्ट भारतीय वर्गों को पूर्णरूपेण ग्रहण करना। दूसरी समस्या में बौद्ध, जैन, लोकायत, पाशुपत तथा कतिपय वाममार्गी संप्रदायों का प्रश्न था। "आचारगत भेद होने से इनके समाजीकरण में प्रारम्भिक अरुचि धर्मशास्त्रों में पाई जाती है परन्तु आगे चलकर सभी संप्रदायों का सामाजिक संबंध हो गया।"[1]

तत्कालीन प्राय: सभी धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में वर्णो और वर्णसंकरों का विवरण मिलता है। महाभारत के नहुषोपाख्यान से पता चलता है कि उसी काल में वर्णसंकर और जाति मिश्रण की मात्रा बढ़ रही थी।[2] शुक्रनीति (लगभग 5वीं-8वीं ई० शताब्दी के बीच निर्मित ?) में प्रतिलोम और अनुलोमक्रम से पुन:-पुन: संकर जातियों की वृद्धि का संकेत

---

1. *हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग,* डॉ० राजबली पांडेय, पृ० 99-100.
2. *महाभारत, वनपर्व, नहुषोपाख्यान, 180; हिं० सा० बृ० इ०, प्र० भा०,* पृ० 99.

किया गया है।[1] धीरे-धीरे शूद्र के अतिरिक्त अतिशूद्र, असच्छूद्र, पंचम, अंत्यज, अस्पृश्य, चांडाल, विगर्हित आदि के भेदापभेद बढ़ते जा रहे थे, उनकी संख्या भी बढ़ रही थी। शुक्र की मान्यता थी कि जन्मना उत्तम व्यक्ति संपर्क से नीच हो सकता है किंतु जन्मना नीच व्यक्ति संपर्क से उच्च नहीं हो सकता।[2] इस प्रकार व्यष्टि, विकेंद्रीकरण और विभाजन की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। विदेशी जातियों को आत्मसात् करने के परिणामस्वरूप समाज के आंतरिक संगठन और सुसंबद्धता में शिथिलता आ गई। वर्णसुरक्षा के नियमों में किंचित् उल्लंघन मात्र से विभिन्न समूहों, जातियों को शूद्रों में गिना जाने लगा था।[3] इस काल के धर्मशास्त्रों में पूर्वापेक्षा शूद्रों की अयोग्यताओं की व्याख्या भी अधिक स्पष्टता से हुई।

इस प्रकार मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में ही सामाजिक विघटन और विभाजन के फलस्वरूप जातियों और उपजातियों की संख्या बढ़ रही थी। जन्म, स्थान, व्यवसाय, संप्रदाय-प्रथा आदि के आधार पर नई-नई जातियाँ बनने लगीं तथा वर्णों में भी भेदोपभेद बढ़ने लगा। संकर वर्णों के काल्पनिक सिद्धांत ने नई जातियों के निर्माण में बहुत योग दिया।[4] इसी प्रकार कृच्छाचार तथा भोजन, विवाह एवं संपर्क के निषेधों और संकीर्णताओं ने भी अंत्यजों और अस्पृश्यों, अदृश्यों की संख्या बढ़ाई।[5]

वर्णव्यवस्था की तरह ही आश्रम व्यवस्था ने भी मध्ययुग में अपनी कठोरता के कारण जातियों की संख्या बढ़ाई। वर्ण मूलतः आर्यों की सहज प्रवृत्तियों के ऊपर, उनके कर्मों के ऊपर तथा बाद में जन्म के ऊपर अवलंबित थे तथा आश्रमों के मूलाधार संस्कार थे। जैन और बौद्ध संस्कृतियों ने आश्रम व्यवस्था पर प्रथम आघात किया। इन संस्कृतियों में व्यक्ति किसी भी अवस्था में, बिना किसी अवस्थागत विहित संस्कार के श्रमण या परिव्राजक हो सकता था। अपरिपक्व शरीर और मन के भिक्षुओं और श्रमणों से देश भर जाने पर शुंगकाल में मनु को ''आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्'' का सिद्धान्त पुनः दृढ़ करना पड़ा। मध्ययुग में शंकराचार्य द्वारा यद्यपि बौद्ध-जैन श्रमणों के सिद्धांत तथा आचार का विरोध किया गया तथापि उसी प्रकार की, उसके समान ही श्रमण बनने की परंपरा को पुष्टि उनसे भी प्राप्त हुई। उसे केवल ब्राह्मणों के लिए स्वीकार किया गया। वैष्णव, शैव,

1. *शुक्रनीति,* 4.52.
2. *वही,* 4.55.
3. *हिं० सा० बृ० इ०, प्र० भा०,* पृ० 100-103.
4. *वही,* पृ० 104-105.
5. इस मध्ययुग पूर्वार्द्ध (हर्षोत्तर काल 700 ई०-1200 ई०) में स्मृति ग्रंथों—विशेषकर मनु और याज्ञवल्क्य पर भाष्य लिखे गए जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में हिंदू समाज-रचना में अधिक से अधिक विहित-अविहित का विचार अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता से किया जा रहा था। संन्यासियों से विशृंखलित होनेवाले गृहस्थाश्रम को अधिक दृढ़ करने का प्रयत्न इनमें दिखाई पड़ता है।

शाक्त, पाशुपत, कापालिक आदि में साधु-संन्यासियों की संख्या बढ़ने लगी। बौद्ध-जैन श्रमणों का अभाव उनसे पूरा हुआ।[1]

भारत में ई० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर 7वीं ई० शताब्दी तक सांप्रदायिक संन्यासियों का कोई विवरण नहीं मिलता। 7वीं शताब्दी के संन्यासियों की सूचना देनेवाले ग्रंथों से दो शैव संन्यासी संप्रदायों का पता लगता है जिन्हें पाशुपत और कापालिक कहा गया है। ह्वेनत्सांग ने इन्हें अबौद्ध संन्यासी संप्रदाय कहा है। तात्पर्य यह है कि ह्वेन्त्सांग के समय में उत्तरी भारत में सर्वाधिक प्रमुख संन्यासी संप्रदाय ये ही थे। इसी प्रकार इस यात्री ने जालंधर (पंजाब), अहिक्षेत्र, वाराणसी जैसे प्रदेशों के उन पाशुपत और माहेश्वर संन्यासियों की संख्याएँ बतलाई हैं जिनका संबंध उन स्थानों के विभिन्न शैव मंदिरों से था।[2] इस प्रकार 8वीं ई० शताब्दी तक भारतवर्ष में बौद्ध, जैन, पाशुपत और कापालिक संन्यासी विशेषतः लक्षित किए जा सकते थे।[3] यही स्थिति लगभग 11वीं ई० शताब्दी तक बनी रही। लगभग 14वीं ई० शताब्दी के आरंभ तक कोई अतिमहत्वपूर्ण और प्रतिभासंपन्न संन्यासी नहीं प्राप्त होता।[4] इस 11वीं से 14वीं ई० शताब्दी तक के काल में महान् स्मृतिज्ञ परमहंस विज्ञानेश्वर और गोरखनाथ (जिनका समय श्री घुरे लगभग 11वीं-12वीं ई० शताब्दी मानते हैं) के अतिरिक्त अन्य किसी महान् संन्यासी का पता नहीं लगता। गोरखनाथ ने ही उत्तर भारत में, विशेषकर उत्तरी-पूर्वी भारत में अंतिम तथा सर्वाधिक बलवान् प्रहार बौद्ध मत पर किया।[5]

लगभग 13वीं-14वीं शताब्दी तक जातियों और वर्णों की यही अवस्था रही। मुसलमानों के आक्रमण तो भारतवर्ष पर लगभग 8वीं ई० शताब्दी से ही हो रहे थे, किन्तु उनका व्यवस्थित प्रवेश और आक्रमण पृथ्वीराज के समय में हुआ। तेरहवीं शताब्दी में तुर्क अफगान शासन की स्थापना हो गई। आक्रमणकारियों में तत्कालीन हिंदुओं के ढंग की कोई जाति व्यवस्था नहीं थी। अपने भारतीय तथा जातीय संस्कारों और विशेषताओं को सुरक्षित रखने के लिए पहले की रूढ़िवादिता, संकीर्णता और भी दृढ़ होने लगी। नए शासन और नई संस्कृति के संपर्क से उत्पन्न उथल-पुथल में जातीय मर्यादाओं और तत्कालीन सामयिक प्रतिबंधों के किंचित् उल्लंघन से जातिच्युति और वर्णच्युति के अवसर बढ़ने लगे। यह कार्य लगभग औरंगजेब काल तक तथा उसके आगे भी होता रहा। अभी तक आक्रामक जाति, भारतवर्ष में, सामूहिक रूप में आक्रांत के धर्म को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लेती थी, किंतु इस सिद्धांत की कि "विजेता जाति

1. *हिं० सा० बृ० इ०, प्र० भा०,* पृ० 112.
2. *इंडियन साधुज़, जी० एस० घुरे,* पृ० 48-49.
3. *वही,* पृ० 52.
4. *वही,* पृ० 57.
5. *वही,* पृ० 59-60.

का धर्म विजित जाति का धर्म हो जाता है'' चरितार्थता मुसलमानी आक्रमण के साथ भारत वर्ष में दिखाई पड़ी। सामूहिक धर्मांतर में पूरी-पूरी जाति ही, समूह रूप में किसी न किसी धर्म को स्वीकार कर लेती हैं। अपनी पुरानी जाति और नवीन धर्म—इन दोनों के समन्वय से नवीन जातियों का उद्भव संभव हो सका। आगे चलकर भारतीय मुसलमानों को मूल मुसलमानों से पृथक् समझा जाने लगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उस युग में उत्तरी भारत का हिंदू जनसमाज दो वर्गों में बँटा हुआ था। पहला वर्ग वह है जिसका नियंत्रण ब्राह्मण व्यवस्था तथा स्मृत्यादिक धर्मग्रंथों के अनुसार होता था। इस वर्ग के लोग अपने जीवन का नियमन और यापन इन धर्मशास्त्रों के अनुसार करते थे। दूसरा वर्ग वह था जो इन ग्रंथों और इनके विधानों की चिंता नहीं करता था तथा ''अकाल संन्यास'' भी जिनके यहाँ विहित था। यह दूसरा वर्ग मोक्षसाधन के लिए मानव-जीवन का नियमन करनेवाली वर्णाश्रम व्यवस्था को उपयुक्त नहीं समझता था, न स्वीकार ही करता है। उसे धर्मशास्त्रों का आश्रमक्रम भी मान्य नहीं था। मोक्षसिद्धि को मुख्य लक्ष्य माननेवाले धार्मिक मत वा संप्रदाय इन धर्मशास्त्रीय ग्रंथों को व्यवहाररक्षक मानते थे। योगादि शास्त्रों को इन लोगों ने मोक्षरक्षक माना। योगी मोक्षरक्षक शास्त्र का अनुयायी होता है।[1] मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रीय विधानों के व्यवहार और नियंत्रण से मध्ययुगीन भारतीय समाज में किस प्रकार विघटन हो रहा था, इसका संक्षिप्त संकेत किया जा चुका है। ये योगी, सिद्ध आदि वर्णाश्रम व्यवस्था को अस्वीकार करते थे तथा अपने को अतिवर्णाश्रमी कहते थे। उन लोगों ने इसकी व्याख्या सामाजिक या सांसारिक आधार पर न कर साधनात्मक और दार्शनिक आधार पर की। उनके अनुसार ब्रह्म की प्राप्ति पक्षपातविनिर्मुक्त होने पर ही होती है। पक्षपात का अर्थ है देहाभिमान। ''मैं ब्राह्मण हूँ'', ''मैं क्षत्रिय हूँ'', ''मैं संन्यासी हूँ'' इत्यादि का संकल्प ही देहाभिमान है। अत: योगी को अतिवर्णाश्रमी होना ही चाहिए।[2] इस ''अत्याश्रमिन्'' शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में भी मिलता है। चत्तुर्थ आश्रम के रूप में 'संन्यास' अत्यधिक प्राचीन है। बौद्ध मत के अभ्युदय के पूर्व ही यह संन्यासाश्रम विरोधियों तथा विशेषकर याज्ञिक क्रियाओं में अविश्वास करनेवालों को अंतर्भूत करनेवाले के रूप में स्वीकृत हो चुका था। श्वेताश्वतरोपनिषद् का ज्ञान 'अत्याश्रमी' लोगों के लिए ही स्वीकार किया गया है। यहाँ परमहंस संन्यासी ही अत्याश्रमी है। शंकराचार्य ने इसके भाष्य में स्पष्ट किया है कि 'अत्याश्रमी' का अर्थ है—अत्यंत पूजनीय आश्रम वाला। साधनचतुष्टयसंपत्ति की महत्ता से अपने देहादिक में, जीवनभोगादिक में, अनास्था रखनेवाले ही अत्याश्रमी कहलाते हैं। तात्पर्य यह कि पूर्ण वैराग्य अत्याश्रमी का मुख्य लक्षण है। स्मृति को प्रमाण मानकर उन्होंने यह भी व्याख्या

1. *गो० सि० सं०*, पृ० 20-22.
2. *वही*, पृ० 2-3.

की है कि जभी मन में सभी वस्तुओं के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाय तभी विद्वान् को संन्यास ग्रहण करना चाहिए।[1]

'अत्याश्रमी' या 'अतिवर्णाश्रमी' शब्द की इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि संन्यासी लोगों का, प्राचीनकाल में, एक ऐसा वर्ग भी था जो याज्ञिक क्रियाओं में अविश्वास करता था अथवा उनका विरोधी था। दूसरी बात यह कि जीवन की किसी भी अवस्था में यदि वैराग्य उत्पन्न हो जाय तो संन्यास ले लेना चाहिए। जब चारों आश्रमों की संपत्ति से पूर्ण वैराग्य हो जाय, वह परमहंस हो जाय तब वह अत्याश्रमी होता है। इस प्रकार 'अत्याश्रमी' शब्द के विकास को ध्यान में रखने में नाथसिद्धों की स्थिति का अनुमान करने में सुविधा होगी। नाथमत या गोरक्षमत, जिसका प्रचार प्रसार लगभग 10वीं ई० शताब्दी में हुआ, जाति, वर्ण, आश्रम संबंधी अपने इस प्रकार के मत का प्रचार कर रहा था और आगे भी करता रहा। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह, जिसमें नाथमत की दृष्टि से इस शब्द का व्याख्यान मिलता है, का समय यद्यपि निश्चित नहीं है तथापि इतना निश्चित है कि इस ग्रंथ में गोरक्ष, मत्स्येंद्र, जालंधर, भर्तृहरि आदि प्राचीन नाथसिद्धों के सिद्धांतों का संग्रह किया गया है।[2]

नाथसिद्धों की इस मान्यता का सार यह है कि इनके संप्रदाय में किसी भी जाति, वर्ण या आश्रम का व्यक्ति दीक्षित हो सकता है। दीक्षित होने पर योगी में जाति, वर्ण अथवा आश्रम का भेद नहीं रहता। योगी इन सबसे परे होता है। वह अतिवर्णाश्रमी हो जाता है। इसी से उसे पंचमाश्रमी कहा गया है। ब्रिग्स ने नाथ-योगियों को संन्यासियों के अंतर्गत ही माना है और उनकी परंपरा उन्होंने प्राचीन शैव संन्यासियों, पाशुपतों आदि से निश्चित की है।[3] नाथयोगी संप्रदाय के "योगिसंप्रदायाविष्कृति" नामक ग्रंथ में कहा गया है कि मनु के अनुसार यद्यपि क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और तदनंतर संन्यासी होने का विधान है तथापि मनु की आज्ञा सर्वथा नियमबद्ध नहीं है। अर्थात् उसका नियम यह नहीं है कि मनुष्य को तीन आश्रमों के पश्चात् ही संन्यासी होने का अधिकार है। किन्तु यह नियम है कि जो मनुष्य इतना विषयासक्त हो कि तीनों आश्रमों में जिसे कभी यह उत्कंठा उपस्थित न हुई हो कि ईश्वर का प्रिय बनना चाहिए, इस चतुर्थ अवस्था में

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.21—तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्चब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्॥
शांकरभाष्य—"अतिः पूजायाम्।" इति स्मरणादत्यंत पूज्यतमाश्रमिभ्यः साधन चतुष्टयसंपत्ति-महिम्ना स्वेषु देहादिष्वपि जीवनभोगादिष्वनास्थावद्भ्यः।
अतएव वैराग्यपुष्कलवद्भ्यः॥ स्मृति में—"यदा मनसि वैराग्यं जायते सर्ववस्तुषु। तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत्।" शांकरभाष्य--"परमहंस-संन्यासिनस्त एवात्याश्रमिणः।"
2. *गो० सि० सं०, प्रीफेस— म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज,* पृ० 1-2.
3. *गोरखनाथ ऐंड कानफटा योगीज़—ब्रिग्स,* पृ० 218.

तो उसे अवश्य विषयों का त्याग करना चाहिए। परंतु जो मनुष्य स्वभाव से ही विषयलोलुप नहीं होता, हर एक समय और हर एक दशा में ईश्वर के कृपाप्रसाद का भिक्षु बना रहता है, ऐसा मनुष्य अपना अमूल्य समय नष्ट न करे। वह जब चाहे संन्यासी हो सकता है। मनु की आज्ञा का यही अभिप्राय है जिसकी पुष्टि ''यदहरेव विरजेतदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्गृहाद्वा'' इत्यादि श्रुतिवाक्य भी करते हैं तथापि ''इसका अर्थ नहीं कि योगिसमाज धर्मशास्त्रोक्त संन्यास से बहिर्भूत है किंतु सिद्धांतित योगोपाय द्वारा ही बहुलतया ब्रह्म आदि प्राप्त करने के कारण संन्यासित्वोपिहित हुआ कि योगिसमाज इस 'महा' गौरवजनक शब्द से अपने आपको विशेष सत्कृत समझता है।''[1]

इस युग की इन सामाजिक, जातीय स्थितियों में नाथपंथ तथा अन्य परवर्ती संप्रदायों का अभ्युदय हुआ। ज्ञातव्य है कि योगी एक अत्यधित व्यापक अर्थ का शब्द है। इसके अंतर्गत कानफटे लोगों के अतिरिक्त अन्य संप्रदायों के योगी नाम से अभिहित होनेवाले अनुयायी भी गृहीत हैं; किंतु इन सबमें गोरखनाथी या कानफटे योगियों का प्राधान्य और महत्व है।[2] इन कानफटा योगियों के संप्रदाय में किन जातियों के लोग सम्मिलित होते थे, इसका पता 1901 तथा आगे की जनगणना के विवरणों से लगता है जिसके अनुसार इसमें हिंदू फकीर, हिंदू जोगी, मुसलमान जोगी तथा हिंदू नाथ होते थे।[3] हिंदू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से इसमें प्रवेश कर सकते थे। मुसलमानों के लिए सुविधाजनक इसलिए था कि उनके समाज में जन्म अथवा कर्म के आधार पर कोई कठोर विभाजन नहीं था, वर्गविभाजन का मूल आधार अर्थ था। दूसरे इस मत में हिंदू समाज की कठोर व्यवस्था से पीड़ित और तिरस्कृत भी स्थान पा सकते थे। यद्यपि एक प्रकार से यह 'नाथसमाज' 'ना हिंदू ना मुसलमान' का समाज था, तथापि उसकी जीवन-पद्धति, साधनापद्धति तथा दर्शन की परंपरा सर्वथा आर्य थी, जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा।

इस युग के धार्मिक आंदोलनों में भी, जिनका विवेचन हम आगे करेंगे, अनेक प्रकार के वर्गों और जातियों को उत्पन्न किया। पहले ये वर्ग एक सांप्रदायिक और धार्मिक समूह के रूप में ही थे, किंतु बाद में वे जाति के रूप में बदल गए। बिश्नोई, साधु, जोगी, गोसाईं, मानभाव आदि इसी प्रकार की सांप्रदायिक जातियाँ हैं। ये जातियाँ भी विभिन्न प्रकार के अपूर्वनिश्चित व्यवसायों या जीविकाओं को अपना लेने के कारण विभिन्न उपजातियों में बँट गईं। उदाहरण के लिए मनिहारी जोगी वे जोगी हैं जो मनकों (माला के दानों) को बेचा करते थे।[4]

---

1. *योगीसंप्रदायाविष्कृति—अनु० चंद्रनाथ योगी,* पृ० 435-436.
2. *गो० क० यो०,* पृ० 1-2.
3. *वही,* पृ० 5.
4. *कास्ट ऐंड क्लास इन इंडिया, जी० एस० घुरे,* पृ० 33-36.

लोकभाषा साहित्य (आधुनिक भारतीय आर्यभाषा साहित्य) का अभ्युत्थान करनेवाले विभिन्न संप्रदायों का मूल उद्भव इसी युग में हुआ। इन मतों के अभ्युत्थान के विभिन्न कारण विद्वानों ने ढूँढ़ निकाले हैं। इस युग की जातीय और सामाजिक स्थिति का विचार इसलिए विस्तार से किया जा रहा है कि जिससे यह व्यक्त हो सके कि कबीरादि का अभ्युदय एक ऐसे काल में हुआ था जब दो विरोधी संस्कृतियाँ परस्पर सम्पर्क में आईं तथा जिससे भारतीय जाति व्यवस्था में बहुत दूरगामी और जटिल परिवर्तन हुए। मध्ययुग के मुस्लिम आक्रमण और शासन ने हिंदुओं को अनेक प्रकार एवं उपाय से इस्लाम धर्म स्वीकार कराया। यह परिवर्तन सामूहिक रूप में भी होता था और इस्लामी धर्मशास्त्र इसका समर्थन करते थे।[1] संपूर्ण मुस्लिम शासनकाल में प्रायः सभी मुस्लिम शासकों ने अपने धर्मशास्त्रीय नियमों का पालन किया।[2] डॉ० यदुनाथ सरकार ने उस समय के हिंदू समाज की स्थिति का विवरण बड़े विस्तार से दिया है।[3] वस्तुतः औरंगजेब पूर्ववर्ती काल में भी न्यूनाधिक मात्रा में यही स्थिति थी। इस प्रकार इस युग में (लगभग 9वीं ई० शताब्दी से लेकर 16वीं ई० शताब्दी तक) दो बातें प्रमुख दिखाई पड़ती हैं—सर्वप्रथम तो यह कि जातिभेद का विस्तार हुआ और दूसरे, इस मध्ययुग में परस्पर-विरोधी वृत्ति के धर्मशास्त्रों का संघर्ष हुआ जिसमें एक इस्लामी और विजेता जाति का धर्मशास्त्र था तथा दूसरा धर्मशास्त्र आर्यों की परंपरा में जीवित रहनेवाले विजित हिंदुओं का था। विजेता जाति के धर्मशास्त्र ने अपने राजकीय बल से अपनी शक्ति बढ़ाई, जिसका प्रमाण आज का भारतीय समाज है।

पहले कहा जा चुका है कि लगभग 8-9वीं ई० शती में कुछ ऐसे सांप्रदायिक वर्ग उत्पन्न हो गए थे जो वर्णाश्रम मर्यादा को नहीं मानते थे। उनमें से कुछ ऐसे थे, जो यद्यपि किसी भी अवस्था में संन्यास ग्रहण करने के सिद्धांत को मानते थे तथा दूसरे ऐसे वर्ग थे जो अपने को चतुर्थाश्रमी भी न रहकर 'अत्याश्रम', 'अतिवर्णाश्रमी', 'पंचमाश्रमी' आदि कहते थे। ये दूसरे वर्ग के लोग वर्णाश्रम मर्यादा और सिद्धांत को मूलतः तथा सर्वांशतः अस्वीकार करते थे और अपने को चारों वर्णों और आश्रमों से सर्वदा अतीत मानते थे। इस दूसरे वर्ग में ही जोगी, नाथपंथी या कानफटे लोग थे। इस वर्ग में बौद्धों के 'किसी भी वर्ण की किसी भी अवस्था में संन्यास लेने के सिद्धान्त को, जिसको शंकराचार्यादि ने भी स्वीकार कर लिया था, ग्रहण कर लिया तथा साथ ही, मुस्लिमों के आगमन पर, अपने को अतिवर्णाश्रमी भी घोषित कर दिया। जनगणनाओं से पता चलता है कि योगियों में मुसलमान, हिंदू सभी सम्मिलित थे।'

1. *औरंगजेब, डॉ० जदुनाथ सरकार,* पृ० 179-180, 186 तथा पाद-टिप्पणियाँ।
2. *द सिख रेलिजन, भाग 1, इंट्रो०,* पृ० 42-48; औरंगजेब, पृ० 183.
3. *औरंगजेब,* पृ० 189, 197-198,.

इन जोगियों का सम्बन्ध मुसलमानों से कहीं-कहीं घनिष्ठ था। गोरक्ष ने बौद्ध धर्म पर अंतिम कठोर एवं उग्र प्रहार उत्तरी भारत में और विशेषकर पूर्वोत्तरी भारत में किया। उन्होंने तथा उनके जोगी समुदाय ने हिंदुओं की तथा उनके धर्म की क्या सेवा की, ऐतिहासिक दृष्टि से इसका पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है। जो कुछ ज्ञात है, वह यह है कि आजकल भी भारतीय मुसलमानों में एक संप्रदाय है जिसे जफर जोगी कहते हैं तथा जिसके अनुयायी योगसाधन भी करते हैं। कुछ परंपराओं से ज्ञात होता है कि गोरक्षनाथ ने यात्राएँ भी बहुत की थीं और यहाँ तक कहा जाता है कि उन्होंने मक्का की भी यात्रा की थी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि गोरखनाथियों के कुछ केंद्रों के प्रधानों को ''पीर'' भी कहा जाता है जिसका सामान्यतया प्रयोग मुस्लिम संतों के लिए किया जाता है। इन विवरणों से यह पता लगता है कि महाराष्ट्र के मानभावों की तरह ही गोरखनाथ और उनके कानफटा जोगियों ने उत्तरी भारत में किसी रूप में मुसलमानों से संधि कर ली थी।[1] इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि इस प्रकार ''पीर'' शब्द का ग्रहण नाथपंथियों के उग्र उन्मूलन से बचने के लिए कर लिया था। श्री घुरे को यह व्याख्या सुंदर लगती है और उसकी पुष्टि के लिए उन्होंने तीन कारण भी दिए हैं। प्रथम कारण यह है कि नाथपंथियों के मुख्य केंद्र मुस्लिम बहुल प्रदेशों में हैं। अफगानिस्तान, पश्चिमी पंजाब, कच्छ आदि प्रदेशों में मुसलमानों की संख्या अधिक है तथा इन प्रदेशों में क्रमश: कंदहार, टिल्ला, धिनोधर आदि स्थानों में नाथपंथियों के मुख्य केंद्र हैं। दूसरे, हिंगलाज की देवी के प्रति विशेष श्रद्धाभाव रखने के कारण मुस्लिम जनता से उन लोगों का संपर्क अधिक बढ़ा। तीसरे, इतिहास से पता लगता है कि नाथपंथियों को मुसलमानों द्वारा उत्पन्न की गई विपत्तियाँ सहनी पड़ी थीं। गोरखपुर के गोरक्षनाथ मंदिर को मुसलमानों ने दो बार ध्वस्त किया था जिसे नाथपंथियों ने बाद में बनवाया। नाथपंथी केंद्रों में जोगी लोग जो जीवन व्यतीत करते हैं, वह मुसलमान पीरों के दैनिक जीवन के प्राय: समान है।[2] श्री घुरे ने जिन तर्कों और तथ्यों को उपस्थित किया है, उनसे एक अन्य तथा सर्वथा भिन्न विचार भासित होता है कि संभव है, नाथपंथी जोगियों के समुदाय में जब मुसलमान लोग भी दीक्षित होने लगे तो उनके आधिक्य अथवा प्रभाव से तत्तत् स्थानों में उन मठों के प्रधानों को 'पीर' कहा जाने लगा हो। गोरखपुर के मठ के प्रधान को 'महंत' ही कहा जाता है, 'पीर' नहीं।

यह बताया जा चुका है कि पहले कभी जो समुदाय किसी विशेष धर्म को माननेवाला था वही आगे चलकर किसी जाति के रूप में बदल गया और उसकी उपजातियों का निर्माण विभिन्न प्रकार की जीविकाओं और व्यवसायों को स्वीकार कर लेने के कारण हुआ। इस परिच्छेद में ही पहले ही जोगी समुदाय की ओर संकेत किया जा चुका है। यहाँ हम इन जोगियों के समुदाय की व्याख्या वर्णाश्रम व्यवस्था की दृष्टि से

1. *इंडियन साधुज़,* पृ० 60.
2. *वही,* पृ० 157.

करेंगे क्योंकि उनका अधिकांश भाग हिंदू समाज में अंतर्भूत है। अतएव उनकी व्याख्या यहाँ स्मृतिग्रंथों, पुराणों तथा आधुनिक विद्वानों के विचार से करेंगे।

भारतीय साहित्य के प्राचीनतम पुराणों तथा स्मृतिग्रंथों में योगी जाति का कोई स्वतंत्र उत्पत्ति-विवरण नहीं मिलता। इसीलिए कुछ लोग इस जाति को आधुनिक जाति कहते हैं। प्राचीनतम उपनियमों, पुराणों में ब्राह्मणादि चार मौलिक जातियों (वर्णों) का वर्णन मिलता है। उनमें भी कहीं योगी जाति का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। इन मौलिक जातियों का वर्णों के अनुलोम विलोम सम्मिश्रण से जिन संकर जातियों की उत्पत्ति का विवरण परवर्ती पुराणादिक में मिलता है, उनमें भी कहीं योगी जाति का उल्लेख नहीं है। मनु आदि के ग्रंथों में भी जिन संकर जातियों का या उनसे हीन जातियों का वर्णन मिलता है, वहाँ भी योगी जाति का उल्लेख नहीं है। इसका निष्कर्ष यह कि इस जाति का स्थान संकर या हीन जातियों में भी नहीं है। इन आधारों पर श्री सुरेशचंद्रनाथ मजुमदार ने अनुमान किया है कि ''ब्राह्मण जाति आर्यभाषी भारतीय जनसमाज में एक श्रेष्ठ विभाग है। योगी जाति चिरकाल से उक्त ब्राह्मण जाति के आदर्श में स्थान पाती थी। इसलिए प्राचीनतम पुराण स्मृत्यादि शास्त्रों में इस जाति का कोई स्वतंत्र उल्लेख नहीं है। योगचर्चा करते हुए ये लोग जोगी नाम से ख्यात थे। 'बहवो रुद्रजाः सर्व्वे योगधर्मपरायणाः' प्राचीन भारत में ब्राह्मण जाति से भिन्न कोई और जाति योगसाधना नहीं करती थी।''[1]

बल्लालचरित में बंगाल की योगी जाति के पुरोहितों को रुद्रज ब्राह्मण कहा गया है और तथ्यतः बंगाल के योगी आजकल भी अपने को शिवगोत्रीय कहते हैं।[2] इसके अतिरिक्त बंगाल की जोगी जाति किसी न किसी प्रकार अपने को नाथ संप्रदाय से संबद्ध करती है तथा 10वीं से 12वीं ई० शती के बीच नाथ संप्रदाय से संबद्ध यह जाति संपूर्ण भारत में फैल गयी थी। तथ्यतः यद्यपि बंगाल के योगी लोग हिंदू समाज में अंतर्भूत होते गए हैं तथापि वे कुछ अपनी पुरानी रीतियों-रूढ़ियों को, अपनी जाति की विशेषता के रूप में सुरक्षित रखे हुए हैं। ये लोग अपने नाम के साथ 'नाथ' शब्द जोड़ते हैं और अधिकांशतः कपड़ा बीनने, पान बेचने तथा चूने का व्यवसाय करते हैं। ये सामान्यतया अपने शवों को गाड़ते हैं यद्यपि आजकल वे दाह-संस्कार की पूर्णतया हिंदू क्रिया को अपना रहे हैं। कुछ स्थानों में सवर्ण हिंदुओं के लिए ये अस्पृश्य हैं।[3] किंतु इतना निश्चित है कि आज की योगी जाति अपने को ब्राह्मण ही मानती है। श्री मजुमदार ने

1. *राजगुरुयोगिवंश, श्री सुरेशचंद्रनाथ मजुमदार,* पृ० 2-3 तथा उसमें उद्धृत ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा रामायण।
2. *मयनामतिर गान, डॉ० एन० के० भट्टशालि, भूमिका,* पृ० 4; *आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, डॉ० शशिभूषण दासगुप्त,* पृ० 227.
3. *आ० रे० क०,* पृ० 427 तथा पादटिप्पणी।

ब्रह्मवैवर्तपुराण, बल्लालचरित, आगमसंहिता, चंद्रादित्य परमागम, जाति-मुक्ता तथा महाविराटतंत्र के पर्याप्त उद्धरणों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योगी जाति का उदय एकादश रुद्रों में से बिंदुनाथ से हुआ है।[1] उनका निष्कर्ष यह है कि योगी वंश शैव है जिसके आदि पुरुष बिंदुनाथ थे और जो एकादश रुद्रों में थे।

'हिंदी विश्वकोश' ने भी इन्हीं स्रोतों की ओर संकेत कर तथा सांप्रदायिक मान्यताओं का व्याख्यान कर कहा है कि शैव उपासक संप्रदायों में साधारणतः दो श्रेणियाँ मिलती हैं—संन्यासी और योगी। इन योगियों में कानफटा योगियों की भी गणना होती है। बंगाल में रहनेवाली योगी जाति हिंदू जाति की एक श्रेणी है। प्राचीनतम पुराण तथा स्मृति आदि शास्त्रों में इस जाति की उत्पत्ति का कोई विवरण नहीं मिलता फिर भी वर्तमान शिक्षित योगी समाज "ब्रह्मवैवर्तपुराण के 8वें और 9वें अध्याय में वर्णित रुद्र और रुद्र के पुत्रों का उत्पत्ति प्रसंग लेकर तथा वृद्धशातातप और आगमसंहितोक्त ईश्वरोद्भूत योगपरायण ग्यारह रुद्रों से महायोगी बिंदुनाथादि का जन्म स्वीकार कर नाथपंथी योगियों से ही बंगाल के योगियों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।" दशाशौच योगी लोगों में यह मान्यता है कि उनके शिवगोत्रीय जोगियों की उत्पत्ति अवधूत नाथयोगी से ब्राह्मण और वैश्य कन्याओं में हुई थी। उन दोनों को अशौच भी क्रमशः ब्राह्मण और वैश्य की तरह ही लगता है।[2] चंद्रादित्य परमागम के विवरण से ज्ञात होता है कि सूर्यवंशीया कन्या से महादेव से उत्पन्न बिंदुनाथ (योगनाथ) नामक व्यक्ति ने गृहस्थाश्रम का अवलंबन कर क्रमशः छह गृहस्थाश्रमी और दस संन्यासी पुत्रों को उत्पन्न किया। इस कन्या को कश्यप कन्या सुरति कहा गया है। योगनाथ से उत्पन्न होने के कारण ये लोग योगी कहलाए।[3]

श्री हैमिल्टन ने 'शब्दकल्पद्रुम' में प्रयुक्त 'युगी' को बंगला के नाथयोगियों से भिन्न बताया है। वे लोग वास्तव में उन शैव संन्यासियों की संतान थे जो बाद में संसारी (गृहस्थ) बन गए थे और संभवतः वे लोग शैव मत के केंद्र बनारस से ही आए थे। ये लोग बंगाल के नीचे के भाग (तटवर्ती भाग) में निवास करने लगे और वहाँ उन लोगों ने कपड़े बुनने का व्यवसाय करना आरंभ कर दिया। वे लोग समाज के उन उच्चवर्गियों द्वारा हीन समझे गए जो शारीरिक श्रम को ऊँचा स्थान नहीं देते थे। उनकी इस हीनता का कारण यह भी हो सकता है कि वे लोग अपने समय के उस शासकवर्ग के कोपभाजन बने हों जिसे उनके नेताओं ने अप्रसन्न कर दिया हो।[4] शंकराचार्य ने अपने काल के कुछ शैव योगियों को अपने सुसंस्कृत धर्म से पूर्णतया भिन्न पाकर उन्हें अस्वीकार कर दिया था;

1. *रा० यो०,* पृ० 5-31.
2. *हिंदी विश्वकोश, भाग 18,* पृ० 743-744.
3. *वही,* पृ० 744.
4. *रा० यो०,* पृ० 32-33; एथ्नोलॉजिकल रिपोर्ट ऑन योगी कास्ट ऑव चिटगांग, मि० हैमिल्टन, 1901.

किंतु इस आधार को, जोगियों के हीन घोषित किये जाने के कारण के रूप में उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। पालवंश का शासनकाल लगभग 8वीं से 10वीं ई० शताब्दी तक था। वे लोग बौद्ध थे, किंतु सभी संन्यासियों एवं योगियों के पक्ष में भी थे। यह पूर्ण संभव है कि योगी लोगों के वंशज जुगी जाति के लोग, बंगाल में, पालवंश के शासनकाल में बसे हों तथा सम्मान्य हुए हों।[1] बौद्धमत के ह्रास और राज्याश्रय हानि से तथा हिंदू धर्म का पुनरभ्युदय होने से, बौद्ध विद्वेषी हिंदुओं ने ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से ब्राह्मण पुरोहितों का सम्मान बढ़ाया। साथ ही नाथ गुरुओं का सम्मान नष्ट हुआ। इस संबंध में ''बल्लालचरितम्'' में विस्तार से लिखा मिलता है।[2] इससे पता लगता है कि सेन राजाओं के अनेक बौद्ध धर्म विरोधी आदेशों के प्रचारित होने के बाद बंगवासी जोगियों में से कुछ बंगाल छोड़कर भाग गए और कुछ योग पद्धति तथा जातीय धर्मवृत्ति का परित्याग कर, छिपकर तरह-तरह के व्यवसाय करने लगे। राजा के आदेश से हिंदू समाज में हीन समझे जाने के बाद अधिकांश योगी कपड़ा बुनने लगे। राजा बल्लालसेन के समय से बंगाल का योगिसंप्रदाय समाज में हीन समझा जाने लगा।[3]

इस प्रकार नाथमत को माननेवाले संन्यासी भी हैं और गृहस्थ भी। नाथयोगी की, जो प्रायः संन्यासी होता है तथा प्रायः मठों में या एकांत में रहता है, भलीभाँति दीक्षा होती है। वह मेखला, शृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बाघंबर, झोला आदि चिह्न धारण करता है; किंतु गृहस्थ योगी के लिए यह सब धारण करना आवश्यक नहीं है। नाथ मत में दीक्षा, संन्यासी और गृहस्थ दोनों की होती है। दीक्षित होने के बाद ही दीक्षित व्यक्ति संन्यस्त योगी रहने का या गृहस्थ योगी रहने का निश्चय करता है।[4] प्रायः नियम है कि गृहस्थ योगी मठों में नहीं रहते। यद्यपि इसका पूर्ण पालन नहीं होता।[5] पहले ही बताया जा चुका है कि बिंदुनाथ या योगनाथ के पुत्रों की दो परंपराएँ थीं, एक तो गृहस्थों की तथा दूसरी गृहत्यागियों की। यदि इन जोगियों के इस कथन पर किसी प्रकार अर्थ निर्णय कर विश्वास कर लिया जाय तो आज के योगी संप्रदाय में मिलनेवाली दोनों परंपराएँ इसकी पुष्टि भी कर देती हैं। गृहस्थ और संन्यासी, दोनों की परंपराएँ आज के नाथयोगी समाज में जीवित हैं। गृहस्थ नाथयोगियों में कुछ कान चिरवाते हैं, कुछ नहीं। देशकाल के भेद से उनमें विभिन्न प्रकार की सांप्रदायिक क्रियाएँ मिलती हैं।

आज जोगी जाति (गृहस्थ योगियों) की जो जातीय स्थिति है उससे यह प्रतीत होता है कि हिंदुओं और मुसलमानों के समाज में से बहुत से लोग मुस्लिम शासकों के

1. *रा० यो०*, पृ० 34-35; सेंसस रिपोर्ट ऑव चिटगांग, *मि० हैमिल्टन, 1901.*
2. *बल्लालचरितम्, उ० ख० श्लो०,* 11-321.
3. *हिंदी विश्वकोश, भा० 18,* पृ० 745.
4. *गो० क० यो०*, पृ० 34.
5. *गो० क० यो०*, पृ० 47.

प्रारंभिक काल में नाथमत को माननेवाले थे। उनमें घरबारी नाथ-योगियों की संख्या भी पर्याप्त थी। संभव है कि इन वर्गों ने जिस समय नाथ मत अपनाया हो, दोनों समाजों ने इन्हें विगर्हणीय माना हो। संभव है, मुसलमानों की दृष्टि में ये लोग इस्लामेतर धर्म मानने के कारण तथा हिंदुओं की दृष्टि से वर्णाश्रम व्यवस्था का घोर विरोधी होने के कारण ये हेय घोषित किए गए हों। कुछ राजनीतिक कारणों से भी नाथयोगी संन्यासियों और गृहस्थों को सेनकाल में शासकों की ओर से अपमान सहना पड़ा था तथा राजकोष का भाजन बनना पड़ा था। इन सब तथ्यों की और चाहे जो भी व्याख्या की जाय, इतना निश्चित है कि इन गृहस्थ योगियों की मुस्लिम शासनकाल के आरंभ में सामाजिक-आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इस समय इन योगियों की शिमला, हिमालय के ऊपर के भाग, अलमोड़ा, पंजाब, अंबाला, गढ़वाल, पूर्वी उत्तर प्रदेश, बुंदेलखंड, बंगाल, हैदराबाद, बंबई, कोंकण, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि में विभिन्न जातियाँ, उपजातियाँ विभिन्न प्रकार के व्यवसायों, जीविकाओं को स्वीकार करती हुई फैली हुई हैं। बंगाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश में अधिकांश गृहस्थ योगी जातियाँ वयनजीवी हैं। इसी प्रकार ये योगी भिक्षुक, ताँती, जुलाहे, गड़ेरिये, दरजी आदि की वृत्ति को धारण करते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 1901 की जनगणना का विवरण देकर 28 वयनजीवी जातियों की एक सूची दी है जिसमें कोरी, जुलाहा तथा जुगी भी हैं। इनमें से प्रथम दो तो उत्तर भारत में तथा जुगी बंगाल में मिलते हैं।[1]

इस संपूर्ण विवेचन का सार यह है कि हर्ष के बाद के युग (लगभग 8वीं ई० शताब्दी से लेकर 18 वीं ई० शताब्दी के प्रथम दशक तक) में वर्णाश्रम व्यवस्था की कठोरता से, विदेशियों के संपर्क से, प्रतिलोम विवाह से, आश्रम संबंधी नियमों के उल्लंघन से अनेक जातियाँ, उपजातियाँ उत्पन्न हो गई थीं। अस्पृश्यों, अदृश्यों की संख्या बढ़ रही थी। इसी काल में नाथयोगियों का एक ऐसा संप्रदाय भी था जो वर्णाश्रम व्यवस्था की मर्यादाओं को नहीं स्वीकार करता था तथा अपने को पंचमाश्रमी, अतिवर्णाश्रमी या अत्याश्रमी कहता था। पाशुपत, जैन, बौद्ध आदि संन्यासप्रधान वर्गों को परंपराविरोधी और आचारविहीन माना जाता था। नाथसिद्ध पाशुपतों की परंपरा में थे। इसीलिए उन्हें भी आचारविहीन और परंपराविरोधी माना गया था। नाथपंथी लोग अपने को शिवसंतान मानते थे। बिंदुनाथ, जो शिवपुत्र थे तथा जिन्हें योगनाथ भी कहा जाता था, इन नाथपंथी योगियों के आदिपुरुष थे। इसीलिए इन नाथपंथियों को योगी कहते हैं। इस प्रकार नाथपंथी योगी आचारविहीन परंपराविरोधी संन्यासियों की परंपरा में हैं। ये नाथपंथी योगी पहले एक धार्मिक संप्रदाय के रूप में थे। बाद में ये एक सांप्रदायिक जाति के रूप में विकसित हुए। अनुमान किया जाता है कि ब्राह्मण वर्णाश्रम व्यवस्था से पृथक्कृत या हीन

1. *नाथ संप्रदाय, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी,* पृ० 20-23.

घोषित जातियाँ, उपजातियाँ, इस अतिवर्णाश्रमी या पंचमाश्रमी संप्रदाय की अनुयायिनी हो गई होंगी। इस प्रकार यह संपूर्ण नाथ धर्मानुयायी समुदाय, नाथ धर्म मानने के कारण तथा गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के कारण एक स्वतंत्र सांप्रदायिक जाति बन गया। इस सांप्रदायिक जाति ने जिसे नाथपंथी जोगी या 'जुगी' जाति भी कहा जाता है, पालवंशी राजाओं के काल में प्रतिष्ठा को प्राप्त किया। बाद में पालवंशीय शासन की समाप्ति, सेनवंश की स्थापना, आचारविहीन परंपराविरोधी बौद्ध धर्म के पतन तथा सेनवंशी शासकों के कोपभाजन बनने से या राज्याश्रय हानि से इस जाति ने अपनी प्रतिष्ठा बंगाल में खो दी। अत: वे वहाँ सामाजिक दृष्टि से भी हीन माने गए। परिणास्वरूप अपनी दीनावस्था के कारण अनेक परिश्रमसाध्य जीविकाओं और व्यवसायों को अपनाया और इस प्रकार शारीरिक श्रम को घृणा की दृष्टि से देखने वाले उच्चवर्गीय समाज की दृष्टि में ये गिर गए। इनका प्रसार केवल बंगाल में ही नहीं अपितु काशी तक विस्तृत था। अनेक व्यवसायों को स्वीकार करनेवाली नाथपंथी गृहस्थ जोगियों की अनेक उपजातियाँ संपूर्ण उत्तरी भारत में ही नहीं, दक्षिण में महाराष्ट्र तक और आगे भी विस्तृत थीं। यह बताया गया है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अपने आक्रमणकाल तथा विश्रामकाल में भी, कोटिश: हिंदुओं को बलात्, प्रलोभनवश, आर्थिक परिस्थितियों से बाध्य कर इस्लाम धर्म में परिवर्तित कर दिया। इन विदेशी आक्रमणकारियों में जन्म या कर्म के आधार पर कोई वर्ग-विभाजन नहीं था। नाथयोगियों के संप्रदाय में बहुत से मुसलमान भी सम्मिलित हो गए। नाथयोगियों का मुसलमानों से घनिष्ठ संबंध था तथा मुस्लिमों से शासित होने वाले प्रदेशों—पंजाब, राजपूताना, राजस्थान, अफगानिस्तान, कंदहार, कच्छ, धिनोधर आदि में इन नाथयोगियों के मुख्य केंद्र थे। इन प्रदेशों में बहुत से मुसलमानों ने भी नाथ धर्म ग्रहण किया। अनुमान है कि नाथ धर्म ग्रहण करने वाले मुसलमानों में अधिकांश पहले हिंदू रहे होंगे।

छठाँ परिच्छेद

नाथों की सांप्रदायिक स्थिति

लगभग 9वीं से लेकर 12वीं ई० शताब्दी तक का युग मुख्य रूप से ज्ञान और योग का अथवा इनसे संपर्कित विभिन्न आदर्शों अथवा साधनापद्धतियों का युग है। भारतीय साधना के तत्त्व इस युग में कहीं तो अत्यधिक गूढ़ और सघन भाव से प्रतिष्ठित हैं और कहीं इनका सद्यः विकासमान भक्ति तत्व के साथ संपर्क दिखाई पड़ता है। अभी तक लोग अधिकांशतः नाथों को शैव मानते हैं और सांप्रदायिक प्रमाण भी यही कहते हैं। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के उदयकाल तक बौद्धों का निर्बाध प्रचार-प्रसार होता रहा। आस्तिक षड्दर्शनों का संगठित होकर एकसाथ नास्तिक संप्रदायों का खंडन करना, कुमारिल और शंकर का युतपत् दार्शनिक और सामाजिक आक्रमण, शैवों का विरोध, इन सबने मिलकर प्राचीन बौद्ध धर्म तथा उसके विभिन्न परवर्ती रूपों और संप्रदायों को खंडित करना आरंभ कर दिया था। परिणामतः बौद्ध धर्म को अधिकाधिक गुह्य और रहस्यात्मक क्रिया-विधानों में अपने को लिप्त कर देना पड़ा। युगधर्म भी उस ओर उन्मुख था। कुमारिल ने वैदिक धर्म की कर्मपरक व्याख्या से तथा शंकराचार्य ने वैदिक मत की ज्ञानपरक व्याख्या और मंडन से तत्कालीन तर्क प्रतिष्ठित शून्यवादी परंपरा को पराजित किया। वेदों की ज्ञानधारा का चरम विकास उपनिषदों में है। उनके विचारों का, बौद्ध तार्किक नागार्जुन की ही पद्धति का अनुसरण करते हुए ज्ञान-प्रधान वैदिक मत का व्यवस्थित और तर्क-प्रतिष्ठित विवेचन कर शंकराचार्य ने तत्कालीन विद्वत्समाज में बौद्धों की दार्शनिक प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाई। पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए मानवप्रयत्नों को वैदिक रीति से प्रतिष्ठित करने का कार्य कुमारिल ने किया था। बौद्धों के समान ही जैनों की भी स्थिति थी। इस प्रकार रामानुजाचार्य के अभ्युदय तक प्रबुद्ध प्रभावशाली संप्रदाय के रूप में शैव मत ही था यद्यपि क्षेत्रीय धर्मों और संप्रदायों के रूप में बौद्धों, जैनों और वैष्णवों की प्रतिष्ठा थी, किंतु इस विचार को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जनसामान्य में, विशेषकर द्विजातियों में कर्मकांड का प्राधान्य था।

शैव मत अथवा माहेश्वर संप्रदाय पर्याप्त प्राचीन है, इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। इसके लिए डॉ० भंडारकर, डॉ० फर्कुहर, डॉ० यदुवंशी आदि विद्वानों के ग्रंथों को देखा जा सकता है। विविध प्रकार के अध्ययन से यह बात संगत प्रतीत होती है कि लगभग 5वीं-6वीं ईस्वी शताब्दी तक बौद्ध मत ने भारतीय तांत्रिक मत एवं

साधनापद्धति की अनेक विचारसरणियों को आत्मसात् कर लिया था। पुराणों, तंत्रों की पद्धति का प्रयोग बौद्धों में लगभग दूसरी-तीसरी ई० शताब्दी से ही मिलता है। प्राचीन तांत्रिक मत तथा कालांतर में विकसित तांत्रिक मत को जिस रूप में बौद्धों ने ग्रहण किया था, उसका परिपाक लगभग 11वीं ई० शताब्दी की अद्वयवज्रादि की रचनाओं में मिलता है। यहाँ तक कि आगे चलकर बौद्ध तथा बौद्धेतर तांत्रिकों में बाह्य दृष्टि से अधिक अंतर नहीं प्रतीत होता।[1] मध्यकाल के प्रथमार्द्ध में शैव बौद्ध संपर्क एवं समन्वय के तो प्रमाण मिलते ही हैं, साथ ही उनके परस्पर विरोध एवं प्रतिद्वंद्विता के भी प्रमाण मिलते हैं।

रुद्र एक वैदिक देवता के रूप में पहले से ही प्रतिष्ठित थे। उनकी भयंकरता में क्रमश: परिवर्तन हुआ और वैदिक रुद्र मंगलकारी देवता शिव के रूप में स्वीकृत हुए। गृह्यसूत्रों के समय में रुद्र भयंकर देवता थे और उन्हे पशुपति अमद भी कहा जाता था। उन्हें परम शक्तिमान भी माना जाता था। वैदिक देवताओं में विष्णु की तुलना में वे दूसरे सर्वाधिक शक्तिशाली तथा सर्वव्यापक देवता थे। श्वेताश्वतर और अथर्वशिरस् उपनिषदों में शिव के प्रति भक्तिभावना का निर्वचन हुआ। महाभारतकाल में लिंगोपासन भी प्रचलित था। शैव धर्म को वहाँ व्रात्यों का धर्म बताया गया है। पतंजलि ने शिवभागवत का उल्लेख किया है। महाभारत के शांतिपर्व में ही पाशुपत मत का उल्लेख है। ह्वेनत्सांग ने पाशुपत गृहस्थों का विवरण दिया है। इस प्रकार ह्वेनत्सांग तक कुछ शैव संप्रदायों का पर्याप्त प्रसार हो चुका था तथा तीन प्रकार के शिवोपासक मिलते थे—संन्यासी, सामान्य उपासक (या गृहस्थ ?) तथा वे जिनका यद्यपि किसी विशेष संप्रदाय से संबंध नहीं था, फिर भी वे शिव की भी उपासना करते थे।[2] शंकराचार्य के काल में शैव संप्रदाय माहेश्वर कहलाते थे। डॉ० भंडारकर के अनुसार 'माहेश्वर' शब्द शैवों के लिए एक प्राचीन नाम है। रामानुज और केशव काश्मीरी के काल तक शैव संप्रदायों में कारुणिक सिद्धांती, कापालिक, पाशुपत, माहेश्वर, लाकुलीश आदि नाम प्रसिद्ध थे।[3] लगभग 9वीं ई० शताब्दी में काश्मीर में काश्मीर शैव मत का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें दार्शनिक दृष्टि से स्पंद मत और प्रत्यभिज्ञा मत नाम की दो शाखाओं का भी विकास हुआ।[4] यदि परंपरा का विचार किया जाय तो काश्मीर शैव मत का उदय लगभग 5वीं शताब्दी में ही माना जा सकता है।[5] इस प्रकार यदि प्राचीन नाम को महत्व

---

1. *शैवों,* हिंदू तांत्रिकों एवं बौद्ध तांत्रिकों के संबंध, संपर्क, मिश्रण आदि के लिए तां० बौ० सा० सा० के विधि प्रसंगों को देखा जा सकता है।
2. *वैष्णविज़्म शैविज़्म भंडारकर,* पृ० 146-169.
3. *वही,* पृ० 170-173.
4. *वही,* पृ० 183-184.
5. *तां० बौ० सा० सा०,* पृ० 170; काश्मीर शैविज़्म, जगदीशचंद्र चटर्जी, पृ० 6, 9, 40; *भारतीय दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय,* पृ० 560.

दिया जाय तो संपूर्ण शैव मत समूह के लिए एक व्यापक नाम माहेश्वर मत स्वीकार किया जा सकता है जिसके अंतर्गत सांप्रदायिक दृष्टि से कारुणिक सिद्धांती, कापालिक, पाशुपत, कालानन आदि की गणना की जा सकती है।

लगभग ई० श० के पूर्व ही पाशुपत मत तथा लगभग प्रथम ई० श० के शाखा लाकुलीश का अभ्युदय हो चुका था। 6ठीं ई० श० तक सभी संप्रदायों का स्पष्ट रूप सामने आ चुका था। डॉ० यदुवंशी का मत है कि "पुराणों के समय (लगभग छठीं ई० श०) तक शैवमत पूर्ण विकसित और संगठित हो चुका था तथा वेदोत्तर ब्राह्मण धर्म के दो प्रमुख मतों में से एक बन गया था।" "केवल उसके दार्शनिक पक्ष का विकास होता रहा और वह पुराणोत्तर काल में ही जाकर अपनी पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँचा।" "पुराणोत्तर काल में अगर कोई नई बात हुई, तो वह थी—शैव मत के अंदर ही विभिन्न संप्रदायों की उत्पत्ति।"[1] हमारे विवेच्य विषय का संबंध पुराणोत्तर (छठीं ई० शताब्दी के बाद के) काल से ही है और इसी काल में नाथ संप्रदाय के अभ्युदय एवं विकास को भी देख पाते हैं। यद्यपि, जो विवरण उपलब्ध है, उससे दाक्षिणात्य शैव मतों में भी हम नाथ संप्रदाय एवं गोरक्षनाथ का प्रसार पाते हैं किंतु इस समय हमारा केवल उत्तर भारतीय शैव संप्रदायों में नाथों की स्थिति से ही तात्पर्य है। डॉ० यदुवंशी ने इस पुराणोत्तर काल में जीवित भारशिव, जटाधारी पाशुपत, मुंडी, कापालिक अथवा महाव्रती आदि की चर्चा विभिन्न ऐतिहासिक एवं साहित्यिक स्रोतों के आधार पर की है।[2] इन संप्रदायों में से पाशुपत एवं कापालिक संप्रदायों की चर्चा उन्होंने विशेष रूप से की है जैसे इस काल (6ठीं के बाद 13वीं श० तक) में इन्हीं का विशेष प्रामुख्य रहा हो। इस चर्चा के अंत में यद्यपि उन्होंने शैव संप्रदायों में से कुछ के तो लुप्त हो जाने और कुछ के नामों के बदल जाने की बात कही है तथापि इस पुराणेत्तर काल में इस परिवर्तन को प्राप्त करनेवाले शैव संप्रदायों का न तो नामोल्लेख किया और न उनके परिवर्तित स्वरूप की ही चर्चा की।

कुछ विद्धानों ने इन शैव संप्रदायों का अधिक विवृति के साथ विचार किया है। जैसा हम कह चुके हैं, पुराणोत्तर काल में विभिन्न शैव संप्रदायों का उदय हुआ, तदनुसार यह भी प्रकट होता है कि 10वीं ई० श० के पूर्व ही सभी शैव संप्रदायों का स्पष्ट रूप सामने आ चुका था। एक मत के अनुसार माहेश्वरों के स्पष्टत: दो स्थूल वर्ग दिखाई पड़ते हैं—पाशुपत शैव और आगमिक शैव। पाशुपत शैवों में पाशुपत, लाकुलीश, कापालिक, नाथ, गोरखनाथी और रसेश्वर थे। दूसरे वर्ग में शैव सिद्धान्ती, तमिल शैव, काश्मीरी शैव और वीर शैवों की गणना की जाती है। पाशुपत लोग शिवावतार स्वीकार करते थे। आगमिक शैव शिवावतार नहीं स्वीकार करते तथा आगमों को अपना मूल ग्रन्थ

1. *शैव मत, डॉ० यदुवंशी,* पृ० 139.
2. *वही,* पृ० 152–158.

मानते हैं। अभी भी इतनी सामग्री उपलब्ध नहीं है कि इन सभी संप्रदायों को अलग-अलग, सभी दृष्टियों से भिन्न सिद्ध किया जा सके।[1] यद्यपि डॉ० फर्कुहर के विभाजन से यह स्पष्ट होता है कि नाथपंथी, गोरखनाथी और रसेश्वर संप्रदायानुयायी सांप्रदायिक परंपरा की दृष्टि से पाशुपत हैं अथवा प्राचीन पाशुपतों की परंपरा में हैं, तथापि उनका यह वर्गविभाजन असंगत प्रतीत होता है क्योंकि पाशुपतों और आगमिक शैवों में इस प्रकार का भेद था, इसकी सिद्धि कम से कम गोरक्षनाथ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के आधार पर तो होती दिखाई नहीं पड़ती अथवा वे पाशुपतों एवं आगमिकों के सेतु अथवा संधिस्थल रहे हों। परवर्ती काल में नाथ संप्रदाय में गोरक्षनाथ को शिव के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया और यह भी मान लिया गया कि गोरक्षनाथ ने चार कालों में चार भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अवतार लिया। इस दृष्टि से तो नाथ संप्रदायानुयायी पाशुपत शैव ही प्रतीत होते हैं जबकि गोरक्षनाथ की रचनाओं से यह बात सिद्ध नहीं होती कि डॉ० फर्कुहर के वर्ग विभाजनानुसार गोरक्षनाथ केवल पाशुपत थे अथवा आगमिक नहीं थे। गोरक्ष की आगमिकता की चर्चा आगे भी की गई है।

गोरक्ष शंकर परवर्ती हैं। डॉ० फर्कुहर ने संकेत किया है कि शंकराचार्य ने अपने भाष्य में पाशुपत संप्रदाय की आलोचना की है। उनकी दृष्टि में पाशुपत लोग ईश्वर को उपादान कारण नहीं मानते और उनका मत औपनिषद मत के विरुद्ध है। पाशुपत मत के विशिष्ट रूप लाकुलीश संप्रदाय के दार्शनिक साहित्य की रचना 7वीं ई० श० के पूर्व ही हो चुकी थी। आगमों को न स्वीकार करनेवाले इस मत का जन्म गुजरात में हुआ तथा यह तदनन्तर दक्षिण, मैसूर, राजपूताना आदि में प्रसरित हुआ। शिवावतार को ये भी स्वीकार करते थे। कापालिक मत प्राचीन पाशुपत मत का दूसरा संप्रदाय है। छठीं ई० श० के उत्तरार्द्ध में इनका उदय प्रतीत होता है। इनके दर्शन और साधन दोनों वाममार्गी शाक्तों से अधिक समानता रखते हैं। मालतीमाधव में अघोरघंट तथा कपालकुंडला का परिचय मिलता है। गोरखनाथियों के सम्बन्ध में डॉ० फर्कुहर का विश्वास है कि गोरखनाथ के पूर्व भी नाथ संप्रदाय था जिसका विशिष्ट रूप गोरखनाथ का संप्रदाय है[2] परन्तु उन्होंने प्राचीन नाथमत का कोई विवरण नहीं दिया है।

11-12 ई० शताब्दी तक के माहेश्वर संप्रदायों का विवरण अन्यत्र भी मिलता है। विभिन्न शिलालेखों एवं ऐतिहासिक आलेखों के आधार पर डॉ० पाठक ने यह विवृत करने का प्रयत्न किया है कि पूर्व मध्यकाल में शैव मत भारत में बहुत लोकप्रिय था। अधिकांश गाहड़वाल, चेदि, चंदेल और उड़ीसा के राजा परम माहेश्वर कहे जाते थे। इसी प्रकार आसाम के हरजर वर्म्मा तथा वैद्यदेव, बंगाल के विजयसेन तथा बल्लाल सेन,

1. *ऐन आउटलाइन ऑव द रेलिजस लिटरेचर ऑव इंडिया, डॉ० जे० एन० फर्कुहर,* पृ० 190-191.
2. *आ० रे० लि० इं०,* पृ० 191-192.

पश्चिमी भारत के देवपाल, परमार तथा भर्तृवढ चाहमान भी इसी धार्मिक उपाधि को धारण करते थे। अनेक शासकों ने अपने राज्य शिव अथवा शैव संन्यासियों को समर्पित कर दिए थे। ये शैव संन्यासी विभिन्न शैव संप्रदायों से सम्बद्ध थे।[1] श्रीकरभाष्य में उद्धृत कूर्मपुराण में शैवों के तीन स्थूल विभाग मिलते हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। मिश्र के अन्तर्गत वे शैव आते थे जिनके प्रमुख उपास्य शिव की उपासना अन्य चार देवताओं के साथ होती थी। इस प्रकार यह मत पंचदेवोपासना के स्मार्त संप्रदाय की तरह था। वैदिक शैव मत में लाकुलीश पाशुपत की गणना प्रतीत होती है जबकि तांत्रिक शैव मत में कालानन और कापालिक जैसे अतिवादी संप्रदाय अंतर्गणित प्रतीत होते हैं।[2] डॉ० पाठक का विचार है कि यद्यपि लाकुलीश पाशुपत संप्रदाय मूलतः आगमों का अनुसरण करने वाला है तथापि पुराणों में उसे इसलिए वैदिक कहा गया है कि तुलनात्मक दृष्टि से वह आस्तिक है तथा प्रारम्भ में उसने वैदिक वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर लिया था। इसी प्रकार शैव सिद्धान्त भी आगमानुसारी था।[3]

शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक आलेखों में भी विवेच्यकाल के माहेश्वर संप्रदायों का विवरण मिलता है। मल्कापुरम् शिलालेख (श० सं० 1183 वि० सं० लगभग 1318) में शैव मत के चार संप्रदायों का उल्लेख मिलता है—शैव, कालानन, शिवशासन तथा पाशुपत। वामन और शिवपुराण, आगम प्रामाण्य, श्रीभाष्य, वाचस्पति मिश्र रचित शारीरक भाष्य, हरिभद्र सूरि रचित षड्दर्शन समुच्चय तथा अन्य आगम ग्रन्थों में इन संप्रदायों के उल्लेख मिलते हैं। इनमें से शैव तो शैव सिद्धान्ती थे तथा कालानन को कारुक भी कहा जाता था। पाशुपत संप्रदाय की लाकुलीश पाशुपत नाम की एक शाखा भी थी। कापालिक संप्रदाय का एक सोम संप्रदाय भी था जिसके साथ उसका सम्बन्ध था।[4] दक्षिण के कुछ शिलालेखों में छह शैव संप्रदायों का उल्लेख मिलता है—1. भैरव, 2.वाम, 3. कालामुख, 4. महाव्रत, 5.पाशुपत, 6.शैव। डॉ० पाठक का अनुमान है कि वाम और भैरव कापालिक हो सकते हैं। आनंदगिरि (लगभग 1260 ई०)[5] ने अपने शंकर दिग्विजय में शैव, रौद्र, उग्र, भट्ट, जंगम, पाशुपत नाम के छह संप्रदायों का उल्लेख किया

1. *शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया, वि० श० पाठक,* पृ० 1-2.
2. *शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया, वि० श० पाठक,* पृ० 2 तथा पादटिप्पणी—

   तान्त्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुपतं शुभम्।
   तप्तलिंगाकशूलादिधारणं तान्त्रिकं मतम् ॥
   लिंगरुद्राक्षभस्मादिधारणं वैदिकं भवेत् ।
   रविं शम्भुं तथा शक्तिं विघ्नेशं च जनार्दनम्।
   यजन्ति समभावेन मिश्रं पाशुपतं हि तत् ॥

3. *वही,* पृ० 2.
4. *वही,* पृ० 3 तथा पादटिप्पणी।
5. *हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी, दासगुप्त, खंड 2,* पृ० 124.

है[1], किन्तु उनके विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से अनेक लिंगायत संप्रदाय के ही भेद हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि लगभग 13वीं ई० श० तक भारत में कालानन, कापालिक, लाकुलीश, पाशुपत और शैव सिद्धान्त नामक पाँच शैव संप्रदायों का अधिक प्रचार था।

महाभारत के प्रमाण पर कहा जाता है कि पाशुपत संप्रदाय पाँच माहेश्वर धार्मिक संप्रदायों में से एक था जिसका प्रकाशन श्रीकंठ ने किया था। इस परंपरा का प्रमाण तन्त्रालोक, शिवदृष्टि, बृहद्यामल, पिंगलामत तथा शिवपुराण में मिलता है। श्रीकंठ की महत्ता की पुष्टि शारदातिलक की एक टीका, तन्त्रालोक, रत्नत्रय की शैव सिद्धान्तानुयायी अघोरशिव रचित टीका से होती है।[2] शैव देवमंडल में लकुलीश तथा श्रीकंठ की तरह ही गोरक्ष को भी मानव गुरुओं के रूप में स्थान दिया जाता है। कुछ सूत्रों से यह भी विचार मिलता है कि लकुलीश श्रीकंठ के शिष्य थे और इन्हीं दोनों ने मिलकर पाशुपत धर्म की स्थापना की। कुछ लोग विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इन दोनों के इस प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते और मानते हैं कि लकुलीश के बहुत पूर्व पाशुपत मत वर्तमान था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाशुपत मत की स्थापना श्रीकंठ ने की और कालान्तर में उससे अनेक शाखाएँ विकसित हुईं। लकुलीश द्वारा पुरस्कृत शाखा लाकुलीश पाशुपत नाम से विख्यात हुई।[3] श्रीकंठ के समय के विषय में विवाद है। उनके समय के सम्बन्ध में अनुमान किया जा सकता है कि एक मत के अनुसार वे वसुगुप्त के गुरु थे तथा साथ ही आगमों एवं शिवसूत्रों के रचयिता थे। वसुगुप्त का समय 9वीं ई० शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इस आधार पर श्रीकंठ का समय आठवीं ई० श० का उत्तरार्द्ध अथवा 9वीं ई० श० का प्रारम्भ माना जा सकता है।[4] इस आधार पर पाशुपत मत आठवीं ई० श० के अन्त में उदित हुआ जो उपर्युक्त विभिन्न प्रमाणों से मेल नहीं खाता। अत: निश्चय ही या तो पाशुपत मत के प्रथम उपदेष्टा श्रीकंठ प्रथम ई० शताब्दी के पूर्व उदित हुए होंगे जबकि लाकुलीश पाशुपत मत के संस्थापक लकुलीश का अभ्युदय[5] हुआ होगा अथवा वसुगुप्त और श्रीकंठ के बीच कई पीढ़ियों का अन्तर रहा होगा। यदि डॉ० भंडारकर का यह मत मान लिया जाय कि लकुलीश प्रथम शताब्दी में उदित हुए थे तथा साथ ही डॉ० बागची का यह मत भी स्वीकार कर लिया जाय कि लकुलीश श्रीकंठ के शिष्य थे।[6] तो इस आधार पर यह निश्चय किया जा सकता है कि श्रीकंठ का वर्तमान

1. *शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया,* पृ० 4 तथा पादटिप्पणी।
2. *शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया,* पृ० 4-5.
3. *वही,* पृ० 6-8.
4. *काश्मीर शैविज़्म,* जगदीशचंद्र चटर्जी, पृ० 36 अ, 40.
5. *शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया,* पृ० 9.
6. *वही,* पृ० 7-9.

काल प्रथम ई० श० का प्रथम भाग है और तदनुसार पाशुपत मत का प्रवर्तनकाल भी प्रथम ई० श० होगा; किन्तु कुछ प्रमाणों के आधार पर पाशुपत मत के पुरस्कर्ता के रूप में श्रीकंठ की मान्यता को कुछ लोग कल्पना भी मानते हैं। इसके होते हुए भी इतना निश्चित है कि पाशुपत मत प्रथम ई० श० का पूर्ववर्ती है जबकि महाभारत में इसका उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार की इस विचारणा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन माहेश्वर संप्रदाय में अनेक संप्रदाय थे जिसमें पाशुपत मत भी एक था और जिसका अभ्युदयकाल लगभग प्रथम ईस्वी शताब्दी माना जा सकता है यद्यपि इसके पूर्व के भी अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस पाशुपत मत में श्रीकंठ, लकुलीश के साथ ही गोरक्ष की मान्यता थी; किन्तु गोरक्षनाथ पाशुपत मत के किस संप्रदाय विशेष से संबद्ध थे, इसका उल्लेख विद्वानों ने नहीं किया। शैव मत में पाशुपत, लाकुलीश पाशुपत, कापालिक, नाथ, गोरखनाथी और रसेश्वर नाम के जिन संप्रदायों की चर्चा ऊपर की गई उनमें से नाथ एवं गोरखनाथी के उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलते। यदि यह मान लिया जाय कि पाशुपत मत में नाथ संप्रदाय जैसा कोई संप्रदाय था तो मत्स्येंद्र और गोरक्ष के काल तक केवल गोरखनाथी उनके प्रतिनिधि रह जाते हैं। मूल पाशुपत मत के जिन पाँच तत्वों का निर्वचन शंकराचार्य ने किया था, उनमें योग भी एक है। लाकुलीश संप्रदाय के सिद्धान्त प्रायः पाशुपतों के ही हैं, केवल साधन में थोड़ा अन्तर माना गया है। लगभग 9वीं ई० श० से लेकर 14वीं ई० श० के पूर्वार्द्ध तक माहेश्वर संप्रदायों में सर्वाधिक क्रियाशील नाथपंथी और कापालिक ही दिखाई पड़ते हैं। डॉ० फर्कुहर की दृष्टि में नाथ और कापालिक परस्पर घनिष्ठरूपेण संबद्ध हैं। अनुमान है कि गोरखनाथ के पूर्व तक नाथ लोग सुसंगठित नहीं थे। उनकी प्रारम्भिक अवस्था थी। इस प्रसंग में डॉ० फर्कुहर ने सर्वदर्शनसंग्रह में वर्णित 'रसेश्वरदर्शन' का भी उल्लेख किया है।[1]

इस विवेचन से प्रतीत होता है कि यह मत सांप्रदायिक परंपरा की दृष्टि से पर्याप्त प्राचीन है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि लगभग 14वीं ई० श० के पूर्वार्द्ध तक नाथों के समान ही रसेश्वर, कापालिक जैसे माहेश्वर संप्रदाय भारतीय जनमानस में प्रचलित थे। डॉ० फर्कुहर ने नाथों और कापालिकों की समता और सम्बन्ध की ओर संकेत अवश्य किया है; किन्तु रसेश्वरवादियों से भी नाथों का सम्बन्ध था, इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। वस्तुतः जैसा पहले कहा जा चुका है, रसेश्वर संप्रदाय के भी सिद्धों में से कुछ नवनाथों में गृहीत हैं। यह कहा जाता है कि नाथ लोग आगमानुयायी नहीं हैं तथा शिवावतार को मान्यता देते हैं; किन्तु काश्मीरी शैव आगमानुयायी हैं। वस्तुतः यह एक प्रसिद्ध तथ्य है कि काश्मीरी शैव आचार्य अभिनवगुप्त ने मच्छंदविभु का स्तवन

1. *आ० रे० लि० इं०*, पृ० 251-254.

किया है। दूसरे, स्वयं गोरक्षनाथ (जिनका दूसरा नाम महेश्वरानंद था) की काश्मीरी अपभ्रंश में एक महार्थमंजरी नाम की रचना कही जाती है। ये महेश्वरानंद, महाप्रकाश (जिन्हें मत्स्येंद्रनाथ भी कहते हैं) के शिष्य थे। स्वयं महेश्वरानंद ने अपने गुरु महाप्रकाश का अपनी रचना के प्रथम छंद में स्मरण किया है। इसी प्रकार काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली में प्रकाशित 'अमरौघशासनम्' ग्रंथ भी गोरक्षनाथकृत माना गया है। महामहोपाध्याय पं० मुकुन्दराम शास्त्री का कथन है कि इस ग्रंथ में स्वच्छंद तंत्र आदि मुख्य शैवागमों में वर्णित योगपद्धति का अनुसरण किया गया है।[1] इस आधार पर यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि मत्स्येंद्र गोरक्षादि का सम्बन्ध आगमों और काश्मीरी शैवों से अवश्य था।

इसके स्पष्टीकरण के लिए कुछ और विवेचन समीचीन प्रतीत होता है। ऊपर माहेश्वर मत के अवांतर धार्मिक भेदों की चर्चा में यह बताया गया है कि इनमें मुख्य रूप से पाशुपत, शैव, कालानन और कापालिक की गणना होती है। ये सभी शैवागमों को अपना प्रमाण ग्रंथ मानते हैं; किन्तु इस प्राचीन माहेश्वर मत में दार्शनिक भेद भी हैं, जिनमें पाशुपत दर्शन, शैव दर्शन (शैव सिद्धान्त), वीरशैव दर्शन तथा प्रत्यभिज्ञा (अर्थात् त्रिक दर्शन) की गणना की जाती है।

ऊपर के कुछ विवरणों को देखने से यह ज्ञात होता है कि पाशुपत मत के प्रतिष्ठित प्रवर्तक आचार्य श्रीकंठ थे और उनका लकुलीश तथा वसुगुप्त से घनिष्ट सम्बन्ध येनकेनप्रकारेण स्वीकार किया जाता है। वसुगुप्त के सम्बन्ध में लोग यह प्रमाणित करते हैं कि इनके गुरु श्रीकंठ थे। वसुगुप्त की पूर्व परम्परा के सम्बन्ध में श्री जगदीशचंद्र चटर्जी का मत है कि श्रीकंठ आगमों (तन्त्रों) के प्रवर्तक तथा शिवसूत्रों के रचयिता थे। वसुगुप्त (जो 9वीं ई० श० के पूर्वार्द्ध में उदित हुए थे) ने शिवसूक्तों को प्रातिभ साक्षात्कार से प्राप्त किया। श्री चटर्जी ने श्रीकंठ के समय के सम्बन्ध कुछ नहीं कहा।[2] तंत्रालोक की टीका के आधार पर यह कहा जाता है कि भगवान् परम शिव स्वोपदिष्ट शैवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर परम खिन्न हुए और उनकी अद्वैतपरक व्याख्या एवं प्रचार के लिए दुर्वासा को आदिष्ट किया। उनके तीन मानस पुत्रों (त्र्यंबक, आमर्दक तथा श्रीकंठ) ने दुर्वासा के आदेशानुसार क्रमश: अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत का प्रचार किया। इस त्र्यंबक प्रचारित अद्वैतवादी त्रिक मत में आगे चलकर वसुगुप्त हुए।[3] कुछ लोग त्र्यंबक से लेकर

1. *महार्थमंजरी, गोरक्ष टिल्ला, वाराणसी से प्रकाशित*—छं० 1, पृ०3—*'नत्वा नित्यशुद्धौ गुरोश्चरणौ महाप्रकाशस्य (मत्स्येंद्रस्य)। ग्रथ्नाति महार्थमञ्जरीमिमांसुरभिं महेश्वरानन्दः ॥1॥'*; *अमरौघशासनम्—सं० म० म० पं० मुकुंदराम शास्त्री, प्रकाशकीय वक्तव्य,* पृ० 1—*'अस्ति चात्र विषयः—'श्री स्वच्छन्दतन्त्रादिमुख्यशैवागमेषु यथोपयोगं स्थाने स्थाने वितत्यानुशिष्टयोगपद्धत्यनुसृत्या..... ।'*
2. *काश्मीर शैविज़्म,* पृ० 36 अ.
3. *भारतीय दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय,* पृ० 454-455.

वसुगुप्त तक की अवधि के बीच किसी अन्य आचार्य का नाम नहीं लेते; किन्तु दूसरे स्रोत वसुगुप्त के पूर्व श्रीकंठ का आगम महत्त्वपूर्ण मानते हैं, जैसा पूर्व विवेचन से विदित होता है। इस प्रकार श्रीकंठ पाशुपत मत एवं त्रिक दर्शन दोनों के क्रमश: प्रवर्तक एवं आचार्य प्रतीत होते हैं (यद्यपि श्रीकंठ के समय के सम्बन्ध में विवाद है)। दूसरी ओर इसी प्रत्यभिज्ञा अथवा त्रिक दर्शन के सुप्रतिष्ठित आचार्य अभिवनगुप्त ने अपने तंत्रालोक (आ० 37) में पाशुपत मत को अपने अद्वैत मत के अनंतर ही उच्च स्थान दिया है। उनका मत है कि पाशुपत मोक्षप्रापक मार्ग है जबकि उनका मार्ग भोगमोक्ष का युगपत् प्रापक होने के कारण अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है। वे पाशुपत मत को द्वैताद्वैतपरक मानते हैं।[1] एक तीसरी महत्वपूर्ण सूचना इस सम्बन्ध में यह है कि अभिनवगुप्त आचार्य शंभुनाथ के शिष्य मत्स्येंद्रनाथ के संप्रदाय के एक सिद्ध कौल थे।[2] इसी प्रकरण में यह भी ज्ञातव्य है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन को त्रिक का षडर्ध शास्त्र नाम पशु, पति, पाश नाम के तीन तत्त्वों का प्रधानतया वर्णन करने के कारण ही दिया गया है।[3] इन बातों पर विचार के उपरान्त यह विदित होता है कि माहेश्वर मतों में पाशुपत संप्रदाय और काश्मीर शैव दर्शन अथवा त्रिक दर्शन का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात अलग है कि अभिनवगुप्तपादाचार्य ने पाशुपत मत को अपने मत से कुछ निम्न स्थान दिया है। संभवत: इसीलिए उनके कौल मत को अर्धत्र्यंबक मत कहा गया है।[4] इससे यह अनुमान करने के लिए अवसर निकल आता है कि काश्मीर शैव मत में ही कुछ आचार्य केवल मोक्ष को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते थे और कुछ भोग और मोक्ष दोनों को। यह संभव है कि उनके संप्रदाय भिन्न-भिन्न रहे हों। मत्स्येंद्रनाथ का कौल मार्ग भोगमोक्षप्रापक मार्ग था; किन्तु गोरक्षनाथ यद्यपि उन्हीं के शिष्य थे तथापि भोग को साधनमार्ग में हेय समझते थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि त्र्यंबक द्वारा प्रवर्तित एवं श्रीकंठ और वसुगुप्त द्वारा अद्वैतवादी शैवदर्शन से पुष्ट पाशुपत मत की योगप्रधान शाखा के प्रसिद्ध अनुयायियों में गोरक्षनाथ की गणना अधिक समीचीन है जबकि मत्स्येंद्रनाथ इस माहेश्वर मत की भोगमोक्षप्रापिका शाखा (कौलमार्ग) के प्रसिद्ध आचार्यों में अंतर्गणित थे और अभिनवगुप्त भी उसी परंपरा में थे। यदि मत्स्येंद्रोद्धार की कथा पर विश्वास किया जाय तो यह अनुमान सरल है कि मत्स्येंद्र अपने पूर्व संप्रदाय त्र्यंबक मत के अनुयायी थे, किन्तु बाद में अर्द्धत्र्यंबक कौल मत के आचार्य बने और तदुपरान्त गोरक्ष उन्हें उनके पूर्व संप्रदाय में लौटा लाए। अभिनवगुप्त ने गोरक्ष को स्मरण क्यों नहीं किया जब कि उनके पूर्व मत्स्येंद्र को छोड़ दूसरा कोई ऐसा महिमाशाली व्यक्तित्व नहीं था? यह प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

---

1. *भारतीय संस्कृति और साधना, भाग 1, म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज,* पृ० 126.
2. *भारतीय दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय,* पृ० 456.
3. *वही, पं० बलदेव उपाध्याय,* पृ० 454.
4. *वही,* पृ० 456.

मत्स्येंद्रनाथ के मत के अर्द्धत्र्यंबक मत कहे जाने के पीछे भी कई कारण दिखाई पड़ते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में भिन्न संप्रदायों अथवा मतों की निन्दा के लिए अवैदिक जैसे शब्दों का शिष्ट प्रयोग मिलता है। विभिन्न पुराण ग्रन्थ भिन्न-भिन्न संप्रदायों को विधर्मी, अवैदिक आदि कहते हैं। इसी प्रकार सौर पुराण कौलों को 'विधर्मी' कहता है।[1] प्राचीन माहेश्वर मत के परवर्ती विकास में वेदोन्मुखता और वेदविरोधिता, दोनों की ही प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था को कुछ मान्यता देते हैं, कुछ नहीं। महाभारत के शांतिपर्व के 'शिवसहस्रनाम' प्रसंग में कहा गया है कि स्वयं भगवान् शिव ने पाशुपत सिद्धान्त को प्रकट किया था जो कुछ अंशों में वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल था और कुछ अंशों में प्रतिकूल।[2] परवर्ती काल में विभिन्न शैव संप्रदायों का अध्ययन करने से ये परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ जीवित दिखाई पड़ती हैं। इसी प्रकार का अनुमान वेदविरोध और वेदानुकूल्य के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। पाशुपत मत को भी उपर्युक्त प्रकार के अपशब्दों का सामना करना पड़ा था। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि गोरक्षनाथ माहेश्वर और त्र्यंबक मतानुयायी, अद्वैतवादी और आगमानुयायी थे। यदि पाशुपत मत और आगम मत में वैभिन्य है तो दोनों की कुछ प्रवृत्तियों का विकास नाथ संप्रदाय में होने के कारण, यह कहा जा सकता है कि गोरक्ष दोनों के बीच के सेतु थे। गोरक्ष का साधन योगमोक्षप्रापक था जिसमें भोग को स्थान नहीं था। दूसरी ओर मत्स्येंद्र का मत अर्द्धत्र्यंबक मत था जिसमें भोग और मोक्ष दोनों विहित थे। संभवतः वे शाक्त मतानुयायी हो गए थे और तदनुरूप साधन के प्रचारक भी थे। यद्यपि वैसे एक विशेष स्थिति में शिवशक्ति में अभेद रहता है और साधक भी वैसी स्थिति की अनुभूति करता है, वैसा ही जीवन जीता है, तथापि सांप्रदायिक दृष्टि से उनमें भेद अवश्य है। अतः मत्स्येंद्रनाथ का गुरुत्व स्वीकार करते हुए यह मानना पड़ता है कि गोरक्ष उनके पूर्व संप्रदाय के शिष्य थे। मत्स्येंद्र और गोरक्ष के संप्रदायों की चर्चा आगे भी की गई है।

माहेश्वरों की इन सांप्रदायिक स्थितियों के अतिरिक्त संन्यासी, बैरागी तथा साधु समाज में भी उनकी स्थिति का ज्ञान लाभकर हो सकता है। डॉ० फर्कुहर ने शैव संप्रदायों में शंकराचार्य तथा उनके संप्रदाय का नाम नहीं लिया है। उन्होंने शंकर की गणना शाक्तों में की है और अनुमान किया है कि शाक्तों में, संभवतः शंकराचार्य ने ही दक्षिणाचार की साधना प्रचलित की थी। शंकर के समय में ही अनेक संन्यासी वर्ग अव्यवस्थित रूप में यत्रतत्र विद्यमान थे। शंकराचार्य ने उन्हें व्यवस्थित कर दस वर्गों में संगठित किया। वे वर्ग आज भी दशनामी नाम से प्रसिद्ध हैं।[3] कुछ लोगों का मत यह भी है कि शंकराचार्य ने ही स्मार्त मत का प्रवर्तन किया था। स्मार्तों के दार्शनिक सिद्धान्त शंकराचार्य के दार्शनिक

1. *शैव मत, डॉ० यदुवंशी,* पृ० 119.
2. *वही,* पृ० 153.
3. *आ० रे० लि० इं०,* पृ० 347-348.

सिद्धान्तों से पर्याप्त समानता रखते हैं।[1] वामाचारी शाक्तों में सौंदर्यलहरी और आन्दलहरी का बहुत सम्मान है। इन्हें तेरहवीं ईस्वी शताब्दी के लक्ष्मीधर ने शंकरकृत माना है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य दक्षिणाचारी शाक्त थे। दूसरा मत यह है कि वे बौद्धों के बाद सबसे अधिक शक्तिशाली शैव संन्यासी थे। सर्वप्रथम शैव संन्यासियों का संगठन 8-9वीं ई० शताब्दी में शंकराचार्य ने ही किया था।[3] संन्यासियों की दृष्टि से लगभग 8वीं शताब्दी तक भारत में बौद्ध, जैन, पाशुपत और कापालिक संन्यासी वर्तमान थे। लगभग 11वीं ई० श० तक संन्यासी वर्गों का पूर्ण संगठन नहीं हो पाया था। गोरक्षनाथ भी संन्यासी थे। शंकराचार्य की तरह ही ज्ञानेश्वर भी संन्यासी ही थे।[4] बौद्धों के क्षीण होने के बाद, जैन संन्यासियों के अतिरिक्त दो वर्गों के संन्यासी और थे जिनका सम्बन्ध शिव और विष्णु नाम के देवताओं से था। शैव साधु प्राय: संन्यासी ही कहलाते थे और वैष्णव साधु वैरागी। जोगी या योगी शैव संन्यासी थे।[5] संन्यास प्रारंभिक काल में शैव मत से संबद्ध था। नाथपंथी साधुओं के लिये भी संन्यासी शब्द व्यवहृत होता था। इसी प्रकार अवधूत शब्द भी शैव संन्यासियों के अन्तर्गत कानफटा योगियों के लिए व्यवहृत होता था।[6] दशनामी तथा नाथपंथी, दोनों ही, शैव संन्यासी हैं; किन्तु अन्तर यह है कि दशनामियों के दार्शनिक दृष्टिकोण को नाथपंथी योगी या संन्यासी स्वीकार नहीं करते। दशनामी शंकराचार्य के प्रति श्रद्धा रखते हैं तथा नाथपंथी गोरक्षनाथ के प्रति। दशनामियों को वेदांतिकि संन्यासी और नाथपंथियों को तांत्रिक अथवा आगमानुयायी संन्यासी कहा जा सकता है। आज के जोगी तत्त्वत: प्राचीन संन्यासी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राचीन शैव संन्यासियों में पाशुपतों और कापालिकों को ध्यान में रखा जा सकता है।[7] श्री घुरे की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि नाथ लोग प्राचीन माहेश्वर पाशुपत कापालिक संन्यासियों के विकसित रूप हैं।[8]

उपर्युक्त विवेचन का सुफल यह है कि विभिन्न माहेश्वर संप्रदायों में से पाशुपत नामक संप्रदाय विशेष महत्वपूर्ण और प्राचीन है। एक मत के अनुसार पाशुपत मानव उपदेष्टाओं में गोरखनाथ का नाम विशेष सम्मान्य है। पाशुपत धर्मानुयायी विभिन्न सम्राट् और शासक जैसे परम माहेश्वर उपादि धारण करते थे, उसी प्रकार पाशुपत संन्यासियों में

1. *आ० रे० लि० इं०,* पृ० 176-180, *इं० रे० ए०, खंड 10,* पृ० 718.
2. *आ० रे० लि० इं०,* पृ० 266.
3. *दि० इं० सा०,* पृ० 6.
4. *वही,* पृ० 52, 59, 63.
5. *दि० इं० सा०,* पृ० 78.
6. *वही,* पृ० 87.
7. *वही,* पृ० 128-132.
8. *वही,* पृ० 145.

गोरक्षनाथ भी अपने को माहेश्वर घोषित करते थे। इसका प्रमाण उनकी रचनाओं से मिलता है। दूसरी ओर गोरक्षनाथ को नाथ संप्रदाय के प्रधान उपदेष्टा अथवा संगठनकर्ता के रूप में भी स्मरण किया जाता है। इन दोनों तथ्यों के संयोग के आधार पर एक और अनुमान किया जा सकता है कि परम माहेश्वर गोरक्षनाथ ने प्राचीन माहेश्वर मतों का पुनर्गठन किया था और जिसमें शंकराचार्य के संगठन में आने से अवशिष्ट उन विभिन्न शैव संप्रदायों का अंतर्भाव हो गया जो वैदिक नहीं थे अपितु आगमानुयायी थे। इस निष्कर्ष के साथ डॉ० पाठक द्वारा उद्धृत पुराणकथित शैव संप्रदाय के विभागों का विचार किया जा सकता है जिसके अनुसार लकुलीश पाशुपत मत वैदिक था। इस सम्बन्ध में उनका यह अनुमान सर्वथा संगत है कि यह मत आगमानुयायी तो अवश्य है किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से, अन्य शैव संप्रदायों की तुलना में, इसे अधिक वैदिक कहा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार की बात, यदि फर्कुहर को विभाग स्वीकार करें, तो पाशुपतमतांतर्गत विकसित नाथ मत के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

नाथयोगियों का कापालिकों, पाशुपतों और अघोरियों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं, वैष्णवों से भी इनके सम्बन्ध के प्रमाण मिलते हैं। नाथपंथियों में 'घेरंड संहिता' हठयोग के लिए एक मान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से स्पष्ट है कि इसमें वर्णित योग की शिक्षा चंडकापालिक नाम के एक व्यक्ति को दी गई थी। घेरंड स्वयं बंगाल के वैष्णव थे।[1] इससे ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं कि बंगाल के वैष्णवों में योगसाधना प्रचलित थी, कापालिक लोग भी योगसाधन करते थे तथा नाथों के समान ही कापालिक लोग भी हठयोग की शिक्षा लेते थे। ब्रिग्स के प्रमाण पर यह कहा जाता है कि रंगपुर जिले के जोगी पाशुपत शैव थे। लेवी के प्रमाण पर यह कहा जाता है कि नेपाल में मत्स्येंद्रनाथ पाशुपत शैव मत और बौद्ध मत के मिश्रित धर्म का प्रतिनिधित्व करते थे।[2] नाथों में शाक्तों की दक्षिणाचार और वामाचार नाम की दोनों प्रकार की पद्धतियाँ किसी न किसी रूप में, न्यूनाधिक मात्रा में, कुछ परिवर्तित रूप में, अवश्य मिलती हैं। इससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि पाशुपत, कालामुख, कापालिक आदि विभिन्न शैव मत भी (जिनमें से कुछ, कूर्मपुराण के अनुसार, कालामुख एवं कापालिक जैसे अतिवादी माहेश्वर तांत्रिक मत थे) नाथसंप्रदाय के पूर्ववर्ती मूल संप्रदाय थे।[3] प्राचीन काल में प्रचलित माहेश्वर शब्द पाशुपत का पर्याय ही है। इसी प्रकार और आगे चलकर 'लकुल' शब्द शैव संप्रदायों के लिए व्यवहृत होने लगा था। अथर्वशिरस् उपनिषद् में पाशुपतों की साधनापद्धति का विस्तृत विवेचन है जिसमें बताया गया है कि 'ओंकार' प्रणव का जप करना चाहिए, वही ईशान, महेश्वर आदि है। ध्यान को भी

1. *दि० इं० सा०,* पृ० 150.
2. *गो० क० यो०, ब्रिग्स,* पृ० 243, 248.
3. *वही,* पृ० 171, 218.

साधना के रूप में स्वीकार किया गया हैं।[1] प्राचीन पाशुपतों के लोपकाल के सम्बन्ध में 9वीं शती के पूर्व का संकेत किया जाता है; किन्तु यह भी कहा जाता है कि कालामुख अथवा कालानन संन्यासी दक्षिण में 12वीं-13वीं ई० श० तक क्रियाशील थे। इन लोगों का लाकुलीश पाशुपतों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसी प्रकार कापालिक लोगों का घनिष्ठ सम्बन्ध कानफटा लोगों से स्वीकार किया जाता है। विल्सन के अनुसार कापालिक लोग अन्य संप्रदायों में विशेषकर कानफटा लोगों में अंतर्भुक्त हो गए हैं।[2] औघड़ लोगों में प्राय: अघोरी लोगों से संबद्ध किया जाता है। नाथपंथी योगियों के दो वर्गों में एक कानफटा है और दूसरा औघड़। औघड़ लोग नाथ संप्रदाय की सम्पूर्ण दीक्षाप्रक्रिया में सम्मिलित नहीं होते। कहा जाता है कि उनकी दीक्षा की अंतिम प्रक्रिया नहीं होती। वे नाथों की जीवनपद्धति को भी पूर्णतया स्वीकार नहीं करते। अपने नाम के अन्त में 'नाथ' के स्थान पर 'दास' शब्द का प्रयोग करते हैं।[3] फिर भी वे अपने को नाथपंथी कहते हैं तथा गोरखनाथ के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं।

डॉ० पाठक ने कूर्मपुराण के आधार पर जो विभाजन प्रस्तुत किया है, उसपर विचार करने से गोरखनाथ की पाशुपतों में गणना होती है और साथ ही वे वैदिक भी कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार कापालिक मत को तांत्रिक मानना होगा अर्थात् वे अवैदिक थे। नवनाथों का जो विचार पहले किया जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि जालंधरनाथ का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उनकी शिष्य-परंपरा जालंधरपाद को कापालिक सिद्ध करती है। अत: जालंधरपाद एवं उनकी शिष्य-परंपरा अवैदिक एवं साथ ही तांत्रिक भी थी। यहाँ प्रसंगत: यह भी संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि उपर्युक्त कारण से ही जालंधरपाद एवं उनकी शिष्य-परंपरा की गोरक्षनाथ एवं उनके मत से विरोधिता एवं भिन्नता दिखाई पड़ती है जिसकी पुष्टि विभिन्न लोककथाओं से भी होती है, और यही कारण है कि जालंधरपाद एवं उनकी शिष्य- परंपरा के सिद्धान्तों एवं विचारों का नैकट्य तांत्रिक बौद्ध दर्शन एवं साधना से दिखाई पड़ता है। इसी के साथ कुछ सूत्रों से गोरक्षनाथ का पाशुपतत्व भी सिद्ध होता है। चित्राप्रशस्ति में गोरक्षनाथ को पंचपाशुपतों में से एक माना गया है।[4] यह सर्वविदित है कि मत्स्येंद्रनाथ कौल थे। हर्ष के प्रस्तर लेख से यह ज्ञात होता है कि पाशुपतों और कौलों में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसका विवेचन भी हम पहले कर चुके हैं। आगे इस बात को इस तथ्य से और भी दृढ़ किया जाता है चूँकि कौल गुरु मत्स्येंद्र के शिष्य गोरक्षनाथ पाशुपत मत के अन्तर्गत स्वीकृत हुए। इसके बाद भी

1. *गो० क० यो०, ब्रिग्स,* पृ०219; *वै० शै०,*पृ०121; *ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद्,* 23— *अथर्वशिरस् उपनिषद्,* पृ०144-147.
2. *गो० क० यो०,* पृ० 222, 223, 227.
3. *इं० सा०, पृ०* 151-153; *गो० क० यो०,* पृ० 27.
4. *शै० क० ना० इं०,* पृ० 26.

उनके शिष्य, सिद्धयोगीश्वरी मत के अनन्त और उनके शिष्य गहनेश अथवा गहनाधिप लाकुलीश मत में अग्रसर हुए।[1] अधिक सम्भावना है कि यह गहनेश अथवा गहनाधिप प्रसिद्ध नाथसिद्ध गहिनीनाथ से अभिन्न हों। गोरक्षनाथ ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति में चौरंगीनाथ को नमस्कार किया है। यदि चौरंगीनाथ सिद्धमत के थे तो गोरक्षनाथ ने पाशुपत होकर भी जब उन्हें नमस्कार किया तो इससे यह स्पष्ट होता है कि पाशुपतों में चौरगीनाथ का महत्व था तथा गोरक्षनाथ जैसे उदारचेता नाथसिद्ध ने बड़ी व्यापक दृष्टि से उनका आदर किया।[2] उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ के संगठित नाथसिद्ध मत में कापालिक, लाकुलीश, अघोर, सिद्ध योगीश्वरी आदि मत अंतर्भुक्त हो गए थे और यही कारण है कि नाथ संप्रदाय की साधना-पद्धति में अनेक प्रकार के वैदिक, अवैदिक, तांत्रिक, दक्षिणाचारी, वामाचारी तत्त्व देखने को मिलते हैं।

शैव संन्यासियों के इस इतिहास को देखने से प्रतीत होता है कि यद्यपि शंकराचार्य के पूर्व शैव संन्यासी विभिन्न शैव संप्रदायों के रूप में वर्तमान थे तथापि इन अनेक वैदिक शैव संन्यासियों का पुनस्संगठन शंकराचार्य ने किया। ये वैदिक ज्ञानकांड के विश्वासी तथा वेदों की ज्ञानपरक व्याख्या स्वीकार करते थे। कुछ समय बाद, लगभग 10वीं ई० शताब्दी के प्रारम्भ में गोरखनाथ ने उन शेष संन्यासियों को संशुद्ध कर पुनस्संगठित किया जो वैदिक व्यवस्था तथा जीवन-पद्धति का विरोध करते थे अथवा उसे किसी रूप में स्वीकार न कर सके थे। रुद्र और शिव वैदिक देवता हैं तथा कुछ उपनिषदों में उनका परमतत्त्वीय रूप भी मिलता है। अत: दशनामी और नाथपंथी दोनों ही शैव तथा साथ ही उपास्य की दृष्टि से दोनों वैदिक हैं। साधन-पद्धति और जीवन-दर्शन की दृष्टियों से उनमें भिन्नता है। अत: एक संप्रदाय दूसरे की आलोचना करता है। कर्मकांडीय जीवन-दर्शन के अनुयायी तथा इसी प्रकार के अन्य विरोधी नाथपंथियों को अवैदिक कहते हैं किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि नाथपंथियों के साधन और दर्शन परवर्ती उपनिषदों से संबद्ध हैं तथा वे वेद का उस प्रकार विरोध नहीं करते, जैसा समझा जाता है। केवल वैदिक कर्मकांड एवं वर्णाश्रम व्यवस्था को न स्वीकार करना अवैदिकता है तो ऐसी स्थिति में भारत के अनेक धर्म, दर्शन अवैदिक और वेदबाह्य हो जाएँगे। जहाँ तक तांत्रिकता का प्रश्न है, पाशुपतों में तांत्रिक तत्त्व मिलते हैं। इसी प्रकार नाथों और दशनामियों में भी मिलते हैं। वास्तविक बात यह है कि वेद और तन्त्र बहुत भिन्न नहीं हैं। तान्त्रिकों की साधन-पद्धति तथा दर्शन के अधिकांश तत्त्व वेदों से संबद्ध किए जा सकते हैं। लगभग 4थी-5वीं ई०श० तक, अधिक संभव है, वैदिक और तांत्रिक श्रुतियाँ और पद्धतियाँ अलग-अलग रही हों; किन्तु आगे चलकर, इतना निश्चित है, ये दोनों इतनी

1. *शै० क० ना० इं०,* पृ० 28.
2. *वही,* पृ० 26— *'नमश्चौरंगिनाथाय सिद्धबुद्धाय धीमते।'*

घुलमिल गईं कि इनके मिश्रित तत्त्वों के आधार पर प्रवर्तित होनेवाले मतों, धर्मों, संप्रदायों को वैदिक-अवैदिक अथवा वैदिक तांत्रिक आधारों पर दो वर्गों में बाँटना कठिन हो जाता है। दशनामियों, नाथपंथियों तथा परवर्ती काल में प्रवर्तित अन्य शैव अथवा वैष्णव संप्रदायों के लिए भी यही बात कही जा सकती है। तन्त्र भी केवल शैवों अथवा शाक्तों का नहीं है, अपितु अति प्राचीनकाल से प्रवाहित रहनेवाली एक विचारधारा तथा साधनाधारा है जिसका प्रभाव दर्शन, देश और काल के भेद से बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि विभिन्न मतों पर पड़ा।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नाथ मत शैव है तथा इसका मूल भी शैव ही है। इस सम्बन्ध में दो मत मुख्य रूप से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। डॉ० शशिभूषण दासगुप्त ने अपनी स्थापना को स्पष्ट करते हुए कहा कि बंगीय नाथों के आन्दोलन सहित सम्पूर्ण भारतवर्षीय नाथ संप्रदाय का आन्दोलन दन्तकथाओं और पौराणिक कथाओं से आवृत है। इस समय इस संप्रदाय के उदय और विकास से सम्बन्धित जो तथ्य उपलब्ध हैं उनके आधार पर इसका निश्चित इतिहास प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। नाथ संप्रदाय की प्रकृति और प्रवृत्तियों का अध्ययन कर उसके उत्स तक पहुँचा जा सकता है। नाथ संप्रदाय तत्वतः एक यौगिक संप्रदाय है। विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए डॉ० शशिभूषण दासगुप्त ने स्पष्टतः अपना यह मत निरूपित किया है कि नाथ संप्रदाय भारतवर्ष के सिद्ध मत के एक विशेष रूप का प्रतिनिधित्व करता है। यह सिद्ध मत भारत का वह बहुत प्राचीन धार्मिक मत है जो कायासाधन नामक उस एक विशेष मनोरासायनिक प्रक्रिया को मुख्यतः प्राधान्य देता है, जिसका लक्ष्य है अचल और पूर्ण काया के माध्यम से अमर आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करना। उनके अनुसार यह सिद्ध मत प्राचीन रसेश्वर मत से संबद्ध था तथा मूलतः इसी मत के सिद्धान्तों और साधनों पर आधृत था।[1] उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि रसायनशास्त्र योगशास्त्रकार पतंजलि के भी पूर्व कुछ योगियों द्वारा स्वीकृत था और इस प्रकार नाथयोगियों का पूर्वेतिहास पतंजलि के पूर्व तक ले जाया जा सकता है।[2] ऐसी स्थिति में उनका यह मानना भी सर्वथा स्वाभाविक है कि नाथों के पूर्वतः बौद्धत्व एवं परतः शैवत्व सम्बन्धी मत सर्वथा भ्रमपूर्ण हैं।[3] अपने मत का और भी व्याख्यान करते हुए उन्होंने डॉ० बी० एम० बरुआ के इस मत का दृढ़तापूर्वक खंडन किया है कि नाथों और आजीवकों में पर्याप्त साम्य है और दोनों में एक ही परंपरा जीवित है।[4] उपर्युक्त रसायन मत की सर्वदर्शनसंग्रह में वर्णित विशेषताओं का कुछ परिचय हम पहले दे चुके हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यद्यपि इस

1. *आब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स, डॉ० शशिभूषण दासगुप्त,* पृ० 191-193.
2. *वही,* पृ० 194.
3. *वही।*
4. *वही,* पृ० 200-202.

रसेश्वर मत के नाथ संप्रदाय में अंतर्भाव को तो अवश्य स्वीकार किया है[1] तथा मत्स्येंद्रनाथ के सिद्ध कौल मत को ही परवर्ती काल में सिद्धमत के रूप में ख्यात माना है; किन्तु उनका स्पष्ट मत है कि मत्स्येंद्रनाथ के कौलज्ञाननिर्णय के सोलहवें पटल में उल्लिखित सिद्ध कौल मत ही आगे चलकर नाथ परंपरा के रूप में विकसित हुआ।[2] उपर्युक्त दोनों मतों का अध्ययन करने से उनका अन्तर स्पष्ट हो जाता है—

1. नाथ संप्रदाय का उत्स सिद्ध कौल मत है, रसेश्वर मत पर आधारित सिद्ध मत नहीं।
2. सिद्ध कौल मत ही कालान्तर से सिद्ध मत के रूप में ख्यात हुआ।
3. यह मत मत्स्येंद्र द्वारा प्रवर्तित है, डॉ॰ बागची के सिद्ध मत जैसा बहुत प्राचीन नहीं।
4. डॉ॰ दासगुप्त से सर्वथा भिन्न यह रसेश्वर मत भी गोरक्ष मत में अंतर्भुक्त हुआ है। यह रसेश्वर मत की परंपरा में विकसित नहीं हुआ।

इन दोनों की समीक्षा भी कर लेनी चाहिए। डॉ॰ दासगुप्त का कथन है कि नाथसिद्धों के योगशास्त्र की विचारधारा और साधनाधारा का रसायन मत से बहुत अधिक साम्य है। नाथों की साधना तत्त्वतः तत्त्वांतर और रूपान्तर की साधना है। रसायन मत की तरह नाथमत भी जीवन्मुक्ति को मानता है। यद्यपि डॉ॰ दासगुप्त ने सिद्ध देह और दिव्य देह का भेद करते हुए नाथसिद्धों और रससिद्धों का भी भेद स्थिर किया है[3] तथापि निष्कर्ष रूप में उन्होंने नाथ मत की पूर्वपरंपरा क्रमशः सिद्ध मत और रसायन मत से ही स्थापित की है। आश्चर्यजनक यह है कि उन्होंने इस प्रकरण में सिद्ध कौल मत अथवा मत्स्येंद्रावतारित कौल मत का उल्लेख तक नहीं किया। डॉ॰ दासगुप्त के उक्त मत के सम्बन्ध में एक बात यह भी महत्वपूर्ण है कि यद्यपि गोरक्षनाथ की सम्पूर्ण हिन्दी वाणी का अध्ययन करने पर उसमें प्राणायाम अथवा हठयोग से संबद्ध विभिन्न साधनों का ही वर्णन प्रमुख रूप से मिलता है तथापि कहीं-कहीं नाग, बंग, वनस्पति के प्रयोग से काया पलटने की भी बात अवश्य कही गई है। इतने पर भी वह प्रमुख नहीं है।[4] इस प्रकार की बात को औषधि-प्रयोग के अंतर्गत ग्रहण करना चाहिए जिसकी ओर पतंजलि ने भी अपने सूत्रों में संकेत किया था। गोरक्षनाथ ने एक स्थान पर पारदसिद्ध की भी चर्चा की है किन्तु वह बिंदुरक्षा के औपम्यविधान में है, अप्रस्तुत के रूप में ही आया है।[5] अतः वह

1. *नाथ संप्रदाय, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी,* पृ॰ 172-175.
2. *वही,* पृ॰ 2.
3. *आर॰ रे॰ क॰,* पृ॰ 251-255.
4. *गोरखबानी,* पृ॰32, *सबदी 92—'निहचल घरि बैसिबा पवन निरोधिबा कदे न होइगा। रोगी। बरस दिन मैं तीनि बार काया कलटिबा, नाग, बंग बनासपती जोगी।'*
5. *वही, पृ॰ 49, सबदी 142—'भग मुषि ब्यंद अगनि मुषि पारा। जो राषै सो गुरू हमारा॥'*

गोरक्ष का उपदेश नहीं है। दूसरे, जीवन्मुक्ति, कायसिद्धि, सूर्यचंद्रसाधन, सोमरसपान अथवा अमृतपान आदि की विभिन्न क्रियाएँ एवं विचारधाराएँ इतनी व्यापक एवं सर्वप्रचलित रही हैं कि उनके आधार पर किसी मत अथवा संप्रदाय को रसेश्वर मत से उद्भूत नहीं कहा जा सकता और न इस आधार पर नाथमत को पतंजलि के पूर्व तक ले जाया जा सकता है। वस्तुतः ये अति प्राचीन तांत्रिक साधना की विभिन्न प्रक्रियाएँ हैं जिन्हें सभी ने अपने सिद्धान्तों एवं विचारों के अनुसार ग्रहण किया। डॉ० बागची ने प्राचीन सिद्ध मत का कोई सांप्रदायिक स्वरूप एवं इतिहास भी प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने डॉ० वी० वी० रमण शास्त्री के प्रमाण पर ही इसे स्वीकार कर लिया है।

डॉ० द्विवेदी के मत में कुछ महत्वपूर्ण बातें अवश्य हैं जिनका मूल्यांकन किया जाना चाहिए। डॉ० द्विवेदी ने मत्स्येंद्र द्वारा अवतारित कौलज्ञान पर विचार करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि 'मत्स्येंद्रनाथ पहले सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे, बाद में कामरूप में वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हुए और वहाँ से कौलज्ञान अवतारित किया और इसके पश्चात् अपने प्रवीण शिष्य गोरक्षनाथ के द्वारा उद्बुद्ध होकर फिर पुराने रास्ते पर आ गए।'[1] दंतकथाओं के आधार पर उन्होंने अनुमान किया कि मत्स्येंद्रनाथ का वह सिद्ध मत, जिसे छोड़कर उन्होंने कौल मार्ग का अवलंबन किया था, 'पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आश्रित था, देवी अर्थात् शक्ति उसकी प्रतिद्वंद्विनी थीं और उसमें स्त्री-संग पूर्णरूप से वर्जित था। गोरक्षनाथ ने कामरूप से मत्स्येंद्रनाथ का उद्धार करके उन्हें इसी मत में फिर लौटा लिया था।'[2] डॉ० द्विवेदी सिद्ध मार्ग और सिद्ध कौल मार्ग दोनों को एक-दूसरे का पर्याय मानते हैं[3] जबकि डॉ० दासगुप्त के विवेचन से ऐसा नहीं प्रतीत होता। द्विवेदीजी इस मत का पोषण करते प्रतीत होते हैं कि मत्स्येंद्रनाथ जिस प्राचीन कौलमार्ग की चर्चा करते हैं तथा जिसकी परंपरा में आगे चलकर उनका प्रवर्तित योगिनी कौल मत विकसित हुआ, शाक्त था, बौद्ध नहीं।[4] उन्होंने योगिसंप्रदायाविष्कृतिकार चंद्रनाथ योगी के इस कथन से अपने मत को पुष्ट किया है कि वाममार्गी लोग गोरक्षनाथ को अपने मार्ग में ले जाना चाहते थे।[5] संभवतः इसीलिए उन लोगों ने गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ को शाक्त साधना में प्रवृत्त कर दिया था।

द्विवेदीजी के उपर्युक्त कथनों पर विचार करने पर कुछ बातें स्वीकार्य नहीं प्रतीत होतीं। यदि कोलज्ञाननिर्णय में जिस प्रकार के साधना मार्ग का निर्देश है तथा उन्होंने जिस प्राचीन कौल मार्ग की चर्चा की है, वह शाक्त था तथा वाममार्गी साधना के निकट था तो

1. *नाथ संप्रदाय, डॉ० द्विवेदी,* पृ० 58.
2. *वही,* पृ० 59.
3. *वही।*
4. *वही,* पृ० 60-61.
5. *वही,* पृ० 58.

ऐसी स्थिति में उसका सिद्ध मार्ग अथवा सिद्धामृत मार्ग अथवा मत्स्येंद्र द्वारा बाद में प्रवर्तित योगिनी कौल मार्ग से क्या संबंध था ? प्रश्न यह है कि कौलज्ञाननिर्णय में प्रवर्तित संप्रदाय अथवा मत नाथमत अथवा संप्रदाय का उत्स कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? यदि प्राचीन सिद्ध मत अथवा सिद्धामृत मत जिसे मत्स्येंद्र ने छोड़ दिया था, ही नाथ संप्रदाय का उत्स है तो ऐसी स्थिति में मत्स्येंद्र द्वारा परवर्ती काल में प्रवर्तित योगिनी कौल मत नाथ संप्रदाय से बहिष्कृत होगा और गोरक्षनाथ मत्स्येंद्र के पूर्व संप्रदाय के शिष्य होंगे। गोरक्षनाथ का शैवत्व सर्वविदित है। यदि द्विवेदीजी द्वारा व्याख्यात क्रम को स्वीकार किया जाय तो मत्स्येंद्र पहले शैव थे, बाद में शाक्त हुए तथा अन्त में पुनः गोरक्ष द्वारा शैव सिद्ध मार्ग अथवा सिद्धामृत मार्ग में परिवर्तित हुए। डॉ० द्विवेदी ने कौलज्ञाननिर्णय नाम के संग्रह की अन्य रचनाओं की समीक्षा कर यह संभावना व्यक्त की है 'कौलज्ञाननिर्णय' मत्स्येंद्र द्वारा प्रवर्तित योगिनी कौल मत का द्योतक है और उसी संग्रह का अकुलवीरतंत्र उनके पूर्व परित्यक्त और बाद में स्वीकृत सिद्ध मत का।[1] इस दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि मत्स्येंद्रनाथ प्राचीन सिद्ध मत अथवा सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे जिसमें कुल की नहीं, अकुल की साधना प्रचलित थी और जिसे ही गोरक्षनाथ ने विकसित किया। इस प्रकार नाथ संप्रदाय के उत्स रूप सिद्धामृत मार्ग की प्रतिष्ठा और मत्स्येंद्र का गुरुत्व दोनों ही बातें सिद्ध होती हैं।

पहले कहा जा चुका है कि शैवों में उस काल में अनेक संप्रदायों की स्थिति थी। निश्चय ही उनमें से कुछ घोर वेदविरोधी थे और कुछ अपनी उत्कट, घोर एवं अतिवादी साधनाओं के लिए विशिष्ट एवं प्रख्यात थे। इनमें अनेक शाक्त संप्रदाय भी थे। कुछ कौल संप्रदायों की चर्चा मत्स्येंद्र ने अपने कौलज्ञाननिर्णय नामक ग्रंथ में की है।[2] कुछ ऐसे ही संप्रदायों में से किसी एक वाममार्गी संप्रदाय में मत्स्येंद्र प्रतिष्ठित हो गए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने गुरु के उद्धार के बाद ही गोरक्ष ने विभिन्न अवशिष्ट शैव शाक्त संप्रदायों के पुनस्संगठन का कार्य आरंभ किया क्योंकि विभिन्न कापालिकादि मत मत्स्येंद्रोद्धार के पूर्व तक गोरक्ष के प्रतिद्वंद्वी एवं विरोधी बने हुए थे, ऐसा गोरक्ष के प्रति कानुफा के व्यंग से ध्वनित होता है। गोरक्ष द्वारा संगठित नाथ संप्रदाय अथवा परवर्ती सिद्ध संप्रदाय में कितने संप्रदाय किस रूप में अंतर्भूत हुए, इसका विस्तार से विचार अनेक विद्वानों ने किया है; उन्हें तत्तत् स्थलों पर देखा जा सकता है। यहाँ केवल यही देखना है कि नाथ संप्रदाय में कौन-कौन से प्राचीन शैव शाक्तादि संप्रदाय अंतर्भूत हुए।

प्रसिद्ध तांत्रिक ग्रंथ 'नित्याह्निकतिलक' से ज्ञात होता है कि एक महा प्रभावशालिनी सिद्धा विमलादेवी मत्स्येंद्रनाथ की मतानुवर्तिनी थीं।[3] इन्हें गोरक्षनाथ की

1. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 60.
2. *वही,* पृ० 57.
3. *वही,* पृ० 150.

भी शिष्या कहा जाता है। इनका अपना पंथ आईपंथ के नाम से प्रसिद्ध है और नाथ संप्रदाय में अंतर्भूत है। इस पंथ में माता की पूजा देखकर द्विवेदी जी यह अनुमान करते हैं कि ये आईपंथी किसी शाक्तमत से गोरक्षनाथ के योगमार्ग में अंतर्भूत हुए होंगे।[1] इन तथ्यों के आधार पर यह सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि योगिनी कौल मत का प्रवर्तन करने पर विमला देवी मत्स्येंद्रनाथ की शिष्या हो गई होंगी और मत्स्येंद्रोद्धार की घटना के बाद संगठनक्रम में उन्होंने गोरक्षनाथ से दीक्षा ले ली हो। परिणामतः गुरु और शिष्य दोनों की शिष्या के रूप में उनकी प्रसिद्धि के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार पूरा का पूरा आईपंथ गोरक्ष द्वारा संगठित परवर्ती सिद्ध संप्रदाय में अंतर्भुक्त हो गया। ठीक इसी प्रकार रावल शाखा का अंतर्भाव हुआ होगा जिसकी परंपरा द्विवेदीजी प्राचीन लाकुलीश संप्रदाय से जोड़ते हैं। उनकी स्थापना है कि चित्तौड़ के बाप्पा रावल लाकुलीश पाशुपत मत के अनुयायी थे और रावल अथवा महारावल शब्द भी संप्रदायवाचक शब्द है। यह रावल शब्द लाकुल शब्द का रूपान्तर है। इस प्रकार उनका अनुमान है कि रावल नाम से प्रसिद्ध योगियों की समूची शाखा वस्तुतः लाकुलीश पाशुपत संप्रदाय की उत्तराधिकारिणी है। परिणामतः बाद में इस संप्रदाय में गोरक्षनाथ लकुलीश के अवतार मान लिए गए।[2] इस प्रकार पूर्वकाल में भागवतों द्वारा सच्छास्त्रपरिपंथी के रूप में घोषित लाकुलीश पाशुपत संप्रदाय भी परवर्ती सिद्ध संप्रदाय में अंतर्भूत हो गया। द्विवेदीजी ने रसेश्वर मत की कुछ प्रवृत्तियों के नाथ संप्रदाय में स्वीकृत साधन के रूप में अंतर्भाव एवं साम्य की बात स्वीकार की है किन्तु किसी पंथ अथवा मतगत अंतर्भाव अथवा परंपरा का कोई निर्देश उन्होंने नहीं किया। इसकी ओर कुछ संकेत पहले किए जा चुके हैं। इसी प्रकार उन्होंने नाथ संप्रदाय अथवा परवर्ती सिद्ध मार्ग में शाक्त तत्वों का विचार अवश्य किया है[3]; किन्तु अंतर्भूत अन्य शाक्त मतों का उल्लेख नहीं किया।

भारत में कापालिक मत का प्रचार-प्रसार बहुत प्राचीन है तथा इनकी घोर साधनाएँ भी पर्याप्त प्रसिद्ध हैं किन्तु शैव कापालिकों का ही वर्णन मिलता है। जालंधरपाद और कृष्णपाद की रचनाओं से ज्ञात होता है कि ये भी कापालिक थे किन्तु इनकी सारी रचनाएँ वज्रयानी स्रोत की हैं, अतः यह स्वभावतः अनुमान करना पड़ता है कि ये बौद्ध कापालिक रहे होंगे। भारतीय संप्रदायों के इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध, जैन, शैव और शाक्त साधन मार्गों में प्रायः समानान्तर साधन-पद्धतियाँ और संप्रदाय प्रचलित रहे हैं। ऐसी स्थिति में शैव कापालिकों की तरह ही बौद्ध कापालिकों की स्थिति स्वीकार करनी चाहिए; किन्तु डॉ० द्विवेदी का कथन है कि भारतीय साहित्य में शैव कापालिकों जैसा बौद्ध कापालिकों का कोई उल्लेखनीय वर्णन

1. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 155.
2. *वही,* पृ० 156-160.
3. *ना० सं०,* पृ० 179-181.

नहीं मिलता। 'मालती माधव' से ऐसा सूचित होता है कि सौदामिनी नाम की एक बौद्ध भिक्षुणी श्रीपर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी और वहाँ उस समय शैव कापालिक साधना प्रचलित थी।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय केवल शैव कापालिक साधना ही प्रचलित थी तथा साथ ही विभिन्न साधनाओं को लेकर बौद्धों और शैवों में परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता था। अतः इस आधार पर इनके उपसंप्रदायादि भी एक-दूसरे में अंतर्भूत होते रहे होंगे। यह निष्कर्ष भी निकलता है कि बौद्ध कापालिक संप्रदाय भी प्रचलित रहा होगा। डॉ० द्विवेदी का तो यह निश्चय है कि यद्यपि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालंधर और कानपा दोनों को अपनाया है, तथापि कानिफा संप्रदाय को अब भी पूर्ण रूप से गोरखनाथी संप्रदाय में नहीं माना जाता और उनका प्रवर्तित कहा जानेवाला एक उपसंप्रदाय 'वामाराग' (= वाममार्ग) आज भी जीवित है।[2] (परिशिष्ट द्रष्टव्य)।

इसके अतिरिक्त जयपुर की एक पावनाथ शाखा भी बताई जाती है जिसे जालंधरपाद द्वारा प्रवर्तित कहा जाता है। संगठन के पूर्व इस 'पा पथ' के लोग नाथ मार्ग से स्वतंत्र और भिन्न थे।[3] इससे यह प्रकट होता है कि यदि जालंधरपाद और कृष्णपाद बौद्ध कापालिक थे तो इन दोनों के द्वारा अलग-अलग दो पंथ प्रवर्तित किए गए— जालंधरपाद द्वारा पा पंथ तथा कृष्णपाद द्वारा बामारग। आगे चलकर इन दोनों में से जालंधरपाद का पूरा का पूरा पंथ तो परवर्ती नाथ संप्रदाय में अंतर्भूत हो गया किन्तु कानिपा का बामारग आधा ही स्वीकृत हुआ और पूरी तरह से नाथमार्ग में अंतर्भुक्त न हो सका। वस्तुतः नाथ संप्रदाय तो बहुत ही व्यापक संप्रदाय है जिसके अंतर्गत कुछ वाममार्गी, कापालिकादि भी स्थान पाते दिखाई पड़ते हैं; किन्तु गोरक्षनाथ ने जब इनका पुनस्संगठन किया तो इनमें से अनेक अस्वीकृत एवं बहिष्कृत हो गए। 'पा पंथ' तो गोरक्षनाथ की अपनी शाखा में अंतर्भुक्त हो गया किन्तु कृष्णपाद द्वारा प्रवर्तित वाममार्ग अंतर्भुक्त न हो सका। इसी बात को कुछ भिन्न रूप में डॉ० द्विवेदी ने व्यक्त किया है कि "जालंधरपाद और श्रीकृष्णपाद द्वारा प्रवर्तित मत नाथ संप्रदाय के अन्तर्गत तो था परन्तु मत्स्येंद्रनाथ गोरखनाथ की परंपरा से भिन्न था। बाद में चलकर वह गोरखनाथी शाखा में अंतर्भुक्त हुआ होगा।"[4] इसका तात्पर्य यह हुआ कि सिद्ध मत एक बहुत व्यापक संप्रदाय रहा होगा और उसकी अनेक शाखाएँ रही होंगी। उन शाखाओं में जालंधरनाथ का पा पंथ, कृष्णपाद का बामारग, मत्स्येंद्रनाथ का सिद्धामृत मार्ग तथा सिद्धयोगिनी कौल मार्ग, गोरक्ष द्वारा प्रवर्तित गोरखनाथी शाखा, आईपंथ आदि अनेक थे। इसी में लाकुलीशादि भी

1. *नाथ संप्रदाय*, पृ० 82.
2. *वही।*
3. *वही*, पृ० 6.
4. *वही*, पृ० 8.

किंचिद्भिन्न रूप में स्वीकृत हो गए।*

अति प्राचीन माहेश्वर मत के अन्तर्गत परवर्ती काल में लगभग छठीं ई० श० तक कापालिक, पाशुपत, कालानन आदि विविध संप्रदाय प्रचारित एवं संगठित हो चुके थे। 8वीं ई० श० तक इन संप्रदायों का स्पष्ट रूप सामने आ चुका था। पुराणोत्तर काल में विभिन्न शैव संप्रदायों की उत्पत्ति हुई। इन संप्रदायों के वर्गविभाजन से सम्बन्धित डॉ० फर्कुहर एवं डॉ० पाठक के मतों में अन्तर है। कुछ लोगों के अनुसार इन संप्रदायों के पाशुपत और आगमिक नामक दो वर्ग बताए जा सकते हैं। पाशुपतों में पाशुपत, लाकुलीश, कापालिक, नाथ, गोरखनाथी और रसेश्वर की गणना की जा सकती है और आगमिक शैवों में शैवसिद्धांती, तमिल शैव, काश्मीरी शैव और वीर शैवों की गणना की जा सकती है; किन्तु सामग्री के अभाव में जब इन संप्रदायों के भेदक तत्त्वों को स्थिर नहीं किया जा सकता तो इनका वर्ग निर्धारण भी संगत रूप में नहीं हो सकता। गोरक्षनाथ के व्यक्तित्व और कृतित्व की विलक्षणता को देखते हुए उन्हें पूर्ण रूप से न तो पाशुपत शैव ही कहा जा सकता है न आगमिक शैव ही। वे दोनों के सेतु रूप प्रतीत होते हैं। गोरक्षनाथ अथवा मत्स्येंद्रनाथ के पूर्व भी नाथ संप्रदाय था, इसका कोई स्वरूपात्मक विवरण नहीं मिलता; किन्तु विभिन्न माहेश्वर संप्रदायों के संबंध में अनेक ऐतिहासिक आलेख एवं अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हैं। महाभारत में उल्लिखित पाशुपत संप्रदाय के प्रवर्तक श्रीकंठ थे तथा लाकुलीश मत के प्रवर्तक लकुलीश थे। इसी प्रकार तीसरे महत्वपूर्ण माहेश्वर गोरक्षनाथ थे। वस्तुतः इन तीनों के समय के सम्बन्ध में विवाद है। इनमें से श्रीकंठ का समय पहली ई० शताब्दी के पूर्व मानने के अधिक प्रमाण हैं। इसी के आसपास (अथवा दूसरी शताब्दी) लकुलीश का समय भी माना जा सकता है। श्रीकंठ का काश्मीर शैव मत में महत्वपूर्ण स्थान है ही, गोरक्षनाथ का भी है। आगमिक शैवों में से काश्मीर शैव मत में श्रीकंठ के बहुत बाद, अनेक पीढ़ियों के बीतने पर मत्स्येंद्र, गोरक्षादि का अभ्युदय हुआ। इस काश्मीर शैव मत में ही सांप्रदायिक दृष्टि से एक सिद्ध कौल संप्रदाय था जिसके प्रतिष्ठित आचार्य के रूप में मत्स्येंद्रनाथ का स्मरण किया जाता है। इसी संप्रदाय के आचार्य शंभुनाथ के शिष्य आचार्य अभिनवगुप्त थे। इससे सम्बन्धित अनेक सूचनाओं पर विचार करने के बाद यह प्रतीत होता है कि त्र्यंबक द्वारा प्रवर्तित एवं श्रीकंठ, वसुगुप्तादि द्वारा अद्वैतवादी शैव दर्शन से पुष्ट काश्मीरीय माहेश्वर मत की योगप्रधान शाखा के प्रसिद्ध अनुयायियों में गोरक्षनाथ की गणना की जानी चाहिए जबकि मत्स्येंद्रनाथ अपने जीवन के परवर्तीकाल में इस माहेश्वर मत की भोगमोक्षप्रापिका शाखा

* *कहा जाता है कि गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित एवं संगठित संप्रदाय में इस प्रकार बारह पंथ अथवा उपसंप्रदाय अंतर्भूत हुए। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इनका विस्तार से विवेचन किया है। द्रष्टव्य—नाथ संप्रदाय,* पृ०145-182; *विश्वभारती—वर्ष 7, अंक 2, 'नाथयोगी संप्रदाय के द्वादश पंथ' शीर्षक लेख।*

कौल मार्ग के प्रतिष्ठित आचार्य थे। इसीलिए मत्स्येंद्रनाथ का मत अर्द्धत्र्यंबक मत कहा जाता था। शिवशक्ति की अद्वयस्थिति में कुल-अकुल का भेद जैसे नहीं रहता, उसी प्रकार कौल एवं अकौल का भी भेद परमा सिद्धि में नहीं रहता; किन्तु साधन-पद्धति के भेद के कारण एवं सांप्रदायिक स्थिति को दृष्टिगत रखकर यह कहा जा सकता है कि गोरक्ष मत्स्येंद्र के पूर्व संप्रदाय के शिष्य थे यद्यपि मत्स्येंद्र के पूर्व संप्रदाय का कोई विस्तृत विवरण एवं प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं। यदि आचार और साधन की दृष्टि से अकुलवीरतन्त्र, कौलज्ञाननिर्णय और गोरक्षोपदिष्ट साधन का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो कुछ नवीन तथ्य सामने आ सकते हैं।

शैव संन्यासियों में पाशुपत और कापालिक संन्यासियों का विशेष प्रामुख्य था। गोरक्षनाथ ने शंकराचार्य के पुनस्संगठन से अवशिष्ट शैव एवं शाक्त संन्यासियों का पुनस्संगठन किया था। अधिक सम्भावना यह है कि ये वैदिक नहीं, अपितु आगमानुयायी संन्यासी रहे होंगे। गोरक्षनाथादि द्वारा संगठित एवं व्यवस्थित नाथ मत में विभिन्न शैव शाक्त संप्रदायों का अंतर्भाव हो गया था जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि नाथों का कापालिक, पाशुपत, लाकुलीश, अघोरी आदि संप्रदायों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। एक विभाजन के अनुसार यदि गोरक्षनाथ पाशुपत थे तो वे एक अर्थ में वैदिक भी हो सकते हैं, जबकि कापालिक मत तांत्रिक अथवा आगमानुयायी था और साथ ही अवैदिक भी। जालंधरपाद एवं कृष्णपाद के कापालिक मत के नाथ संप्रदाय में पूर्ण एवं आंशिक अंतर्भाव के सम्बन्ध में इस एक कारण का अनुमान किया जा सकता है। गहनेश और गहिनीनाथ यदि एक ही हैं और यदि ये गोरक्षनाथ की शिष्य-परंपरा में ही थे तो भी वे लाकुलीश मत में अग्रसर हुए थे। गोरक्षनाथ ने सिद्धमत के चौरंगिनाथ को सम्मान दिया। इस प्रकार कापालिक, लाकुलीश, अघोर, सिद्ध योगीश्वर आदि संप्रदाय नाथ मत में अंतर्भुक्त हो गए होंगे। इसीलिए इन संप्रदायों के वे विभिन्न वैदिक, अवैदिक साधनात्मक तत्त्व नाथ साधना में मिलते हैं। वस्तुतः वेद और तंत्र को जल विभाग की तरह पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता। आगमिक साधनधारा तो देशकालदर्शनादि के भेद से बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णवादि विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक मतों को प्रभावित एवं आप्लुत करती रही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाथ संप्रदाय प्राचीन माहेश्वर मत के अंतर्गत विकसित एक शैव संप्रदाय है जिसमें परवर्ती काल में अनेक वैदिक, अवैदिक संप्रदायों का अंतर्भाव हो गया और इस प्रकार यह एक यौगिक संप्रदाय बन गया। फिर भी डॉ० बरुआ इसे प्राचीन आजीवकों का विकास मानते हैं तथा डॉ० शशिभूषण दासगुप्त इसे प्राचीन सिद्धमत के अंतर्गत विकसित रसेश्वर संप्रदाय का विकास मानते हैं। इन दोनों स्थापनाओं से नाथ संप्रदाय के बौद्ध मूल के सिद्धान्त का स्वतः निरास हो जाता है। डॉ० द्विवेदी मत्स्येंद्रनाथ के सिद्ध कौल मत को ही नाथ संप्रदाय

का मूल मानते हैं। यह मत अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रतीत होता है, किन्तु वे सिद्ध मार्ग एवं सिद्ध कौल मार्ग को एक मानते प्रतीत होते हैं। मत्स्येंद्र ने सिद्धामृत मत का परित्याग कर जिस योगिनी कौल मत (जो स्पष्टत: शाक्त था) आश्रयण किया, वह निश्चय ही नाथ संप्रदाय से भिन्न रहा होगा। द्विवेदीजी के मत से मत्स्येंद्र पहले शैव थे और बाद में शाक्त हो गए। इस प्रकार, इस दृष्टि से, मत्स्येंद्र का पूर्व संप्रदाय सिद्धामत मार्ग ही नाथ संप्रदाय का उत्स था। डॉ० द्विवेदी का मत है कि कौलज्ञाननिर्णय (संग्रह) के अकुलवीरतंत्र नामक ग्रन्थ में इस मार्ग की विवृत्ति मिलती है। अपने गुरु मत्स्येंद्र के उद्धार के बाद ही गोरक्षनाथ ने विभिन्न शैव-शाक्त संप्रदायों का संगठन किया होगा—ऐसा प्राप्त सामग्री के आधार पर अनुमान किया जा सकता है। इसी क्रम में कौल मत्स्येंद्रनाथ की शिष्या विमला देवी और उनके अनुयायी आईपंथी (जो पूर्वत: शाक्त थे) नाथ संप्रदाय में अंतर्भुक्त हो गए। रावल लोगों का सम्बन्ध लाकुलीश मत से जोड़ा जा सकता है। कापालिक जालंधर पाद का पा पंथ तथा उनके शिष्य कानिफा के बामारग के संबंध में कहा जाता है कि पा पंथ तो पूर्णत: और बामारग अंशत: नाथ संप्रदाय में स्वीकृत हुआ। इनमें से अनेक संप्रदाय अथवा उपसंप्रदाय प्राचीन शैव संप्रदायों के अवशेष थे।*

---

* *नाथ संप्रदाय में संगठित पंथों, नाथयोगियों, संस्कारों की वेशभूषा, सांप्रदायिक चिह्न आदि, उनके तीर्थ स्थानों एवं उनके सांप्रदायिक संस्कारों के विवरण एवं विस्तार के लिए द्रष्टव्य—नाथपंथ, डॉ० चंदोला,* पृ० 60-106.

सातवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ का जीवन और व्यक्तित्व

हम द्वितीय परिच्छेद में विभिन्न सूचियों पर विचार कर चुके हैं। इनमें से नवनाथों की जो विभिन्न सूचियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं, उनमें से अनेक में गोरक्षनाथ का नाम अंतर्गणित है। चौरासी सिद्धों की भी जो सूचियाँ अभी तक मिली हैं, उनमें से गोरक्षनाथ का वर्णरत्नाकर की 'चौरासी सिद्ध वर्णना' में दूसरा और सस्क्य विहार की तिब्बती सूची में नौवाँ स्थान है। हठयोगप्रदीपिका में महासिद्धों के गणनाप्रसंग में आदिनाथ, मत्स्येंद्र, शाबरानंद, भैरव, चौरंगी, मीन के बाद गोरक्ष का ही स्मरण किया गया है।[1] सस्क्य विहार की सूची का अनुसरण करनेवाली बौद्धसिद्धों की जो चित्रावली महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सबसे पहले गंगा पुरातत्त्वांक[2] में प्रकाशित करायी थी, उसे उन्होंने अपनी पुस्तक पुरातत्त्व निबंधावली[3] में भी प्रकट किया। इन दोनों चित्रावलियों में उनका क्रमिक स्थान नौवाँ है। मत्स्येंद्रनाथ का नाम भी पर्याप्त प्रसिद्ध है। मत्स्येंद्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु रूप में प्रसिद्ध हैं। प्राचीन ग्रंथों में प्राय: दोनों महापुरुषों के नाम साथ-साथ स्मरण किए गए हैं। महार्णवतंत्र[4], सुधाकरचंद्रिका[5], कौलावलीतंत्र[6], श्यामारहस्य[7] में इन दोनों महासिद्धों का उल्लेख मिलता है। मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ की गणना मानव गुरुओं में की गयी है। ये दोनों ही महासिद्ध योगिराज और नाथाचार्य माने गए हैं। विभिन्न प्राचीन ग्रंथों में मत्स्येंद्रनाथ के नाम के विभिन्न रूपान्तर मिलते हैं :—

मत्स्येंद्रनाथ—(महार्णवतंत्र, योगिसंप्रदायाविष्कृति, सुधाकरचंद्रिका)।

मीन, मीनो—(विभिन्न तंत्र ग्रंथ, श्यामारहस्य, वर्णरत्नाकर)।

मीनपा, मीनपाद—(सस्क्य विहार की सूची, कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीरतंत्र)।

मत्स्येंद्रनाथ —(योगविषय-सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स)।

मच्छघ्नपाद, मच्छेंद्रपाद, मत्स्येंद्रपाद—(कौलज्ञाननिर्णय)।

मच्छेंद्रपाद—(अकुलवीर तंत्र, बी.)।

मत्स्येंद्र—(कुलानंद, हठयोगप्रदीपिका)।

मच्छिन्द्रनाथपाद— (ज्ञानकारिका)।

---

1. *तां० बौ० सा० सा०, डॉ० नागेंद्रनाथ उपाध्याय,* पृ० 210-211, 214.
2. पृ० 216 *से आगे, जनवरी 1933, गंगा कार्यालय, कृष्णगढ़, सुलतानगंज, भागलपुर, बिहार।*
3. पृ० 144—*ग, इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग,* 1937.
4., 5., 6., 7. *नाथ संप्रदाय, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी,* पृ० 24, 76, 24.

मच्छंद—तंत्रालोक—अभिनवगुप्त रचित)।

इसी प्रकार गोरक्षनाथ के भी नाम के विविध रूपान्तर हैं—

गोरक्ष—(हठयोगप्रदीपिका, विभिन्न तंत्र, श्यामारहस्य)।

गोरक्षनाथ—(महार्णवतंत्र, योगिसंप्रदायाविष्कृति, सिद्धसिद्धांतपद्धति, अमरौघप्रबोध, योगमार्त्तंड)।

गोरक्षणाथ—(वर्णरत्नाकार)।

गोरक्षपा—(सस्क्य विहार की सूची)।

नामों के ये रूपान्तर देने के दो प्रयोजन हैं। पहला तो यह कि प्राचीन साधनात्मक और दार्शनिक ग्रंथों में इन दोनों महासिद्धों का स्मरण यह बतलाता है कि ये दोनों ही अपने समय के बहुत प्रसिद्ध और अतिमान्य महासिद्ध थे और विभिन्न साधन संप्रदायों के ग्रंथ इन्हें आदर के साथ स्मरण करते थे। दूसरी बात यह है कि तंत्र प्रभावापन्न सभी साधनसंप्रदायों ने इनका नाम अपनी सूची में सम्मिलित कर लिया है, जैसे ये उन्हीं के संप्रदाय के हों। इसीलिए इनके नामों के इतने रूप मिलते हैं। इंनकी प्रसिद्धि काल और देश दोनों ही दृष्टियों से बहुत व्यापक थी। ऊपर के ग्रंथों में योग, तंत्र और शैव ग्रंथ अधिक हैं।

इनमें से अधिकांश (जैसे हठयोगप्रदीपिका 14वीं शताब्दी के पूर्व, वर्णरत्नाकर 13वी-14वीं शताब्दी, कौलज्ञाननिर्णय के ग्रंथ 11वीं शताब्दी) 14वीं शताब्दी के पूर्व के हैं। तंत्रालोक का समय 11वीं शताब्दी का पूर्व भाग है। अभिनवगुप्त के उल्लेख से इतना पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि मत्स्येंद्रनाथ 10वीं शताब्दी के अंतिम दशक (991 ई०) के पूर्व तक पर्याप्त प्रसिद्ध और पूजित हो चुके थे। जालंधरपाद राजा देवपाल (809-849 ई०) के समकालीन थे। इस प्रकार ये तीनों महासिद्ध 9वीं-10वीं शताब्दी के पूर्व प्रसिद्ध हो चुके थे। वैसे सिद्ध कायावाले महासिद्धों का कालनिर्णय करना सांप्रदायिकों की दृष्टि में उपहासास्पद है। बहुत से आधुनिक दृष्टिवाले नाथपंथी गोरक्ष को वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का समकालीन मानते हैं। कुछ पौराणिक नाथपंथी गोरक्ष को यदुवंशी श्रीकृष्ण के एक विवाह का साक्षी मानते हैं और कुछ लोगों का विश्वास है कि उन्होंने चारों युगों में अलग-अलग स्थानों में अवतार भी लिये थे।

इतना विस्तृत उल्लेख मिलने पर भी गोरक्षनाथ का प्रामाणिक जीवनवृत्त आज भी उपलब्ध नहीं है। उनके जन्मादि के सम्बन्ध में नेपाल में प्रचलित एक कथा के अनुसार महादेव ने एक पुत्रकांक्षिणी नारी को विभूति दी। नारी ने अविश्वास कर उसे गोबर के ढेर में फेंक दिया। बारह वर्षों बाद महादेव के पुनः अनुसंधान के फलस्वरूप उस स्थान से गोरक्ष का आविष्कार हुआ। इन्हीं गोरक्षनाथ ने मत्स्येंद्र का शिष्यत्व ग्रहण किया। बाद में गोरक्ष अपने गुरु के साथ नेपाल गए। वहाँ अनादृत होने पर उन्होंने मेघसमूहों को आबद्ध कर अनावृष्टि कर दी। अचानक उस मार्ग पर मत्स्येंद्र के आने पर गोरक्षनाथ साष्टांग

दण्डवत् करने के लिए उठे। मेघ मुक्त हो गये और वहाँ वृष्टि हुई।[1] उपर्युक्त जन्म सम्बन्धी कथांश में कहीं-कहीं महादेव के स्थान पर मत्स्येंद्रनाथ का नाम मिलता है और पुत्रकांक्षिणी नारी के ब्राह्मणी होने का भी कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त कथा से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि गोरक्ष का जन्मवृत्तांत रहस्यमय है। दूसरी यह कि नेपाली परंपरा के अनुसार मत्स्येंद्र गोरक्ष के गुरु थे। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार गोरक्ष ईश्वरसंतान थे। उनका चरित्र अत्यन्त शुद्ध और निर्मल था। स्वयं देवी भगवती उनके चरित्र की परीक्षा लेने में पराजित हुई थीं।[2] उनके जन्मस्थान और जीवनवृत्त के विषय में विविध मत प्रचलित हैं। इनका संक्षेप इस प्रकार है।

1. नेपाल, पंजाब, गोरक्षपुर आदि को उनका जन्मस्थान माना जाता है।
2. निराकार निरंजन के धर्म से गोरक्ष की उत्पत्ति हुई। ये मत्स्यजात मत्स्येंद्र के पिता थे। इन्होंने अपने पाप का प्रक्षालन करने के लिए गुरु का अन्वेषण किया और अन्त में अपने पुत्र का ही गुरु-रूप में वरण किया।
3. गोदावरी के तट पर एक ब्राह्मणी के गर्भ से गोरक्ष का जन्म हुआ और बारहवें वर्ष के अन्त में मत्स्येंद्र द्वारा आंतर्धानिक रीति से संप्रदान हुआ। गोरक्ष ने गोसेवा की और योगशक्ति प्राप्त की।
4. स्कंदपुराण में गोरक्षावतार की कथा मिलती है।
5. गोरक्षनाथ गोपीचंद्र की माता 'मयनामती' के गुरु-रूप में स्वीकृत हैं।[3]
6. योगिसंप्रदायाविष्कृति में उन्हें गोदावरी तीर के किसी चंद्रगिरि में उत्पन्न बताया गया है।
7. दरबार लाइब्रेरी, नेपाल के गोरक्षसहस्रनाम नामक एक लघुकाय हस्तलेख के एक श्लोक के अनुसार दक्षिण दिशा में स्थित किसी बड़व नामक देश में महामंत्र के प्रसाद से महाबुद्धिशाली गोरक्षनाथ का अभ्युदय हुआ था।
8. क्रुक्स और ग्रियर्सन द्वारा उद्धृत एक परंपरा के अनुसार गोरक्षनाथ सत्ययुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरक्षपुर में, द्वापर में द्वारिका के भी आगे हुरमुज में और कलिकाल में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे।
9. बंगाल के प्रचलित एक विश्वास के अनुसार गोरक्षनाथ उसी प्रदेश में उत्पन्न हुए थे।
10. नेपाली परंपरा के अनुसार गोरक्षनाथ पंजाब से नेपाल गए थे।

---

1. *ना० सं० इ० द० सा०, डॉ० कल्याणी मल्लिक,* पृ० 280; *कौलज्ञाननिर्णय, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, भूमिका,* पृ० 12.
2. वही, पृ० 29.
3. वही, पृ० 29-30.

11. गोरखपुर के महंत के अनुसार गुरु गोरखनाथ टिला (झेलम,पंजाब) से गोरखपुर आए थे।
12. नासिक के योगियों का विश्वास है कि वे पहले नेपाल से पंजाब आए और बाद में नासिक की ओर गए थे।[1]
13. संप्रदाय में टिला के प्राधान्य को देखकर ब्रिग्स ने अनुमान किया है कि गोरक्षनाथ संभवत: पंजाब के निवासी रहे होंगे।
14. कच्छ में प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ आए। ग्रियर्सन के अनुसार धर्मनाथ गोरक्षनाथ के सतीर्थ थे।
15. ग्रियर्सन का अनुमान है कि गोरक्षनाथ संभवत: पश्चिमी हिमालय के रहनेवाले थे।
16. गोरक्षनाथ ने उड़ीसा की भी यात्रा की थी और मल्लिकानाथ को शिष्य बनाया था।[2]

उपर्युक्त विभिन्न मतों की परीक्षा कर गोरक्षनाथ के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

1. गोरक्षनाथ के जन्मस्थान के सम्बन्ध में अधिकांश मत और कथाएँ भारत के पश्चिमोत्तर भाग की ओर संकेत करती हैं।
2. उन्होंने अपने जीवनकाल में नेपाल, बंगाल, कच्छ, काठियावाड़, नासिक, उड़ीसा आदि की यात्राएँ की थीं।
3. यात्राओं के सम्बन्ध में प्रचलित विश्वासों और कथाओं से ऐसा अनुमान होता है कि गोरक्षनाथ पंजाब से गोरक्षपुर गए। वहाँ से वे नेपाल गए। नेपाल से वे पुन: पंजाब लौटे और फिर नासिक के लिए प्रस्थान किया।
4. बंगाल की अपेक्षा पंजाब या भारत के पश्चिमोत्तर भाग से उनका अधिक सम्बन्ध रहा।
5. उनके गुरु मत्स्येंद्रनाथ थे।
6. जन्म किस वंश में हुआ, यह विवादास्पद है, तथापि प्रवाद उनके ब्राह्मण होने की ओर संकेत करते हैं।
7. माता-पिता के सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं।

केवल प्रवादों, किंवदंतियों और विश्वासों के आधार पर निष्कर्ष निकालने के कई कारण हैं। उपर्युक्त विवरणों से यह प्रकट है कि गोरक्षनाथ ने अकाल संन्यास लिया था अथवा वे बहुत बाल्यावस्था में ही संन्यस्त हो गये थे। अकाल संन्यास लेने वाले बहुत से आचार्यों, संन्यासियों की चर्चा बहुत पुरानी हो चुकी है। दूसरी बात यह है कि संन्यासी

1. *नाथ संप्रदाय, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी,* पृ० 96-97.
2. *नाथ और संत साहित्य, डॉ० नागेंद्रनाथ उपाध्याय, परिशिष्ट* 2.

होना वस्तुत: जन्मान्तर माना जाता है। प्राय: संन्यासी होने के बाद नामादि का भी परिवर्तन होता है। दीक्षाओं के अनुसार भी नामों में परिवर्तन होते हैं और फिर नाथ संप्रदाय में तो नादपरंपरा ही स्वीकार की जाती है, बिंदुपरंपरा का यहाँ कोई महत्व नहीं। ऐसी स्थिति में यदि गोरक्षनाथ का जीवनवृत्त उपलब्ध नहीं तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। संन्यासी होने के बाद लोग अपने पूर्ववृत्त, जन्मस्थान, वंश, कुल, माता पिता आदि की चर्चा नहीं करते। अत: ऐसी स्थिति में केवल विश्वास, किंवदंतियाँ, प्रवाद आदि ही आधार रह जाते हैं।

सांप्रदायिकों द्वारा गोरक्ष नाम की विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इन व्याख्याओं का कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। इन व्याख्याओं का कुछ कथाओं से भी सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। ये साधना-पद्धति और दर्शन से भी सम्बन्ध रखती हैं और किसी क्रिया अथवा पक्ष की ओर संकेत करती हैं। उदाहरण के लिए गोरक्षनाथस्तोत्र में कहा गया है—'ग'-कार गुणसंयुक्त, 'र'-कार रूप लक्षण, 'क्ष'-कारेण अक्षय ब्रह्म श्री गोरक्ष नमोऽस्तु ते।'' इसके द्वारा गोरक्ष शब्द का माहात्म्यवर्णन किया गया है।[1] गोरख उपनिषद् में दो स्थलों पर दो भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं। प्रथम के अनुसार गोरक्षनाथ अंतर्यामी होकर संसार के जीवों की इंद्रियों (गो) की रक्षा करते हैं। दूसरे स्थल के अनुसार गो शब्द का अर्थात् वाक्ब्रह्म है। 'र' का अर्थ है 'रक्षा करते हैं।' 'क्ष' का अर्थ क्षयरहित अर्थात् अक्षय वाक्ब्रह्म की रक्षा करनेवाले हैं श्री गोरक्षनाथ।[2] गोरक्ष उपनिषद् की यह दूसरी व्याख्या गोरक्षस्तोत्र से मिलती-जुलती है। एक आधुनिक सांप्रदायिक रचना 'गोरक्षशब्द निरुक्ति:' में कहा गया है—'गां रक्षतीति गोरक्ष:, रक्षतीति रक्ष:, गवां रक्ष: गोरक्ष—यावत्गोपदवाच्य की जो रक्षा करता हो, उसे गोरक्ष कहते हैं अर्थात् जितने भी गो शब्द के अर्थ हैं उन अर्थों की रक्षा करने वाले का नाम गोरक्ष है।'[3]

इस अन्तिम रचना 'गोरक्षशब्दनिरुक्ति:' में ऐसा दिखाया गया है कि गोरक्ष शब्द बहुत प्रांचीन साहित्य में मिलता है और उद्धरणकर्ता का अभिप्राय यह मालूम पड़ता है कि वह इस प्रयत्न से गोरक्ष की प्राचीनता सिद्ध करना चाहता है। प्रमाण के लिए अथर्ववेद, ब्रह्माण्डपुराण, स्कंदपुराणांतर्गत केदारखंड (अध्याय 42, 45, 46, 74), शिवपुराण, महाकाल योगशास्त्र कल्पद्रुम, गोरक्षगीता, मार्कण्डेयपुराण, शाक्तप्रमोद आदि के विभिन्न उद्धरणों को प्रस्तुत कर यह कहा गया है कि गोरक्षनाथ का निवासस्थान केदारखंड के दक्षिण भाग में है, जहाँ सर्वदा अत्यन्त उष्ण जल विद्यमान रहता है।

1. *ना० सं० इ०, द० सा०* पृ० 29; *गोरक्षसिद्धांतसंग्रह* पृ० 42.
2. *सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑव नाथयोगीज़, डॉ० कल्याणी मल्लिक,* पृ० 72-73.
3. *गोरक्ष ग्रंथमाला का 82वाँ पुष्प,* पृ० 6, *पाँच पुस्तिकाओं का संग्रह, प्रकाशक—योगप्रचारिणी महासभा, गोरक्षटीला, काशी।*

अनुमानतः यह स्थान कांगड़ा अथवा हिंगलाज हो सकता है। शिवपुराण के अनुसार गोरक्षनाथ शिवावतार थे। गोरक्षगीता में बताया गया है कि इंद्राणी के पातिव्रत की रक्षा में गोरखनाथ ने सुराचार्य वृहस्पति की सहायता की थी। मार्कंडेयपुराण में मार्कंडेय और मत्स्येंद्रादि के द्विविध हठयोगी मतों की ओर संकेत है। स्कंदपुराण के केदारखंड में नवनाथों में गोरक्ष की भी गणना की गई है। प्राणतोषिणी में नवनाथ वर्णनप्रसंग में विमलानंदनाथ नाम से श्रीनाथ (गोरक्षनाथ) का ही स्मरण किया गया है। इसी प्रकार शाक्त-प्रमोद में भी श्रीनाथ का वर्णन है। स्कंदपुराण के हिमवत्खंड में, विरूक्षपातीर्थयात्रा के प्रकरण में भी गोरक्ष की सिद्धिप्रदायकता का वर्णन है।[1] गोरक्ष शब्द की जो व्याख्याएँ दी गयी हैं और विभिन्न ग्रंथों में जिन-जिन प्रसंगों में उनके उल्लेख मिलते हैं, उनसे श्रीगोरक्षनाथ की साधनात्मक असाधारणता, चारित्रिक उच्चता, हठयोगाचार्यता की ओर संकेत होता है।

गोरक्षनाथ के जीवनवृत्त पर प्रामाणिक सामग्री के अभाव में उनके चरित्र और व्यक्तित्व पर भी प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है ! उनके नाम से प्राप्त रचनाओं, किंवदंतियों, विश्वासों, कथाओं के आधार पर कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। कोई प्रामाणिक सामग्री न होने के कारण ही विद्वान् लोग गोरक्षनाथ के चरित और व्यक्तित्व पर अभी तक कुछ न लिख सके थे। लेकिन पूर्ण अभाव की स्थिति में यदि कुछ अनुमान के आधार पर ही कह लेने का अवसर मिल जाय तो उसे पूर्ण लाभ समझा जाय, इसलिए कुछ विद्वानों ने प्रयास किया। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरखनाथ को शंकराचार्य के बाद दूसरा महिमाशाली व्यक्तित्ववाला महापुरुष घोषित किया। बाद में विद्वानों ने तत्कालीन परिस्थितियों का मूल्यांकन किया और यह स्थिर किया कि जिस समय भारतवर्षीय धर्मसंप्रदायों में वामाचार, पंचमकार के परम परिशुद्ध और साधनोन्नतिकारी रूप का दुरुपयोग और कुरूपोपस्थापन होने लगा था और उसे मनुष्य की विगहित वासनाओं की पूर्ति का साधन समझा जाने लगा था उस समय साधना की पवित्रता, चरित्र की परमोच्चता, संयमपूर्ण जीवन की शक्तिमत्ता और आडम्बररहित जीवन की महिमा का उद्घोष गोरक्षनाथ ने ही किया। वस्तुतः प्राचीन तांत्रिक साधना परंपरा और उसके अवस्थागत क्रमिक विकास के महत्व को गोरक्षनाथ अच्छी तरह जानते थे। इसलिए उन्होंने तांत्रिक साधनागतमूल सिद्धान्तों, जैसे गुरुशिष्यवाद, दीक्षा, परीक्षा, अधिकारभेदवाद की शैव संप्रदायों में पुनः पूर्ण प्रतिष्ठा की, क्योंकि उस समय अशैव बौद्धादि संप्रदायों में इन नियमों और सिद्धान्तों के उल्लंघन से तांत्रिक साधना का विगर्हित रूप प्रकट हो रहा था। गोरक्षनाथ की संस्कृत और हिन्दी दोनों प्रकार की रचनाओं में उपर्युक्त नियम के प्रमाण पुष्कल परिमाण में प्राप्त हो सकते हैं।

1. *गोरक्ष ग्रंथमाला का 82वाँ पुष्प,* पृ० 8-12.

गोरक्षनाथ ने दूसरा महत्वपूर्ण कार्य शैव संप्रदायों का संगठन करके सम्पन्न किया। बौद्धों की दार्शनिक क्षेत्र में पराजय तो कुमारिल और शंकराचार्य प्रमाणित कर चुके थे, लेकिन सांप्रदायिक और सामाजिक क्षेत्र में बौद्धों का अब भी बड़ा प्रभाव था। बौद्ध संन्यासियों का प्रभाव हर्षवर्धन के समय तक कितना था, यह इतिहास स्पष्ट बतलाता है। संन्यासियों में उनकी संख्या सबसे ज्यादा थी। लेकिन शंकराचार्य के बाद भी शैव संन्यासियों का पूर्ण संगठन न हो पाया था, और कालामुख, कापालिक, पाशुपत, लिंगायत आदि अनेक संप्रदाय तत्कालीन बौद्धों की तरह जनसमाज में भय, शंका, घृणा आदि की दृष्टियों से देखे जाते थे। समाज की साधनागत और धर्मगत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने की शक्ति इनमें समाप्त हो चली थी। यों कहा जा सकता है कि इनकी सामाजिक उपयोगिता समाप्त हो गई थी। अत: ये भी शक्तिहीन होते जा रहे थे। उसी समय काश्मीर में शैव दर्शन और साधना का विकास हो रहा था। उसमें कई आचार्यों का अभ्युदय हो चुका था। इन सारी आवश्यकताओं और परिस्थितियों को भलीभाँति परख कर गोरक्षनाथ ने सदाचारपरायण, संयमपूर्ण, परंपरागत शैव दर्शन और साधना पर आधारित और जीर्णप्राय शैव संप्रदायों से संगठित सिद्धमत अथवा नाथयोगी संप्रदाय का सभारंभ किया। बहुत पहले से ही लाकुलीश, पाशुपत, लिंगायत, कालामुख आदि वेदबाह्य घोषित हो चुके थे। शंकराचार्य की शैवता और वेदानुकूलता तो गोरक्षनाथ के पहले से ही घोषित थी। अत: इन तथाकथित वेदबाह्य, जीर्णप्राय शैव संप्रदायों का नये संगठित रूप में पुनरुज्जीवन आवश्यक था ही जो गोरक्षनाथ के हाथ से सम्पन्न हुआ।

ये महत्वपूर्ण कार्य सामान्य चरित्रवाले व्यक्ति से सम्पन्न नहीं हो सकते थे। आदर्श के अनुकूल अपने चरित्र को खरा उतार कर धर्मप्राण जनता के सम्मुख प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति इस प्रकार का नेतृत्व सम्हाल सकता है। साधनागत पूर्णता के साथ चरित्रगत पूर्णता भी आवश्यक है। सामान्य जनता को आकर्षित कर लेनेवाले आकर्षक चरित्र और पूर्ण व्यक्ति से ही ये कार्य संभव थे। इसका पूरा प्रमाण हमें उपर्युक्त स्रोतों में मिलता है। उनके ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि वे संस्कृत के अच्छे संस्कारसम्पन्न ज्ञाता थे। सिद्धसिद्धांतपद्धति इसका प्रमाण है। इसी प्रकार मत्स्येंद्रोद्धार के लिए जब गोरक्ष कदली देश गये थे, तो वहाँ की स्त्रियों ने गोरक्ष के रूप को देखकर उन्हें मत्स्येंद्र से मिलने नहीं दिया। इस कथांश के आधार पर लोगों ने यह अनुमान लगाया है कि गोरखनाथ बहुत सुन्दर थे।[1] मत्स्येंद्रोद्धार के ही प्रसंग में लोककथाओं से पता चलता है कि गोरखनाथ बहुत चतुर, समय देखकर कार्य करनेवाले और विभिन्न प्रकार के वेष धारण करने में बहुत निपुण थे। विभिन्न प्रकार की विद्याओं में निष्णात होने के कारण उन्हें इसमें तनिक भी कठिनाई न होती थी। वे मृदंगवादन में निपुण थे। नृत्यकला का भी ज्ञान था। सूक्ष्म रूप

---

1. *गोरखनाथ और उनका युग, डॉ० रांगेय राघव,* पृ० 45-46.

उन्होंने दयानाथ को अपना शिष्य बनाया। कान फाड़कर कुंडल पहनाए, काले डोरों का साफा सिर पर रखा और दीनोधर वापस भेज दिया।[1]

उनकी रचनाओं से और उनके संप्रदाय के संगठन से यह बात सिद्ध होती है कि वे वर्णाश्रम व्यवस्था के भेद विभेदों को नहीं मानते थे। स्वयं उनका संप्रदाय अपने को अतिवर्णाश्रमी मानता है। यवनों को भी उन्होंने अपने संप्रदाय में स्थान दिया था। मानवमात्र के प्रति समदृष्टि को वे आवश्यक मानते थे। एक कथा के अनुसार उन्होंने ज्वालादेवी के मंदिर में हिंसाविरहित मानसी पूजा का सूत्रपात किया था। उनकी कुछ पंक्तियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वे भाँग, मद्य, मांसादि से बहुत दूर रहते थे। एक कथा से स्पष्ट होता है कि गोरक्ष धन को योगी के लिए आवश्यक नहीं मानते थे। गोरक्ष ने राँझा से कहा था—''मैं पृथ्वी पर सोता हूँ। मेरे पास विस्तर नहीं, ओढ़ावन नहीं, कंकड़-पत्थरों पर सोता हूँ और बियाबान में रहता हूँ। योगी तो निर्धन होते हैं। धन उनके पास नहीं होता।''[2] उन्होंने अपने लिए कोई निवासस्थान नहीं बनाया था। वे सदैव भ्रमणशील रहे। चार युगों में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उनके निवास अथवा अवतार की जो बात कही जाती है, वह वस्तुतः उन-उन प्रदेशों की उनकी यात्राओं का विवरण है। राँझा की कथा में गोरख को यह कहते हुए उद्धृत किया गया है कि युवती स्त्री को 'बहन' और वयस्का को 'माता' का संबोधन दो। 'वयस्का स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में अत्यन्त श्रद्धा थी। वे उनका माता के समान आदर करते थे। गोरखनाथ ने स्त्री को केवल माता के ही रूप में देखा, जो स्नेह से बालक को पालती है, जिसमें वासना नहीं रहती।' 'युवती स्त्रियों को गार्हस्थ धर्म में पतिव्रता के रूप में देखने के इच्छुक थे। उसके कामिनी रूप से उन्हें चिढ़ थी। वे उसकी वासना से घृणा करते थे। लड़कियों का शीलपूर्ण होना उन्हें भाता था। स्त्री के प्रति उनका विचार उनके सिद्धान्तों में बड़ा हाथ रखता हैं।'[3] संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए भी मस्त रहना उनकी रहनी की विशेषता थी। ऐसी मस्ती में साधना भी निर्विघ्न भाव से चलती रहे, यही उनकी आकांक्षा थी।[4]

उनके पांडित्य के सम्बन्ध में भी अब प्रायः संदेह नहीं रह गया है। 'अमरौघशासनम्' और 'महार्थमंजरी' यदि उन्हीं की रचनाएँ हैं तो निश्चय ही उन्होंने

1. *गोरखनाथ और उनका युग,* पृ० 51-52.
2. *गो० यु०,* पृ० 54 *पर उद्धृत, ब्रिग्स।*
3. *वही,* पृ० 56.
4. *'हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग।*
हसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ करि राषि आपना चीत ॥ 7 ॥
हसिबा षेलिबा धरिबा ध्यान। अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान॥
हसै षेलै न करै मन भंग। ते निहचल सदा नाथ के संग ॥ 8 ॥
—गोरखबानी, सबदी पृ०3-4.

भारतीय दर्शनों का अच्छा अध्ययन किया था। उनकी हिन्दी रचनाओं से यह बात स्पष्ट होती है कि वे पांडित्य को महत्व नहीं देते थे।[1] गोरक्ष का अपने समकालीन सिद्धों से बहुत संघर्ष था। कहा जाता है कि गोरक्षनाथ और कृष्णपाद या कान्हुपा की साधनापद्धति में भी संघर्ष था। संघर्ष का दूसरा कारण यह था कि गोरक्षनाथ अपने भक्तों, अनुयायियों और विपत्ति में पड़े लोगों की सहायता के लिए हमेशा दौड़ पड़ते थे। कानिफा, जालंधर, दयानाथ आदि के साथ उनका संघर्ष कथाओं में प्रसिद्ध है। यह भी संभव है, जैसा कुछ कथाओं से मालूम पड़ता है कि भिन्न साधनमार्ग, जो लोगों को सही रास्ते नहीं ले जाते थे, भी इसके कारण रहे हों। तत्कालीन प्रचलित विभिन्न साधनसंप्रदायों का उनके विरूप से उद्धार और नाथमत में उनका संगठन, यह भी उनका एक लक्ष्य था। इसके लिए उन्हें विभिन्न प्रकार के पराक्रम दिखाने पड़े और उनसे संबद्ध अनेक कथाएँ, किंवदंतियाँ तत्तत्प्रदेशों में प्रचलित हो गईं। अपने संप्रदाय और उसके अनुयायियों की श्रेष्ठता की उन्हें चिन्ता रहती थी। इसलिए वे अपने अनुयायियों को चित्त की दृढ़ता का उपदेश देते थे। भारत में इतना भ्रमण करनेवाले और जनमानस के संपर्क में आनेवाले, दुखियों के दुःख को देखकर तुरन्त दौड़ पड़नेवाले के लिए भी चित्त की दृढ़ता अर्त्याधिक आवश्यक थी। उनका कुछ हिंसक यवनों से भी पाला पड़ा था और उन्होंने उन्हें हिंसा से विरत करने के लिए उपदेश भी दिया था। प्रसिद्ध है कि बहुत से मुसलमान भी उनके शिष्य हो गये थे। हिन्दी की रचनाओं के अनुसार विभिन्न सांप्रदायिक संन्यासियों के आडम्बर की ओर भी उनकी दृष्टि थी और वे नाथयोगियों को उनसे मुक्त रखने के भी अभिलाषी थे। कार्पटिक, नागा, मौनी, दूधाधारी आदि ऐसे ही संन्यासी थे।

गोरक्षनाथ का व्यक्तित्व और कृतित्व विभिन्न किंवदंतियों और लोककथाओं से इतना आवृत्त है तथा सांप्रदायिकों द्वारा इस प्रकार की अनैतिहासिक बातें इतनी अधिक मात्रा में प्रसारित की गयी हैं और वे परस्पर इतनी विरुद्ध हैं कि कुछ लोग गोरक्षनाथ को पौराणिक प्रसिद्धि का व्यक्ति मानने लगे हैं। अब तक उनकी ऐतिहासिकता और समय के सम्बन्ध में जितना काम हुआ है, वह संक्षेप में नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। इन सबके आधार पर, मोटे तौर पर, इतना तो निश्चय हो गया है कि गोरक्षनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और शंकराचार्य के पश्चात् और रामानुजाचार्य के पूर्व उनका आविर्भाव हुआ था। वस्तुतः गोरक्षनाथ के समय का विचार अन्य नाथसिद्धों अथवा समकालीन सिद्धों के कालविचार से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता।

---

1. *'वेद कतेब न षांणि ब्रांणी। सब ढंकी तलि आँणी॥*
गगनि सिषर महि सबद प्रकास्या। तह बूझे अलष बिनाणी ॥ 4 ॥'
वेदे न सास्त्रे कतेबे न कुरांणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जाना बिरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई॥ 6 ॥
—*गो० बा०*, पृ० 2-3.

गोरक्षनाथ की ऐतिहासिकता और उनके काल का निर्णय करने में बहुत सी पौराणिक कथाएँ. किंवदंतियाँ, सांप्रदायिक विश्वास आदि बाधक हैं। कुछ विद्वान् इन सबका कालनिर्णयादि में उपयोग भी करते हैं।[1] कानफटा लोगों का कहना है कि उनका संप्रदाय सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान था। विष्णु जब कमल से प्रकट हुए तब उस समय गोरक्ष पाताल में थे। सृष्टि की समस्या खड़ी होने पर विष्णु पाताल गए और गोरक्षनाथ से सहायता की याचना की। गोरक्ष ने दयाकर अपनी धूनी से एक मुट्ठी विभूति दी और कहा कि यदि तुम इसे जल के ऊपर छिड़क दोगे तो तुम सृष्टि करने में समर्थ होगे। विष्णु ने वैसा ही किया और ब्रह्मा, विष्णु और शिव गोरक्ष के प्रथम शिष्य हुए।[2] विभिन्न स्थानों पर विभिन्न युगों में गोरक्ष के अवतरित होने की कथा उनके अतिमानव होने की ओर संकेत करती है।[3] यह भी कहा जाता है कि गोरक्षनाथ कलियुग में शेषनाग के रूप में प्रकट हुए।[4] नेपाल से कुछ ऐसे चित्र भी मिले हैं जिनमें गोरक्ष नागों से आवृत्त हैं। उनके शीर्ष भाग पर शेषनाग की छाया है। एक परंपरा के अनुसार गोरखनाथ का बाबा फरीद से भी संपर्क था जिन्होंने 1244 ई० में गिरनार की यात्रा की थी। उनका एक स्मारक भी गिरनार में है।[5] गोरखनाथ के शिष्यों की सूची काफी लम्बी है। ब्रिग्स ने हठयोगप्रदीपिका के बहुत से सिद्धों को उनका शिष्य माना है। वह सूची इस प्रकार है—

विरूपाक्ष, विलेश्या, मंथान, भैरव, सिद्धिबुद्ध, कंथड़ी, करंटक, सुरानंद, सिद्धिपाद, चर्पटी, काणेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कपालि, बिदुनाथ, कंकचंडेश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ा, चोली, भानुकी, नारदेव, खण्ड, कापालिक तथा अन्य।[6]

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिग्स ने हठयोगप्रदीपिका में दिये गये नामों को ठीक से पढ़ा नहीं है। खंड और कापालिक वस्तुतः दो सिद्ध नहीं हैं और वास्तविक नाम है चण्डकापालिक। उसी प्रकार घोड़ाचौली भी एक ही सिद्ध का नाम प्रतीत होता है। ऐसे ही और कितने दोष बताये जा सकते हैं। वस्तुतः गोरक्षनाथ के शिष्यों की संख्या और नाम का संधान अभीतक ठीक से हुआ ही नहीं है। उड़ीसा के उनके शिष्य मल्लिकानाथ का पता अभी-अभी लगा है जिनका जीवनवृत्त मल्लिकामकरंद नाम के ताड़पत्र के हस्तलेख के इतिहासखंड में मिलता है।[7]

---

1. *गोरखबानी—सदबी 39-40,* पृ० 15, सबदी 7, 9-10, पृ० 3-4.
2. *गोरखनाथ ऐंड कनफटा योगीज़, ब्रिग्स,* पृ० 228 (*ब्रिग्स द्वारा कथित इस कथा में पौराणिक असंगति है*) ।
3. *वही,* पृ० 229.
4. *गोरखनाथ ऐंड कनफटा योगीज़, ब्रिग्स।*
5. *वही,* पृ० 230.
6. *वही,* पृ० 234.
7. *नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० नागेंद्रनाथ उपाध्याय, परिशिष्ट 2.*

गोरक्षनाथ से संबद्ध जो कथाए मिलती हैं, उनमें से अनेक गूगा चौहान, राजा रसालू, पूरण भगत आदि से सम्बन्धित हैं जिनका उपयोग विद्वानों ने गोरक्षनाथ के कालनिर्णय में किया है। गूगा का समय 12वीं शताब्दी के पूर्व बताया गया है। राजा रसालू का समय आठवीं शती माना गया है। भर्तृहरि, गोपीचंद्र, भोज, रानी पिंगला आदि की कथाओं के आधार पर ब्रिग्स ने गोरक्षनाथ का समय 11वीं ई० शती के पूर्व बताया है।[1] राजपूताने के मेवाड़ के बाप्पा से सम्बन्धित गोरक्ष का समय 8वीं ई० शती से 12वीं ई० शती के बीच रहा होगा।[2] नेपाली वंशावली पर्वतिया के अनुसार मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ का मिलन नेपाल में नरदेव (8वीं ई० शती का मध्यकाल) के समय में हुआ था।[3] इस प्रकार की बहुत सी सामग्रियों की परीक्षा कर ब्रिग्स ने यह निश्चय किया कि जब तक और नयी सामग्री उद्घाटित नहीं होती तब तक तो यही निष्कर्ष है कि गोरक्षनाथ का आविर्भाव 12वीं ई० शताब्दी के पूर्व हुआ था। अधिक संभावना तो यह है कि 11वीं ई० शताब्दी के प्रारम्भ में ही उनका आविर्भाव हुआ और वे बंगाल के पूर्वी भाग से आए थे। इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् डॉ० मोहन सिंह ने संभावना व्यक्त की है कि वे ईसा की 9वीं शताब्दी में विद्यमान थे और पंजाब के निवासी थे।

नेपाल के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास से उपलब्ध तथ्यों, शैव धर्म और नाथयोगी संप्रदाय के विकास के इतिहास से उपलब्ध तथ्यों तथा विभिन्न संप्रदायों की परंपराओं के आधार पर प्रो० सिल्वा लेवी, डॉ० शहीदुल्ला जैसे विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि नाथयोगी संप्रदाय के संस्थापक सातवीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान थे। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के आधार पर लोग गोरक्षनाथ को छठीं शताब्दी का मानते हैं। एक सांप्रदायिक परंपरा यह भी मानती है कि जेसस क्राइस्ट ने हिमालय के एक नाथयोगी (गोरखनाथ?) से योगशिक्षा ग्रहण की थी।[4]

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विभिन्न दंतकथाओं और ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे कई महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है। (1) मत्स्येंद्रनाथ और जालंधरनाथ समसायिक थे तथा इन दोनों के शिष्य थे क्रमशः गोरक्षनाथ और कानुपा या कृष्णपाद। अतः इनमें से किसी एक का समय निश्चित हो जाने पर शेष का समय निश्चित हो सकता है। (2) कौलज्ञाननिर्णय के लेखक मत्स्येंद्रनाथ 11वीं शताब्दी के पूर्व हुए थे। (3) अभिनवगुप्त द्वारा संस्तुत 'मच्छंदविभु' मत्स्येंद्रनाथ ही हैं। अभिनवगुप्त ने 'ईश्वर-प्रत्यभिक्षा' की बृहती वृत्ति सन् 1015 में लिखी थी और क्रमस्तोत्र की रचना सन् 991 में की थी। इस प्रकार

---

1. *गोरखनाथ ऐंड कानफटा योगीज़, ब्रिग्स,* पृ० 235-236, 239, 242, 244, 251.
2. *वही,* पृ० 245-247.
3. *वही,* पृ० 248.
4. *नाथयोग (अंग्रेजी), प्रो० अक्षयकुमार बनर्जी,* पृ० 5.

मत्स्येंद्रनाथ इसके पूर्व आविर्भूत हुए होंगे। (4) मत्स्येंद्रनाथ (मीनपा) राजा देवपाल के राज्यकाल (सन् 809-849 ई०) में हुए थे। अत:मत्स्येंद्रनाथ नवीं शताब्दी के मध्यभाग और अधिक से अधिक अंत्य भाग तक वर्तमान थे। (5) गोविंदचंद्र या गोपीचंद्र जालंधर के शिष्य कानुपा के शिष्य थे। दक्षिण के राजा राजेन्द्र चोल ने माणिक्कचंद्र के पुत्र गोविंदचंद्र को पराजित किया था। 'गोविन्दचंद्रेर गान' के अनुसार गोविंदचन्द्र का किसी दाक्षिणात्य राजा से युद्ध 1063-1112 ई० में हुआ था। इस पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जालंधर का समय इससे सौ वर्षों पूर्व (लगभग 963 ई०) रहा होगा। मत्स्येंद्रनाथ का समय इससे भी पूर्व होना चाहिए। (6) वज्रयानी सिद्ध कण्हपा, जिन्होंने अपने गानों में जालंधरनाथ का नाम लिया है, तिब्बती परंपरा के अनुसार राजा देवपाल (809-849 ई०) के समकालीन थे। अत: जालंधर-पाद का समय इससे कुछ पूर्व ठहरता है। (7) चालुक्यराज मूलराज (993 ई०) ने अणहिल्लपुर के शिवमंदिर का प्रबंधक कंथड़ी नामक सिद्ध को बड़े छल-बल-कौशल से बनाया था। इस सिद्ध के सारे लक्षण नाथपंथी योगी के हैं, ऐसा प्रबंधचिंतामणि से पता चलता है। ऊपर के प्रमाणों के आधार पर नाथमार्ग के आद्य प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्यभाग ही उचित जान पड़ता है।[1]

ऊपर के विवरण और विवेचन से यह निश्चित हो गया है कि मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ का समय 9वीं ई० शती के मध्य अथवा अंत्य भाग में होना चाहिए। अभी तक जितने भी प्रमाणों का विचार लोगों ने किया है, उनमें उपर्युक्त विचार अपेक्षाकृत अधिक संगत और प्रामाणिक मालूम पड़ते हैं। डॉ० कल्याणी मल्लिक ने शताब्दी के अनुसार सामग्री का विभाजन कर यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि गोरक्षनाथ का समय 12वीं ई० श० के पूर्व किसी समय माना जा सकता है। उन्होंने कुछ प्रमाण ऐसे भी दिए हैं, जिनसे डॉ० द्विवेदी के मत की पुष्टि होती है। मालवराजकन्या मयनामती के पति माणिकचन्द्र के गीत रंगपुर के पाशुपत शैव गाते थे। ये लोग गोरक्षनाथ की गुप्तरूप में पूजा करते थे। पैग-साम-जान-ज्वैन के अनुसार शंकरदिग्विजय के परवर्ती काल में मगध के श्रीहर्ष के ज्येष्ठ पुत्र के राजत्वकाल में, बंगदेश में माणिकचंद्र के पिता राज्य करते थे। शंकर का जन्मकाल 788 ई० है। गोरक्षनाथ ने नाथ संप्रदाय के दर्शन के साथ उपनिषद्दर्शन का सामंजस्य किया है। अतएव वे शंकर के बहुत परवर्ती नहीं हो सकते। उनका दूसरा प्रमाण यह है कि आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दुओं और मुसलमानों में जो संघर्ष हुआ, उसमें गोरक्ष के शिष्य राजा रसालू ने विशिष्ट स्थान ग्रहण किया। रसालू और पूरन भगत दोनों ही गोरक्ष के शिष्य थे।[2] अन्यत्र डॉ० कल्याणी मल्लिक ने यह

1. *नाथसिद्धों की बानियाँ, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, भूमिका*, पृ० 5-9.
2. *ना० सं० इ० द० सा० प्र०, मल्लिक*, पृ० 34-39.

स्वीकार किया है कि गोरक्षनाथ का समय दसवीं ईस्वी शताब्दी के बाद निश्चित होना चाहिए।[1]

इस प्रकार गोरक्षनाथ के समय के सम्बन्ध में स्पष्टतः दो मत हैं। एक मत गोरक्षनाथ का जीवनकाल स्पष्टतः ईस्वी की नवीं शताब्दी का मध्यभाग मानता है और दूसरा मत उन्हें 10वीं से 12वीं शताब्दी के मध्य किसी समय विद्यमान मानता है। दोनों मतों में पर्याप्त अन्तर है। डॉ० मल्लिक के कुछ प्रमाणों का उपयोग प्रथम मत की पुष्टि के लिए भी किया जा सकता है। सब देखने पर प्रथम मत (9वीं ई० शताब्दी का मध्यभाग) ही अधिक मान्य प्रतीत होता है।

1. *सि० प० अ० व० ना० यो०, मल्लिक, इंट्रो०*, पृ० 10.

आठवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ की संस्कृत-रचनाएँ

गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं की सूचियाँ प्रस्तुत करने में विद्वानों ने अनुमान का आश्रय लिया है और प्राय: नाथयोगी संप्रदाय की मान्य रचनाओं को गोरक्ष साहित्य में सम्मिलित कर लिया है। कुछ लोगों ने कुछ प्रसिद्ध तंत्र ग्रन्थों को गोरक्षरचित मान लिया है। गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं की गणना करते समय हिन्दी के इतिहासकारों ने उनकी संस्कृत रचनाओं का भी उल्लेख किया है। भारतीय धर्मेतिहास को प्रस्तुत करने वाले विद्वानों ने भी अनेक ग्रंथों की लम्बी सूची दी है। इस प्रकार गोरक्ष साहित्य के दो अर्थ मिलते हैं—1. गोरक्ष संप्रदाय अथवा नाथ संप्रदाय का प्रमाण साहित्य, 2. गोरक्ष रचित साहित्य। हमें यहाँ केवल गोरक्ष रचित साहित्य पर ही विचार करना है जबकि प्रसंगत: गोरक्ष संप्रदायगत साहित्य का उल्लेख किया जा सकता है। इसके लिए विविध यथासंकेतित स्रोत उपलब्ध हैं।

मिश्रबंधुओं ने सर्वप्रथम गोरक्षनाथ के नौ ग्रंथों का उल्लेख किया था—1.गोरखशतक (ज्ञानशतक), 2. चतुरशीत्यासन, 3. ज्ञानामृत, 4. योगचिंतामणि, 5. योगमहिमा, 6. योगमार्त्तंड, 7. योगसिद्धांतपद्धति, 8. विवेक मार्तड, 9. सिद्धसिद्धांत-पद्धति।[1] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने वस्तुत: गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथों की परिगणना न कर नाथपंथीय संस्कृत ग्रंथों की ही परिगणना की है—(उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त) शक्तिसंगमतंत्र, निरंजनपुराण, वैराट पुराण।[2] जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स ने अधुनातन नाथपंथियों द्वारा प्रयुक्त तथा मान्य ग्रंथों की एक लम्बी सूची दी है जिसमें हिन्दी तथा संस्कृत ग्रंथों का विभेद नहीं किया गया है तथा उसमें गोरक्ष, मत्स्येंद्र आदि के अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों के ग्रंथ सम्मिलित हैं। कुछ अन्य संप्रदायों द्वारा मान्य ग्रंथ भी अनुसूचित हैं—रुद्रयामल तंत्र, विष्णुसहस्रनाम।[3] ब्रिग्स ने गोरक्षशतक को गोरखनाथ की प्रामाणिकतम रचना माना और उसका रोमन अक्षरों में संपादन कर, अंग्रेजी में अनुवाद भी किया।[4] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरक्षलिखित 28 संस्कृत ग्रंथों की सूची दी है। उन्होंने यह मत भी व्यक्त किया है कि ''इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्ता स्वयं गोरखनाथ नहीं थे।'' उनके

1. *मिश्रबंधु विनोद,* पृ० 211 *(प्रथम संस्करण).*
2. *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ०19.
3. *गो० का० यो०,* पृ० 252-257.
4. *वही,* पृ० 284-304.

अनुसार उपरिलिखित के अतिरिक्त ग्रंथ हैं—

1.	अमनस्क,	2.	अमरौघशासनम्,	3.	अवधूतगीता
4.	गोरक्षकल्प	5.	गोरक्षकौमुदी	6.	गोरक्षगीता
7.	गोरक्षचिकित्सा	8.	गोरक्षपंचय	9.	गोरक्षपद्धति
10.	गोरक्षसंहिता	11.	ज्ञानामृतयोग	12.	नाड़ीज्ञानप्रदीपिका
13.	महार्थमंजरी	14.	योगबीज	15.	योगसिद्धासनपद्धति
16.	श्रीनाथसूत्र	17.	हठयोग	18.	हठसंहिता।[1]

द्विवेदीजी द्वारा उल्लिखित कई ग्रंथों की आवृत्ति होने के कारण उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया। महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने गोरक्ष-सिद्धांतसंग्रह और सिद्धसिद्धांतसंग्रह नामक ग्रंथों का संपादन सरस्वती भवन ग्रंथमाला के अन्तर्गत किया था। डॉ० कल्याणी मल्लिक ने गोरक्षनाथ कृत ग्रंथों में सिद्धसिद्धांतपद्धति, अमरौघप्रबोधे और योगमार्तंड नामक संस्कृत ग्रंथों का संपादन किया।[2] इस प्रकार गोरक्षनाथरचित एवं नाथपंथी संस्कृत साहित्य की कुल 37 रचनाओं की एक तालिका बनती है।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में प्रायः संदेह व्यक्त किया गया है। गोरक्षनाथ के ग्रंथों के पुराने हस्तलेख अभी तक इस रूप में उपलब्ध नहीं हैं कि उनकी रचनाओं के प्राचीनतम रूप को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया जा सके। वैज्ञानिक पद्धति से सिद्धसिद्धांतपद्धति का सर्वप्रथम संपादन डॉ० कल्याणी मल्लिक ने किया। इनके तीन हस्तलेखों में से तंजौर हस्तलेख तेलुगु लिपि में प्राप्त हुआ है। यह ताड़पत्र पर लिखित है। इसके समय का अनुमान संपादिका ने 1699 ई० किया है।[3] डॉ० मल्लिक ने अमरौघप्रबोध और योगमार्तंड को भी गोरक्ष की रचना माना है। यद्यपि ब्रिग्स ने राजेंद्रलाल मित्र के प्रमाण पर इसे नित्यानंद कृत माना है तथापि एक अन्य स्रोत को उद्धृत कर उन्होंने इसे गोरक्षनाथकृत भी कहा है।[4] गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में इसे नित्यनाथ विरचित ही कहा गया है।[5] डॉ० मल्लिक द्वारा प्राप्त हस्तलेखों में इसे गोरक्षकृत ही कहा गया है। अधिकांश प्रमाण गोरक्ष के पक्ष में इसका निर्णय करते हैं। डॉ० द्विवेदी तथा ब्रिग्स ने अमरौघप्रबोध का नाम भी नहीं लिया है। योगमार्तंड का नाम तो उन लोगों ने अवश्य दिया है किन्तु उसका कोई भी विवरण वे लोग नहीं दे सके। डॉ० मल्लिक द्वारा प्राप्त तंजौर हस्तलेख में इसे भी गोरक्षकृत ही कहा गया है। राजेंद्रलाल मित्र ने

1. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 98–100.
2. *द्र० सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑव नाथयोगीज़, सं० डॉ० कल्याणी मल्लिक।*
3. *वही, इंट्रो०,* पृ० 33.
4. *गो० क० यो०, ब्रिग्स,* पृ० 255.
5. *गो० सि० सं०,* पृ० 11.

योगसिद्धांतपद्धति, सिद्धांतपद्धति और ज्ञानामृत को भी गोरक्षकृत ही कहा है।[1] डॉ० द्विवेदी ने अमरौघशासनम्, अवधूतगीता, गोरक्षपद्धति (गोरक्ष शतक या गोरक्षज्ञान+ योगशास्त्र), महार्थमंजरी, विवेकमार्त्तंड को भी गोरक्षकृत मानने की ओर संकेत किया है। यद्यपि डॉ० द्विवेदी ने गोरक्षकृत कुल 28 ग्रंथों की सूची दी है तथापि उन्होंने सभी के गोरक्षकृत होने में संदेह व्यक्त किया है।[2] डॉ० मल्लिक ने चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योगमहिमा, योगसिद्धांतपद्धति, गोरक्षकल्प, गोरक्षसहस्रनाम और गोरक्षपिष्टिका को भी गोरक्षकृत ही कहा है।

इस प्रकार यद्यपि विद्वानों ने लगभग 36 ग्रंथों को गोरक्षकृत माना है तथापि उनमें से निम्नलिखित को गोरक्षरचित मानने का विशेष आग्रह प्रतीत होता है—

1. अमरौघशासनम्	2. अवधूतगीता,	3. गोरक्षगीता,
4. गोरक्षशतक,	5. महार्थमंजरी,	6. विवेकमार्त्तंड
7. सिद्धसिद्धांतपद्धति,	8. चतुरशीत्यासन,	9. ज्ञानामृत
10. योगमहिमा,	11. योगसिद्धांतपद्धति.	12. गोरक्षकल्प
13. गोरक्षसहस्रनाम,	14. गोरक्षपिष्टिका,	15. योगबीज

ब्रिग्स ने इनमें से केवल गोरक्षशतक को गोरक्ष की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना माना है। ज्ञानशतक और ज्ञानप्रकाशशतक भी गोरक्षशतक के नामांतर हैं। फुर्कुहर के प्रमाण को उद्धृत कर उन्होंने बताया है कि गोरक्षकल्प नामक ग्रंथ का गोरक्षपद्धति के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया गया है।[3] गोरक्षपद्धति में कुल दो शतक हैं। प्रथम शतक को गोरक्षशतक, गोरक्षज्ञान, ज्ञानप्रकाशशतक और ज्ञानशतक भी कहते हैं। दूसरे शतक को योगशास्त्र भी कहते हैं।[4] गोरक्षपद्धति के द्वितीय शतक की हिन्दी टीका में बहुत से ऐसे श्लोक भी हैं, जो हठयोगप्रदीपिका में भी मिलते हैं। गोरक्षशतक टीका, गोरक्षशतकटिप्पणी, गोरक्षकल्प नामक ग्रंथ के भाष्य, परिशिष्ट, टिप्पणी आदि हैं। गोरक्षपद्धति में उसे गोरक्षसंहिता भी कहा गया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि गोरक्षशतक इस संप्रदाय का मूलभूत प्रमाण ग्रंथ है। इसे परंपराएँ और प्रमाण गोरक्षनाथकृत स्वीकार करते हैं और उसका समय 12वीं ई० श० स्वीकार करते हैं।[5]

किन्तु गोरक्षशतक अथवा गोरक्षपद्धति को इस प्रकार मूलभूत ग्रंथ मानने के विरुद्ध भी कई तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। प्रथम तथा द्वितीय शतकों की रचनापद्धति से

1. *गो० क० यो०*, पृ० 255—*संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स ऑव द राजा ऑव बीकानेर (मित्र)*, पृ० 576 *तथा अन्य पादटिप्पणियाँ।*
2. *नाथ संप्रदाय*, पृ० 98–100.
3. *गो० क० यो०*, पृ० 225.
4. *ना० सं०, पृ० 99–100.*
5. *गो० क० यो०*, पृ० 255–257.

प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ गोरक्षसंहिता के बाद लिखा गया है। क्योंकि वैसी रहस्यवादी प्राचीन परंपरा का प्रयोग इसमें नहीं दिखाई पड़ता जैसा कौलज्ञाननिर्णय में दिखाई पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि किसी परवर्ती नाथयोगी ने इसे गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध कर दिया और वह भी 'गोरक्षसंहिता' और 'हठयोगप्रदीपिका' आदि को आधार बनाकर। 'ग्रंथांतरे' शीर्षक देकर अनेक श्लोक हठयोगप्रदीपिका से उद्धृत किए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका संग्राहक गोरक्षसंहिता और हठयोगप्रदीपिका को अपना आधार ग्रंथ मानता है। इन दोनों ग्रंथों में से 'गोरक्षसंहिता' को प्रधानती दी गई है। यद्यपि हठयोगप्रदीपिका के श्लोकों को 'ग्रंथांतरे' करके शतक के श्लोकों से पृथक् संख्या देकर उद्धृत किया गया है तथापि 'गोरक्षसंहिता' के श्लोक शतक के श्लोकों में अंतर्भूत हैं। हठयोगप्रदीपिका को ब्रिग्स 15वीं ई० श० की रचना मानते हैं;[1] किन्तु यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गोरक्षशतक को परवर्ती नाथयोगियों ने इतना आवश्यक तथा महत्वपूर्ण ग्रंथ समझा कि वे लोग उस पर अनेक भाष्य, टीका, व्याख्या आदि की रचना करते रहे। गोरक्षशतक के समान ही सिद्धसिद्धांतपद्धति भी महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ के आधार पर भी आगे चलकर सिद्धसिद्धांतसंग्रह, गोरक्षसिद्धसंग्रह जैसे ग्रंथों का निर्माण किया गया। इन ग्रंथों में यत्र-तत्र सिद्धसिद्धांतपद्धति के उद्धरण भी प्रमाण के रूप में मिलते हैं।[2]

इस प्रकार इन संस्कृत ग्रंथों में गोरक्षसंहिता तथा सिद्धसिद्धांतपद्धति नामक दोनों ही महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रतीत होते हैं और ये दोनों ही गोरक्षनाथकृत हैं। अमरौघशासनम् और महार्थमंजरी नामक ग्रंथ भी गोरक्षकृत माने जाते हैं तथा विभिन्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। शैवागमों से शैव नाथ मत का सम्बन्धनिरूपण करने के लिए अमरौघशासनम् महत्वपूर्ण है। सांख्ययोग, काश्मीर शैवमत और तंत्रदर्शन के 36 तत्वों के साथ सम्बन्ध विचार के लिए महार्थमंजरी विचारणीय ग्रंथ है।[3] इन आधारों पर दार्शनिक, साधनात्मक तथा सांप्रदायिक विचारधारा के विवेचन की दृष्टि से निम्नलिखित गोरक्षनाथ रचित संस्कृत ग्रंथ प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं:—

1. सिद्धसिद्धांतपद्धति, 2. गोरक्षसंहिता, 3. अमरौघशासनम्, 4. महार्थमंजरी।

इनमें से दर्शन की दृष्टि से सिद्धसिद्धांतपद्धति तथा महार्थमंजरी महत्वपूर्ण है तथा साधना की दृष्टि से गोरक्षसंहिता और अमरौघशासनम्। उपर्युक्त ग्रंथों में से शेष इनके सहायक रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं। इन चार ग्रंथों में से प्रथम और तृतीय दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी विवेचन करते हैं। द्वितीय साधना का स्वरूप-निरूपण करता है तथा चतुर्थ ग्रंथ अध्यात्म का पुट देकर दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करता है। कुछ ग्रंथ

1. *गो० क० यो०*, पृ० 253.
2. *द्रष्टव्य सिद्धसिद्धांतपद्धति, 4.28-29 तथा सि० सि० सं० 4.39.*
3. *नाथ संप्रदाय*, पृ० 99-100.

संपादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनेक संस्करण हो चुके हैं किन्तु डॉ० मल्लिक का संपादन अधिक विश्वसनीय है। गोरक्षसंहिता अभी सुसंपादित होकर प्रकाशित नहीं हुई है। अमरौघशासनम् का संपादन श्री मुकुन्दराम शास्त्री ने काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली के अन्तर्गत किया है। महार्थमंजरी योगप्रचारिणी सभा, गोरक्षटिल्ला, वाराणसी से प्रकाशित है। इसका दूसरा महत्वपूर्ण संस्करण काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली में श्रीनगर से प्रकाशित है। तीसरा संस्करण वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की योगतंत्र-ग्रंथमाला में वैक्रमाब्द 2029 में प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण के संपादक श्री द्विवेदी ने त्रिवेंद्रम् संस्कृत ग्रंथमाला के और विस्तृत संस्करण की चर्चा अपने उपोद्घात (पृ० घ) में की है। अंतिम दोनों संस्करणों को देखने से मत्स्येंद्र-शिष्य गोरक्षनाथ के इसका रचयिता होने में सन्देह होता है। इस पर आगे भी विचार किया गया है।

इन चार महत्वपूर्ण ग्रंथों के प्रतिपाद्य का संक्षेप में नीचे परिचयमात्र दिया जा रहा है—

1. सिद्धसिद्धांतपद्धति—डॉ० मल्लिक द्वारा संपादित इस ग्रंथ में कुल छह उपदेश हैं। प्रथम उपदेश में पिण्डोत्पत्ति, द्वितीय में पिण्डविचार, तृतीय में पिण्डसंवित्ति, चतुर्थ में पिण्डाधार, पंचम में पिण्डपदसमरसकरण, षष्ठ में अवधूतयोगिलक्षण की विवृत्ति है। प्रथम उपदेश में विभिन्न शक्तियों की उत्पत्ति, उनके गुणों, पिण्डों की उत्पत्ति तथा उनके गुणों का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही आद्यपिण्ड से महाकाश, महाकाश से महावायु, महावायु से महातेज, महातेज से महासलिल और महासलिल से महापृथ्वी की उत्पत्ति बतलाई गई है। इनके गुणों का विवेचन किया गया है। आगे चलकर नाड़ियों के दश द्वारों, दश वायुओं, गर्भोलिपिंड की उत्पत्ति आदि का विचार किया गया है। इसी क्रम में द्वितीय उपदेश में पिंडस्थ नवचक्रों, उनके स्वरूपों, स्थानों का वर्णन करने के बाद सोलह आधारों, तीन प्रकार के लक्ष्यों का वर्णन कर कहा गया है कि

नवचक्र कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः॥[1]

तदुपरान्त यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि का विस्तार से वर्णन कर उनके लक्षण बतलाए गए हैं।

तृतीय उपदेश पिंडसंवित्ति में उसे योगी कहा गया है जो पिंड में चर-अचर को जानता है। यह बतलाया गया है कि पिण्ड में ब्रह्माण्ड के किन-किन अंगों एवं तत्वों की वर्तमानता है। दूसरे शब्दों में इसे गोरक्षनाथ द्वारा विवेचित पिण्डब्रह्माण्डसम्बन्ध विचार कहा जा सकता है जिसका ज्ञान योगी को अवश्य होना चाहिए। सर्वप्रथम पिंड में सात पातालों सहित इक्कीस ब्रह्माण्डों का स्थानविचार कर ब्राह्मणादि चारो वर्णों की

1. *सि० सि० प० अ० व० ना०, सिद्धसिद्धांतपद्धति,* पृ० 12, 2.31.

विविधरूपेण स्थिति का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार सात-सात द्वीपों एवं समुद्रों की पिंड में विविधरूपात्मक स्थिति का उल्लेख कर भारतादि विविध खंडों के पिंडस्थ स्थान बतलाए गए हैं। इसी क्रम में अष्टकुलपर्वत एवं उपपर्वतों, नवनदियों, सप्तविंशति नक्षत्रों, द्वादश राशियों, नवग्रहों, तारामण्डल, तीस करोड़ देवताओं, देवदानवादि, कुलनाग, मुनिगण, विभिन्न देवियों एवं शक्तियों, मेघों, तीर्थों, अनंत सिद्धों, चंद्रसूर्य, वृक्षलतादि, कृमि-कीटपतंगादि पिंडनिवास का वर्णन किया गया है। सुख-दु:ख, बन्धन-मुक्ति, निद्रा-जागरण आदि की स्थिति का उल्लेख कर कहा गया है कि सभी शरीरों में विश्वस्वरूप परमेश्वर चित्स्वरूपी परमात्मा अखण्ड स्वभाव से प्रत्येक घट में स्थित रहता है।[1]

चतुर्थोपदेश में पिंडाधार (= शक्ति) का वर्णन करते हुए निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुंडली नाम की पाँच शक्तियों की गणना की गई है। कुलाकुल सामरस्य के प्रकाश की भूमिका के स्फुटीकरण में एकमात्र समर्था शक्ति अपरंपरा शक्ति है। इस प्रकरण में पद्धतिकार ने प्रमाणस्वरूप काश्मीर शैवमत के ललित स्वच्छंद, प्रत्यभिज्ञा, वामकेश्वरतंत्र जैसे ग्रंथों को उद्धृत किया है। अमरौघशासनम् की तरह यहाँ भी एक ही शक्ति के ऊर्ध्व, मध्य एवं अध: नामक तीन भेदों का विवेचन किया गया है और ऊर्ध्वशक्तिनिपात, मध्यशक्तिप्रबोधन तथा अध:शक्तिनिकुंचन के निर्देश दिए गए हैं। इसी प्रकरण में शिवशक्ति के आभ्यंतरत्व से सम्बन्धित प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत किया गया है।[2] पंचमोपदेश में पिंडपदपरमपद समरसीकरण की व्याख्या की गई है। महासिद्धयोगियों के द्वारा परपिण्ड, स्वपिण्ड तक का ज्ञान प्राप्त कर उनका परमपद में समरस किया जाता है। परमपद स्वसंवेद्य एवं अत्यंताभासाभासकमय है। इस परमपद को तत्त्वसंहिता का उद्धरण देकर अनिर्वचनीय, अगम एवं स्वसंवेद्य कहा गया है। इस प्रसंग में एकमात्र गुरु ही सन्मार्गदर्शन कराने में समर्थ है। यह सन्मार्ग योगमार्ग है। इतर मार्ग पाषंडमार्ग है। सिद्धान्त तो यह है कि गुरु कटाक्षपात के द्वारा स्वसंवेदन से महासिद्धयोगिगण स्वकीय पिंड के निरुत्थान के माध्यम से समरसीकरण करते हैं।[3] निरुत्थान प्राप्ति के उपाय और परात्परपद के स्वरूपनिरूपण के उपरान्त पिंडसिद्धि की विशेषता बतलाई गई है। पिंडसिद्ध के वेष का जो वर्णन किया गया है उसमें शंख, मुद्रा, केशरोम, अमरीपान,

---

1. *सि० सि० प० अ० व०*, पृ० 16-17—*'एवं सर्वदेहेषु विश्वस्वरूप: परमेश्वर: परमात्मा अखंडस्वभावेन घटेघटे चित्स्वरूपी तिष्ठति। एवं पिण्डसंवित्तिर्भवति।'*
2. *वही*, पृ० 19-21; 4.1-26—*'अस्ति काचिदपरम्परा संवित्स्वरूपा सर्वपिण्डाधारत्वेन नित्यप्रबुद्धा निजा शक्ति: प्रसिद्धा कार्यकारणकर्तृणामुत्थानदशांकुरोन्मीलनेन कर्त्तारं करोति अतएवाधार-शक्तिरिति कथ्यते।' 'मध्यशक्ति प्रबोधेन अध:शक्ति निकुञ्चनात् ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम्॥ शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति: शक्तेरभ्यन्तर: शिव:। अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।'*
3. *वही*, पृ० 23, 5.1-7.

मर्दन, एकांतवास, दीक्षा, संध्या, जप, सुरादि से ज्ञानभैरव की पूजा (पाठभेद में 'सुरादिभि:' के स्थान पर 'यथाविधि:' भी मिलता है), शंखध्वनि, सिंहनाद, कौपीन, पादुका, अंगवस्त्र, बहिवस्त्र, कंबल, छत्र, वेत्र, कमंडलु, भस्मत्रिपुंड्र आदि का गुरुवंदनपूर्वक विधान किया गया है; किन्तु तुरन्त इसके बाद ही यह भी कह दिया गया है कि परमार्थत: परंपद वेश से प्राप्त नहीं होता। लोकप्रत्यय के हेतु से ही वेष विधान किया गया है।[1] इसी प्रकरण में योगमार्ग की अर्हता की व्याख्या में सिद्धयोगियों के योगज्ञान अथवा योगयुक्तज्ञान अमिधावाले साधनमार्ग की विवृति कर कहा गया है कि ज्ञान की प्राप्ति की युक्तियों में योग ही सुसज्ज उपाय है।[2] सहज, संयम, सोपाय और अद्वैत नामक क्रम से इस परमपद को उपलक्षित कराया गया है।[3] इसमें सहज शब्द विशेषकर इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसी सहज शब्द को कुछ विद्वान् नाथों में बौद्धों से आया हुआ मानते हैं। पद्धतिकार के अनुसार विश्वातीत परमेश्वर विश्वरूपेण अवभासमान है एवं 'एकमेव' है। इसका स्वस्वभाव से जो ज्ञान प्राप्त किया जातौ है उसे ही सहज ज्ञान कहा जाता है। दूसरे इससे यह भी प्रकट है कि 'पद्धति' के मत से विश्वातीत परमेश्वर ही विश्वरूप में अवभासमान होता है अत: निश्चयत: यह मत शांकर अद्वैत से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि यह मत भी अद्वैतवादी ही है और इससे इसका काश्मीराद्वैत से अभिन्नत्व भी सिद्ध होता है। इस अद्वैत परमपद का ज्ञान केवल सद्गुरुमुख से होता है, कोटिशास्त्रों, तर्क, शब्द, आचार, वेदपाठ, वेदांतश्रवण, तत्वमसि आदि के बोधन, हंसोच्चारण, जीवब्रह्मऐक्यभावन, ध्यान, लय आदि से नहीं।[4] इस परम पद को प्राप्त करनेवाले सिद्ध को लीलापूर्वक ही सभी सिद्धियाँ क्रमश: प्राप्त होती हैं। इस प्रकार द्वादश वर्षों में वह अंतत: शिवतुल्य होकर स्वयं कर्ता और हर्ता हो जाता है और फिर वह सिद्धयोगी कहा जाता है। पाँच प्रकार के गुरुकुलसंतानों (आई संतान, विश्वेश्वर संतान, विभूति संतान, नाथ संतान, योगीश्वर संतान) के परवर्ती विकारों एवं गुणों का वर्णन करने के बाद उनके देवताओं (क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) की गणना की गई है। आसन, वैराग्य, अन्नाहार, प्राणधारण, जप, तप, ध्यान, यज्ञ, तीर्थसेवन, देवार्चन, भक्ति, आश्रमपालन, षड्दर्शन, केशादिधारण, मुंडन तथा अनंत उपायों से भी परमपद की प्राप्ति नहीं होती। सिद्ध पुरुष इन सभी दैहिक साधनों का परित्याग कर परमपद में अदैहिक रूप में स्थित रहते हैं। दृढ़ सत्यवादियों को इस प्रकार की स्थिति गुरु के दृगपात-मात्र से होती

1. *सि० सि० प० अ० व०* पृ० 25, 5.19—*'पर पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थत:। देहमूलं हि वेषं स्याल्लोकप्रत्ययहेतवम्॥'*
2. *वही,* पृ० 25, 5.22—*'शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथित: पुरा। योग:सन्नहनोपायो ज्ञानसंगतियुक्तिषु॥'*
3. *वही,* पृ० 25, 4.25.
4. *वही,* पृ० 26, 5.33 *तथा आगे।*

है। इसी प्रकार स्वगुरु के कथन, शक्तिपात, पांदावलोकन अथवा प्रसाद से परमपद की प्राप्ति होती है।[1] गुरुमहिमा का व्याख्यान करने के साथ ही भ्रामक गुरु के त्याग का भी उपदेश दिया गया है।[2]

षष्ठोपदेश में बहुत विस्तार से अवधूतयोगी के लक्षणों की विवृत्ति की गई है। सभी प्रकृतिजनित विकारों का अवधूनन करनेवाला योगी ही अवधूत योगी है। धूनन का अर्थ है कंपन अथवा चालन। वह दैहिक प्रपंचों अथवा विषयों में संगत मन का परिग्रहण कर उन विषयों से उसे प्रत्याहृत कर स्व उच्च धाम में अपनी चेतना को लीन करनेवाला, आदिमध्यान्तनिधनभेद से वर्जित एवं प्रपंचशून्य होता है।[3] 'अवधूत' अमिधा की विस्तार से व्याख्या करने के उपरान्त कहा गया है कि इस प्रकार जो योगी सभी दर्शनों का स्वस्वरूप दर्शन में समन्वय करता है, वह अवधूत योगी कहा जाता है।[4] इसी प्रकरण में मुद्रा की शारदातिलक से मिलती-जुलती व्याख्याएँ दी गई हैं।[5] तदुपरान्त ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी, संन्यासी, त्रिदंडी, एकदंडी का तत्त्वार्थकथन किया गया है। पद्धतिकार के अनुसार शुद्ध, शांत, निराकार, परानंद, सदोदित शिव को जाननेवाला शुद्ध, बुद्ध व्यक्ति ही शैव होता है।[6] इसी प्रकार गोरक्षनाथ ने तापस, पाशुपत, कालमुख,लिंगधारी, नग्न दिगंबर, कापालिक, महाव्रती का तथा शाक्त के तत्त्वार्थ का निरूपण किया है[7] जिससे यह प्रकट होता है कि यद्यपि गोरक्षनाथ के समय में ये सभी साधक वर्ग विद्यमान थे; किन्तु उनमें नामधारकत्व-मात्र ही प्रधान था तथा वे वस्तुतः साधक एवं स्वलक्ष्यानुधावक नहीं थे। इसीलिए गोरक्ष को उनका तत्त्वार्थनिरूपण करना पड़ा। इसी प्रकार वैष्णव, भागवत, भेदवादी, पांचरात्रिक, सदाजीवी, सात्त्विक,सूक्ष्मसात्त्विक, सत्यवादी, कलंकी, क्षपणक के विषय में भी कहा गया है।[8] गोरक्षनाथ द्वारा प्रस्तुत सिद्धयोगी की व्याख्या विशेष महत्वपूर्ण है। शिव (संकोच) और शक्ति (प्रसर) का योगकर्ता ही सिद्धयोगी कहा जाता है। विश्वातीत एवं विश्व दोनों का जो सदा संयोग करता है, जो अपनी सभी वृत्तियों का लय करता है, जो उदासीन, शांत, स्वस्थ, अंतर्निजभासक, महानंदमय, धीर, परिपूर्ण,

1. *सि० सि० प० अव०* पृ० 26-29, 5.34-62.
2. *वही,* पृ० 29-31, 5.63-81.
3. *वही,* पृ० 32, 6.1—*'यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधूनोतीत्यवधूतः। योगोऽस्यास्तीति योगी। धूञ् कम्पने इति धातुः कम्पनार्थे वर्तते। कम्पनं चालनं देह-दैहिक-प्रपंचादिषु विषयेषु संगतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्नि परिलीनचेताः प्रपञ्चशून्य आदिमध्यान्तनिधन-भेदवर्जितः॥ 1॥'*
4. *वही,* पृ० 34 *तथा* पृ० 35, *श्लोक* 33.
5. *वही,* पृ० 35, 6.31.
6. *वही,* पृ० 35, 6.34-40.
7. *वही,* पृ० 6.42-53.
8. *वही,* पृ० 37, 6.54-64.

प्रसन्नात्मा, विशुद्ध, निर्भरानंद, सर्वानंदकर, सुधी, सर्वानुग्रहधी होता है, गत के लिए शोक नहीं करता, विभव में वांछा नहीं करता, प्राप्ति पर हर्षित नहीं होता, आनंदपूर्ण एवं निजबोध में लीन रहता है, वह कालपथ से भी कभी बाधित नहीं होता। ऐसा ही अवधूत सद्गुरु होता है।[1] विभिन्न दार्शनिक मतों का परपक्ष के रूप में निरास करते हुए गोरक्षनाथ ने सिद्धमत का विस्तार से प्रतिपादन किया है। किंबहुना उन्होंने विभिन्न प्रकार की कष्टकर शारीरिक साधनाओं का भी खंडन करते हुए कहा है कि जब योगी घंटा, काहल, काल मर्दल, महाभेरी प्रभृति वाद्य निनाद के समान पिंड तथा ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापक अनाहत नाद को सम्यकतया एवं निरंतरतया सदा सुनते हैं तभी उनका सिद्ध पद समुचित होता है एवं परम तत्व का लाभ होता है।[2] योगियों के भंडत्व के उद्घाटन के उपरान्त 'आदेश', 'कुंडल', कौपीन, खर्पर, भजन आदि के सिद्धार्थ की व्याख्या की गई है और तदनंतर 'अधिकार' का विवेचन किया गया है।[3] इस प्रकार गोरक्षनाथ ने इस ग्रंथ द्वारा अपने मत के दर्शन, साधन, संप्रदायादि का बहुविध विस्तृत विवेचन किया है।

2. महार्थमंजरी—यह ग्रंथ महेश्वरानंद प्रणीत है और स्वयं उन्हीं की लिखी हुई 'परिमल' नाम की व्याख्या से संवलित है। परिमल के एक आरंभिक श्लोक से ज्ञात होता है कि गोरक्ष का अपर नाम महेश्वरानंद है और यह नाम आध्यात्मिक गुरुत्व की दृष्टि से है।[4] इसी प्रकार एक श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि स्वप्नकाल में सुमुखी सिद्धयोगिनी देवी साक्षात् हुई और उन्होंने उस समय अपनी भाषा में 70 गाथाएँ उच्चरित कीं।[5] महार्थमंजरी के कर्ता महेश्वरानंद नाथसंप्रदाय के नवनाथों में महत्वपूर्ण गोरक्षनाथ से अभिन्न थे, इस पर पर्याप्त विवाद है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे गोरक्षकृत ग्रंथों की सूची में गिना है और यह माना है कि काश्मीरी परंपरा के अनुसार इसके रचयिता महेश्वरानंद गोरक्षनाथ ही हैं।[6] किन्तु श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी ने अनेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महार्थमंजरी के रचयिता महेश्वरानंद शिवानंद के प्रशिष्य थे और उनका समय 14वीं शताब्दी था। महेश्वरानंद ने स्वयं परिमल व्याख्या भी

1. *सि० सि० प० अ० व०* पृ० 37-38, 6.65-72.
2. *वही,* पृ०41, 6.91—*'घण्टाकाहल-कालमर्दल-महा-भेरीनिनादं यदा। सम्यङ् नादमनाहतध्वनिमयं श्रृण्वन्ति चैतादृशम्॥ पिण्डे सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा। तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं तत्वं परं लभ्यते॥ 91॥'*
3. *वही,* पृ० 42-44, 6.96-117.
4. *महार्थमञ्जरी, सं० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदः, वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय, सं० 2029,* पृ० 4, *श्लोक 7—'गोरक्षो लोकधिया देशिकदृष्ट्या महेश्वरानन्दः। उन्मीलयामि परिमलमन्तर्ग्राह्यं महार्थमञ्जर्याम्॥'*
5. *वही,* पृ० 5, *श्लोक 12—'स्वप्नसमयोपलब्धा सा सुमुखी सिद्ध योगिनी देवी। गाथाभिः सप्तत्या स्वापितभाषाभिरस्तु सम्प्रीता॥'*
6. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 100.

लिखी है। उन्होंने कहीं भी मत्स्येंद्रनाथ का स्मरण ही नहीं किया और न परिमल के सिद्धान्तों के साथ हठयोगी नाथ संप्रदाय के प्रवर्तक के सिद्धान्तों की समता ही दिखाई पड़ती है। शिवानंद ने ऋजुविमर्शिनी में सोमशंभु, नागभट्ट आदि को उद्धृत किया है। ये सभी मत्स्येंद्र और गोरक्ष के परवर्ती हैं। सभी तर्कों एवं प्रमाणों के आधार पर श्री द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महार्थमंजरी के रचयिता महेश्वरानंद नाथ संप्रदाय के प्रवर्तक गोरक्षनाथ कथमपि नहीं हो सकते। रचयिता महेश्वरानंद का स्थितिकाल ईसा की चौदहवीं शताब्दी में किसी समय स्वीकार करना चाहिए।[1] किन्तु श्री द्विवेदी ने 'अपर पर्याय गोरक्ष' पर यहाँ कुछ विचार नहीं किया। अतः अभी भी अंतिम रूप से यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि महेश्वरानंद और गोरक्षनाथ दो भिन्न व्यक्ति हैं तथा महार्थमंजरी गोरक्षनाथ की रचना नहीं है।

इस ग्रंथ की सामग्री देखकर निम्नलिखित बातें सार रूप में कही जा सकती हैं। इस ग्रंथ की सत्तर गाथाओं की भूमिका में यह स्पष्ट किया गया है कि परमेश्वर आत्मस्वरूप से अविभिन्न है। इस परमेश्वर के परामर्श अथवा ध्यान अथवा चिंतन का उपाय ही इसका प्रतिपाद्य है। इस ग्रंथ में महेश्वरानंद ने आत्मतत्त्व के लिए प्रमाण की अनुपयोगिता, अधिकारिविभाग, विधिनिषेध, संसार-स्वरूप, षट्त्रिंशतत्व, परमार्थ, विश्व का प्रकाशविमर्शान्तर्भाव, परमेश्वर-सपर्या, सपर्या-स्वरूप, देवता स्वभाव, मंत्रतत्त्व, वाग्वृत्ति, मुद्रा, जीवन्मुक्ति, क्षणभंगवाद का निरास, स्वात्मविमर्श का सद्यः सिद्धिप्रत्यायन, विमर्शलाभ की गुरुकटाक्षाधीनता आदि विविध बिन्दुओं पर विचार किया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका विषय 36 तत्त्वों की व्याख्या माना है।[2] कुछ लोग इसमें परमेश्वर पूजा का मंत्र-मुद्रा समन्वित विधान देखकर उसी का प्राधान्य मानते हुए तांत्रिक कर्मकाण्ड का प्रामुख्य स्वीकार करते हैं।[3] जैसा पहले कहा जा चुका है, वस्तुतः इसमें आत्मस्वरूप से अविभिन्न परमेश्वर के चिन्तन के उपाय का प्रतिपादन है।[4] इसके अंतर्गत उपर्युक्त सभी निर्दिष्ट प्रतिपाद्य आ जाते हैं। इसमें 36 तत्त्वों का जो विचार है वह काश्मीर शैव मत के सर्वथा अनुकूल है। यदि यह ग्रंथ मत्स्येंद्र-शिष्य गोरक्षनाथ की ही रचना है तो इससे उनका काश्मीर शैवागम परंपरा से घनिष्ठभावेन संबद्ध होना प्रमाणित होता है।

3. अमरौघशासनम्—काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली के अन्तर्गत 19, 20 एवं 21वीं पुस्तक एकसाथ प्रकाशित हैं जिनमें से बीसवीं पुस्तक अमरौघशासनम् है। इसके साथ प्रकाशित अन्य दो पुस्तकें हैं—जन्ममरणविचार (19) तथा तंत्रवटधानिका (21)

1. *महार्थमञ्जरी, सं० व्रजवल्लभ द्विवेदी, उपोद्घात,* पृ० ड.-च।
2. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 100.
3. *महार्थमञ्जरी, सं० व्रजवल्लभ द्विवेदी,* पृ० 79-127.
4. *वही,* पृ० 2, *'अथ यदेतदात्मस्वरूपाविभिन्नपरमेश्वरपरामर्शोपायप्रतिपादन।'*

अमरौघशासनम् में स्पष्टतः दो विभाग दिखाई पड़ते हैं। प्रथम विभाग में 'सारणा' का विवेचन है और द्वितीय विभाग में सिद्धसिद्धांतपद्धति में विवृत्त सिद्धांतों का संक्षेप कर नाड़ियों, ग्रंथियों, कुंडलिनी, चक्रों, अमृतसाधन आदि का परिचय देते हुए महेश्वर परमात्मा की ओर संकेत किया गया है।

प्रारंभ में सारणा का विस्तार से विवेचन किया गया है। यह धातुओं की, विशेषकर पारे के शोधन अथवा संस्कार की एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर के विभिन्न प्रकार के शोधन की प्रक्रिया का यहाँ इस ग्रंथ में विधान किया गया है। गोरक्षनाथ ने इस ग्रंथ में सिद्धसिद्धांतपद्धति के समान ही ऊर्ध्वशक्तिनिपात, अधःशक्तिनिकुंचन तथा मध्यशक्तिप्रबोधन से परमसुख की उपलब्धि बतलाई है। इस कार्य के लिए परासारणा, प्रतिसारणा, शंखसारणा, महासारणा की व्याख्या की गई है। इस सारणा-साधना में मुख्य रूप से प्राणसाधना, नाड़ीसाधना, कुंडलीसाधना तथा सिद्धकाया प्राप्ति को स्थान दिया गया है।[1] अन्त में शब्दब्रह्म की साधना एवं नादोपासना का विवेचन है। यह भी बताया गया है कि वंशी, शंख, मेघनिर्घोष, कांस्य ताल, मेघशब्द, अग्निदाह, दुंदुभिस्वन आदि विभिन्न प्रकार के नाद इस क्रम में सुनाई पड़ते हैं। इनसे प्राप्त होनेवाली जनवात्सल्य, रोगनाश, कवित्व, दूराकर्ष, भूमिपरित्याग, वज्रत्व, कायास्फुरण, सामरस्य आदि विभिन्न सिद्धियों की भी चर्चा की गई है। अन्त में कहा गया है कि दिवारात्रि ध्वनित होनेवाले इस अनाहत में जो योगी आरूढ़ रहता है, वह परमपद को प्राप्त करता है।[2]

दूसरे भाग में विभिन्न दर्शन एवं साधन संप्रदायों द्वारा स्वीकृत मोक्षस्वरूपों का खंडन करते हुए कहा गया है कि कोई शुभ कर्म के विच्छेदन को मोक्ष कहता है, कोई मोक्ष को वेदपाठाश्रित मानता है, कोई मोक्ष को निरालम्ब मानता है, 'कोई ध्यान कला-करण-संबद्ध प्रयोग से उत्पन्न रूप-बिंदु-नाद, चैतन्य-पिंड आकाश' को मोक्ष मानता है। कुछ लोग कहते हैं कि पूजा, पूजक, मद्य-मांस, सुरतादि से उत्पन्न आनंद मोक्ष है। कुछ के अनुसार मूलकंद से उल्लखित कुंडलिनी का संचार मोक्ष है। कुछ लोगों की दृष्टि से समदृष्टि निपात की मोक्ष है।[3] गोरक्षनाथ ने इस प्रकार के विभिन्न सात मतों द्वारा स्वीकृत मोक्षस्वरूपों को अस्वीकार कर स्वयं स्वीकृत मोक्ष स्वरूप बतलाया है—सहजसमाधिक्रम से जहाँ मन से मन का समावलोकन किया जाता है, वहीं मोक्ष है।[4] इस प्रकार अमरौघशासनम् में जीवन्मुक्तिपद को ही स्वीकार किया गया है। यहाँ कुंडलिनी मृणालसूत्रपरिमाणवाली, शंखावर्ता, प्रवालांकुरसन्निभा बताई गई है। 'लंपिका'

1. *अमरौघशासनम्, सं० पं० मुकुन्दराम शास्त्री,* पृ० 1-4.
2. *वही,* पृ० 4-5.
3. *वही,* पृ० 8-9.
4. *वही, पृ० 9—'यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एवं मोक्षः।'*

(उपजिह्वा=कौवा) स्थान से ऊपर अमृतधारा का अभिस्राव बताया गया है। शंखिनीमुख को दशमद्वार निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि मूल भगमंडल के पास से, जहाँ से कुंडलिनी निर्गत होती है, उसके वाम भाग से सोमनाडिका तथा दक्षिण भाग से सूर्यनाडिका निकलती है। चन्द्र वामांगव्यापक है तथा सूर्य दक्षिणांगव्यापक। इसी प्रकार चंद्र वामांग में वाम नासापुट में है तथा सूर्य दक्षिणांग में दक्षिण नासापुट में। इस प्रकार अमरौघशासनम् में सूर्य-चंद्र-व्यवस्था बताई गई है।[1] तदुपरान्त विभिन्न चक्रों, पवनों, पद्मों तथा तद्गत तत्त्वों की स्थिति का निर्देश करते हुए बताया गया है कि नासाग्र में आकाशतत्त्व है और उसके ऊपर आज्ञा का स्थान है। उसके बाद ग्रंथिषोडश के बाद अमृता षोडशी कला स्थित है। यह वालशतधाश्रया है। उसके ऊपर बिन्दु है। बिन्दुभेद के अनंतर शृंगाटक (चतुष्क) की आकृति का मस्तक है जो चित्त के लय का स्थान है। ज्ञानशक्ति उसी का आश्रयण करती है। वहीं शक्तित्रय से अलंकृत, चिद्दर्पण के प्रतिबिंब के समान, विविध भावकला से कलित, संसार की चेष्टा के अवलोकन में कुशल, सुप्तावस्था में जलचंद्रवत् दिखाई पड़नेवाला वह तत्त्व है जो परमात्मा सर्वव्यापक महेश्वर है और वही चतुर्दशविधभूतग्रामकर्ता है।[2] इन दोनों भागों का युगपत् संबद्ध अध्ययन करने से पिंडज्ञान तथा नाथमतानुमोदित योगसाधना से प्राप्त कायसिद्धि अथवा अमृतसाधन का ज्ञान होता है। यों कहा जा सकता है कि अमरौघशासनम् गोरक्ष के नाम के सिद्धान्त एवं साधना का संक्षिप्त परिचय ग्रंथ है।

4. गोरक्ष संहिता—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सभी गोरक्ष-ग्रंथ-सूचियों की परीक्षा कर बताया है कि प्रायः सभी में इस पुस्तक का नाम आता है। उन्होंने पं० प्रसन्नकुमार कविरत्न द्वारा 1897 ई० में प्रकाशित एकमात्र संस्करण का उल्लेख कर यह बताया है कि अब यह पुस्तक खोजे नहीं मिलती। डॉ० बागची ने कौलावलिनिर्णय की भूमिका में नेपाल दरबार लाइब्रेरी में प्राप्त प्रति के कुछ अंशों को उद्धृत किया था। इसके अनेक श्लोक अविकल रूप में मत्स्येंद्रनाथ रचित अकुलवीरतंत्र नामक ग्रंथ से मिलते हैं। डॉ० द्विवेदी के अनुसार दोनों का प्रतिपादन भी एक ही है।[3] प्रस्तुत लेखक को काठियावाड़ांतर्गत प्रभासपाटण से श्री भगवान् त्रिवेदी के पुत्र श्री इंद्रजी शर्मा द्वारा शकाब्द 1816 वैक्रमाब्द 1950 (सन् 1893 ई०) में प्रकाशित गोरक्ष संहिता की एक प्रति मिली है जिसकी एक टंकित प्रति मेरे पास सुरक्षित है जिसके आधार पर इस ग्रंथ का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत है। इस ग्रंथ की प्राचीनता और प्रामाणिकता के विषय में यत्किंचित् पहले कहा जा चुका है। गोरक्षपद्धति नामक ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन पं० महीधर शर्मा ने किया था। उसके प्रथम शतक के तीसरे से आगे के सभी श्लोक इस

1. *अमरौघशासनम्,* पृ० 10-11.
2. *वहीं,* पृ० 12-13.
3. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 100-101.

गोरक्ष संहिता के ही प्रतीत होते हैं। चौथे श्लोक में गोरक्षसंहिता ग्रंथ का नाम लिया गया है जबकि गोरक्षसंहिता के चौथे श्लोक में 'गोरक्षशत' के कथन की बात कही गई है। गोरक्षसंहिता का प्रथम श्लोक गोरक्षपद्धति का द्वितीय श्लोक है। गोरक्षसंहिता का द्वितीय श्लोक गोरक्षपद्धति में नहीं मिलता। इस श्लोक में गोरक्षनाथ ने मीननाथ की वंदना की है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोरक्षसंहिता वह मूलग्रंथ है जिसका संपादन, संक्षेपण विभिन्न रूपों में बाद में किया गया।

गोरक्षसंहिता का यह संस्करण दो शतकों में विभाजित है। प्रथम शतक में षडङ्ग योग के अंगों में आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की गणना की गई है। यद्यपि आसनों की संख्या अनंत है तथापि उनमें से सिद्धासन और कमलासन का पूरा स्वरूप और क्रिया उद्घाटित की गई है। देहस्थ षट्चक्र, षोडषाधार, त्रिलक्ष्य, व्योमपंचक, एकस्तम्भ, नवद्वार और पंचदैवत को जानना योगी के लिए अनिवार्य कहा गया है। आधारचक्र को चतुर्दल, स्वाधिष्ठान को षट्दल, नाभिस्थित पद्म को दशदल, हृदयस्थित चक्र को द्वादशदल, कंठस्थित विशुद्धाख्य को षोडशदल तथा भ्रूमध्यस्थित आज्ञा को द्विदल पद्म बताया गया है। ब्रह्मरंध्र महापथ सर्वोपरि सहस्त्रदल पद्म है। इन चक्रों के स्वरूपों का वर्णन कर इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुहू और शंखिनी नाम की दस नाड़ियों की गणना कर उनके स्थानों का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार दस वायुओं और उनके स्थानों के उल्लेख के साथ उनकी क्रिया और गति का वर्णन कर अजपा गायत्री के स्वरूप और महत्व का व्याख्यान किया गया है। प्राणवायु के द्वारा उत्तेजित किए जाने पर शक्ति के जागरण एवं चालन का विधान करते हुए शक्तिचालन मुद्रा के स्वरूप और तदभ्यासी के लिए नियम का विस्तृत विधान किया गया है। इसी क्रम में महामुद्रा, खेचरीमुद्रा, उड़ीयानबंध, जालंधरबंध, महाबंध की क्रियाओं की व्याख्या की गई है। तदन्तर प्रणवाभ्यास, प्राणायामप्रकार, नाड़ीशोधन, प्राणायामविधि का वर्णन किया गया है।

द्वितीय शतक के प्रारम्भ में पूरक, रेचक और कुंभक नामक प्राणायाम के तीन प्रकारों का वर्णन कर उनकी मात्रा एवं अवधि का परिचय देकर स्थान, क्रिया आदि का उल्लेख करते हुए कुंभकादि के भी भेदों का वर्णन किया गया है। प्राणायाम के परवर्ती साधनांगों के परस्पर विकासोन्मुख सम्बन्धों एवं परिणामों का निर्देश कर समाधि का स्वरूप बताया गया है जिसमें कुंडली का भी उल्लेख है। प्राणवायु के सहस्त्रदल कमल में पहुँचने पर विभिन्न वाद्यों की ध्वनि के प्राकट्य से योगसिद्धि के सामीप्य का अनुमान कराया गया है। तदुपरान्त प्रत्याहार का हठयोगात्मक स्वरूप स्पष्ट किया गया है जिसमें विभिन्न चक्रों के भी योग का निर्देश है। पातंजल अष्टांग योग के क्रम के अनुसार ही प्रत्याहार के बाद पाँच प्रकार की पंचभूतानुसारी धारणा तथा उनके फल का वर्णन है। सुरक्षित टंकित प्रति में केवल यहीं तक गोरक्षयोग का वर्णन मिलता है। ध्यान एवं समाधि

का विवेचन इस संस्करण में अज्ञात कारणवश उपलब्ध नहीं है। गोरक्षपद्धति से शेष दोनों अंगों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

उक्त चारों ग्रंथों की इस विषयसामग्री को देखते हुए गोरक्ष साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य योग और उसकी सहायता से प्राप्त ज्ञान ही प्रतीत होता है जिसमें पिंडब्रह्माण्डवाद और हठयोग को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

नवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ का दर्शन

गोरक्षनाथ के दर्शन के मूल आधार ग्रंथ संस्कृत में हैं। ऊपर जिन संस्कृत रचनाओं की ओर संकेत किया गया है, उनमें गोरक्षदर्शन का तत्त्वविज्ञान बहुत ही पुष्ट रूप में प्रकाशित हुआ है। अन्य बहुत से भारतीय दर्शनों की तरह ही गोरक्षदर्शन के तत्त्वविज्ञान का मूलाधार सांख्य का तत्त्वविज्ञान है। सिद्धसिद्धांतपद्धति में काश्मीर शैव दर्शन के 36 तत्त्वों का पूरा समाहार किया गया प्रतीत होता है। वस्तुत: इस तत्त्वविज्ञान का मुख्य लक्ष्य नाथों का 'पिंडब्रह्माण्डवाद' है। पिंड और ब्रह्माण्ड की समतत्त्वता और समपदार्थता सिद्ध करने के लिए दार्शनिक आधार के रूप में इस तत्त्वविज्ञान का विकास किया गया, ऐसा प्रतीत होता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० कल्याणी मल्लिक आदि ने इस तत्त्वविज्ञान का विस्तार से विवेचन किया है।

गोरक्षनाथ के तत्त्वविज्ञान के अनुसार प्रलयावस्था में शिव कार्य कारण के चक्र संचालन से विरत, कुल-अकुल-भेद से परे और अव्यक्त रहते हैं।[1] इस अवस्था को सिद्धसिद्धांतसंग्रह में 'स्वयं' कहा गया है। इस परम शिव में सिसृच्छा उत्पन्न होने पर उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। यह सिसृच्छा ही शक्ति है, जिसके उत्पन्न होते ही शिव और शक्ति दो तत्त्व हो जाते हैं जो इस स्थिति में अभिन्न रहते हैं। इसके बाद इन दोनों तत्त्वों का पाँच अवस्थाओं में विकास होता है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

शिव	शक्ति
1. अपर	:1. निजा (स्फुरित होने की पूर्ववर्तिनी, स्फुरित होने को उपक्रांत)।
2. परम	:2. परा (स्फुरणोन्मुख)।
3. शून्य	:3. अपरा (स्पंदित होती है)।
4. निरंजन	:4. सूक्ष्मा अहंता। 'मैं'-पन का पृथक्ता का भाव।
5. परमात्म[2]—इस अवस्था	:5. कुंडली।[3]—(अपनी पृथक्ता में पूर्ण सचेत

1. *सिद्धसिद्धांतसंग्रह, 1-4, ''कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्। अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत॥'' पृ० 1.*

2., 3. *'ततोऽस्मिता पूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं परम्। तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम्। स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्। तस्मात्ततः स्वसाक्षाद्भूः परमात्मपदं मतम्।' सि०सि०सं०*, पृ० 2, *उप०* 1, *श्लोक* 14-15.

में शिव विश्वप्रपंच की उत्पत्ति पालन और संहार में समर्थ होते हैं।	इसी शक्ति की सहायता से शिव इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति, पालन और संहार में समर्थ होते हैं)।

यह कुंडली वेदांतिक ब्रह्म की शक्ति 'माया' से भिन्न है। यह चिच्छक्ति, चिच्छीला, चिद्रूपिणी, अनंतरूपा और अनंत शक्तिरूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत् रूप में परिणत होती है। इसे वेदनशीला भी कहा गया है और इसके अन्य शक्तियों के समान ही पाँच गुण पूर्णता, प्रतिबिंबता, प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यंगमुखता बताए गए हैं।[1] इसके बाद यह शक्ति सृष्टिक्रम को अग्रसर करने के लिए क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। शिव और शक्ति के बाद तीन परवर्ती क्रमविकास हैं—3. सदाशिव, अहंप्रधान, 4. ईश्वर, इदंप्रधान, 5. शुद्धविद्या, उभयप्रधान,[2] शिव क्रमशः उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं (आनंदों) से होते हुए 'जीव' रूप की ओर अग्रसर होते हैं। वे क्रमशः स्थूल से स्थूलतर होते जाते हैं। इसी प्रकार गोरक्ष के तत्वविज्ञान के अनुसार तत्वविकास (सृष्टिप्रक्रिया) में क्रमशः निम्नलिखित 36 तत्व उत्पन्न होते हैं—उपर्युक्त 5 और 6. माया, 7-11. पंचकंचुक, 12.पुरुष, 13.प्रकृति, 14.महत्, 15. अहंकार, 16-20. पंचतन्मात्र, 21-31. एकादश इंद्रिय, 32-36. पंचभूत।[3]

वस्तुतः यह सारा विकास सिद्धसिद्धांतपद्धति में 'पिंडोत्पत्ति' के प्रकरण में वर्णित है। अतः इस सारे विकास को पिंडोत्पत्ति के अनुसार विभाजित किया गया है। 1.परपिंड (तत्त्व 1-2), 2. आद्यपिंड (3-5), 3. साकार पिंड (तत्त्व 6-13), 4.प्राकृत पिंड (तत्त्व 14-20), 5. अवलोकन पिंड (तत्त्व 21-31), 6. गर्भ पिंड (तत्त्व 32-36)। गर्भ पिंड स्थूलतम पिंड है और सृष्टिप्रक्रिया में अंतिम स्थूलतम विकास है।[4]

स्पष्ट है कि ऊपर की प्रक्रिया ब्रह्माण्ड और पिंड की समतुल्य विकास-प्रक्रिया है। भेद केवल सत्व, रज, तम, काल और प्राणशक्ति की न्यूनता और अधिकता के कारण है। यहाँ तक कि प्रत्येक परमाणु तक में उन सभी तत्वों की सत्ता स्वीकृत है। पिंड मानो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है।[5] इस प्रकार परशिव (स्वयं) की अवस्था ही परम अवस्था है।

---

1. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 104, *सिद्धसिद्धांतसंग्रह—'चिच्छीलान्कुण्डलिन्यतः'—1-6, सिद्धसिद्धांत पद्धति—'ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता॥—1-7, पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्मुखता इति पंचगुणा कुण्डलिनी शक्तिः॥'—1-12.*
2. *नाथ संप्रदाय, पृ० 105 तथा पादटिप्पणी।*
3. *वही,* पृ० 109.
4. *वही,* पृ० 107-109.
5. *वही,* पृ० 110, *सिद्धसिद्धांतसंग्रह,* पृ० 18— *''ब्रह्माण्डवर्ति यत्किंचित् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा''।*

नाथमार्ग को कुछ विद्वान् अद्वैतवादो मानते हैं। लेकिन शांकर अद्वैतवाद से स्पष्ट भेद है। काश्मीर शैवाद्वैत दर्शन से इसका स्पष्ट नैकट्य है। सामरस्या, शक्तिकल्पना, परमशिव, सगुण शिव, जगत् का अमिथ्यात्व, परम शिव की इच्छा-शक्ति और उसका विकास, पिंडब्रह्माण्डवाद आदि विचार और सिद्धान्त ऐसे ही हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि नाथ सिद्धाचार्य अपना भेद स्थिर करने के लिए सिद्धान्त की दृष्टि से अपने को द्वैताद्वैतविलक्षणवादी कहते हैं, क्योंकि नाथतत्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है। वह निरुपाधि है और संख्या उपाधि है। वह अवाच्य पद है। जगत् का प्रपंच शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है। इसलिए शक्ति ही जगत्कर्त्री है, शिव नहीं। इस संप्रदाय में ब्रह्म या शिव की शक्ति को चित्स्वभावा माना गया है और वेदांतियों में जड़स्वभावा। इसीलिए नाथदर्शन में जगत् चिच्छक्ति का विकास है। धर्मी शिव और धर्म शक्ति को केवल व्यवहारानुरोध से भिन्न मान लिया गया है। चित् ब्रह्म की शक्ति भी चिद्रूपा ही होनी चाहिए। शिव का स्वरूपनिर्धारण अशक्य होने से अभिन्न-भिन्नरूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। नाथयोगी साधक का लक्ष्य है, शिव और शक्ति का सामरस्यरूप सहज समाधि। इस प्रकार की शक्ति की उपासना अन्ततः शिवोपासना ही है। व्यवहारानुरोध से ही शक्ति की उपासना कही जाती है।

डॉ० कल्याणी मल्लिक ने बताया है कि गोरक्ष का दर्शन प्राचीनकाल के शैवमत के अद्वैतवाद पर आधृत है। किन्तु उनका नाथ तत्व द्वैत-अद्वैत, साकार-निराकार से अतीत है। शिव शुद्ध चिद्रूप हैं और शक्ति उसका परिवर्तन और विकास का पक्ष है। नाथ लोग जगत्प्रपंच के अद्वितीय परम कारण को शिव या आदिनाथ के नाम से अभिहित करते हैं। वे स्वरूपतः अनादि, अनंत, स्वयंसिद्ध, स्वप्रकाश, नित्य, तत्त्व, देशकालातीत, सर्वअवच्छेदहीन और सकल भेद बाधाशून्य हैं। वह सर्वथा निरपेक्ष सत्ता है। वे स्वयं निष्कारण और समस्त चराचर के एकमात्र कारण हैं। यह कारणता ही उनकी शक्ति है। इस शक्ति के साथ वे नित्ययुक्त रहते हैं। शिवशक्तिसम्बन्ध के विषय में नाथगण कहते हैं—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिवः॥[1]

एक ही अद्वितीय परमतत्व दृष्टिभेद से शिव या शक्ति आख्या को प्राप्त करता है। शिव शक्तिरूप होकर सर्वाकारों में स्फुरित होते हैं। दोनों ही अन्योन्याश्रयभूत हैं। धर्म के बिना धर्मी अकल्पनीय है। इस प्रकार दोनों तत्वतः अभिन्न हैं—

---

1. *सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐंड अदर वर्क्स, भूमिका, पृ० 19; ना० सं० द० सा० प्र०, पृ० 228; सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, पृ० 26-27, 4.37; सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 4.26.*

प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः।
तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगयोगराट्॥[1]

इस प्रसार और संकोच का जो आदि और अंत है, वही साम्यावस्था है और वही निराभास है, वही शिवावस्था है। जब यह साम्य भंग होता है, अर्थात् शक्ति के स्फुरण या प्रसर में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है, तब शक्ति परिणाम लाभ करती है या जगत् आभासित होता है। शक्ति की संकोचन क्रिया के अवसानकाल तक जगत् क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म-भेद से आभासित होता है। अतएव जगत् का आभास ही शक्तिभाव और निराभास ही शिवभाव है। शिव एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति का तिरोभाव ही जगत् का लय है। फिर भी शिव और शक्ति सूर्य और सूर्यकिरण के समान अभिन्न हैं। अतएव शक्ति की साधना से शिव की उपलब्धि होती है। शक्ति उपासना साधन है और शिवत्वलाभ उसका फल। विमर्श ही शिव की शक्ति है। इस प्रकार नाथसिद्ध सगुण सक्रिय, अर्थात् विचित्र ब्रह्मांडरूपी शिव और निर्गुण, निष्क्रिय शिव नामक ये दो तत्व स्वीकार करते हैं। सगुण, निर्गुण, सक्रिय, निष्क्रिय की मिलनभूमि को ही वे नाथस्वरूप कहते हैं।[2]

परब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में नाथसिद्धान्त यह है कि ईश्वर में क्रिया और अक्रिया, दोनों प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं। पूर्ण ब्रह्म सक्रिय अथवा निष्क्रिय नहीं है। नाथ और निर्गुण ब्रह्म में भेद है। नाथस्वरूप निर्गुण, सगुण दोनों से अतीत है। नाथ लोग सभी देवताओं से शिव को उत्तम मानते हैं और शिव से भी उत्तम नाथ को। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह का कथन है कि गोरक्ष के अनुसार विश्वकर्तृत्व नाथ का नहीं है, शिव का है। शिव ही विश्वकर्ता हैं और नाथ निर्गुण निरुपाधिरूप हैं। अतः उनके लिए प्राकृतिक कार्य कारण का कोई महत्व नहीं है। विश्व के सृष्टिकर्ता सगुण सोपाधि शिव हैं।[3] सिद्धमत में परमतत्व को द्वैताद्वैतविवर्जित कहा गया है। यही सिद्धमत का वैशिष्ट्य है। यह विवर्जितत्व ही पूर्ण सत्य है। निर्गुण ब्रह्म और सिद्धों के नाथ में भेद-प्रभेद यह है कि नाथ अद्वैतोपरि और निराकारसाकारातीत हैं। इसी नाथ से निराकार ज्योतिर्नाथ और साकार नाथ का जन्म होता है। साकार नाथ से सदाशिव, भैरव और उनकी शक्ति भैरवी का जन्म होता है। नाथ सर्वविलक्षण अर्थात् 'यादृश एवं तादृश एव' हैं। उनकी कोई तुलना नहीं। वे ही महासिद्धों के लक्ष्य हैं।[4]

गोरक्षनाथ के दर्शन की उपर्युक्त रूपरेखा के विस्तृत रूप पर विचार करने के उपरान्त विद्वानों ने भारतीय दर्शनों के साथ उसके सम्बन्ध पर भी विचार किया है। इस

1. *ना० सं० द० सा० प्र०*, पृ० 228-229, *सिद्धसिद्धान्तसंग्रह*, पृ० 36-37, 6.9.
2. *वही*, पृ० 230-231.
3. *वही*, पृ० 254-259.
4. *वही*, पृ० 269, 271.

विचारक्रम में नाथसिद्धों की कुछ दार्शनिक विशेषताएँ भी बहुत स्पष्ट रूप में प्रकट हुई हैं। डॉ० द्विवेदी ने अपने गोरक्षसिद्धांत विवेचन के निष्कर्ष के रूप में यह स्पष्ट किया है कि परशिव की सिसृच्छा शक्ति ही जगत् का कारण है। इसी के कारण ही वे जगत् के रूप में बदलते हैं। सृष्टि प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं में उनका प्रसार होता जाता है। अतः इन क्रमों में जिन-जिन पिंडों का विकास होता जाता है, वे सभी सत्य हैं। इसी आधार पर नाथसिद्धों के परम महत्वपूर्ण सिद्धांत पिंडब्रह्मांडवाद की सिद्धि होती है जिसके अनुसार जो कुछ भी ब्रह्मांड में है उन सबकी पिंड में भी विद्यमानता स्वीकार की जाती है। यह नाथ मार्ग भी अद्वैतवादी है, किन्तु शांकराद्वैत से उसकी भिन्नता है। वस्तुतः नाथसिद्ध अपने को 'द्वैताद्वैतविलक्षणवादी' कहते हैं क्योंकि नाथ तत्त्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे हैं।[1] शांकराद्वैत का मूलाधार तो मायावाद है। वह ब्रह्म को तो चिद्रूप मानता है, किन्तु उसकी शक्ति माया को जड़स्वभावा मानता है। इस माया को ही वह जगत् का उपादान मानता है। इसीलिए यह समूचा जगत् उनके सिद्धांतानुसार जड़ है।[2] द्विवेदीजी के इन कथनों का एक साथ विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ मत अद्वैतवादी तो है, किन्तु विविध द्वैतवादी एवं अद्वैतवादी मतों से अपना भेदनिरूपण करने के लिए वह अपने को 'द्वैताद्वैतविलक्षणवादी' घोषित करता है। दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि यह नाथमत जगत् को एवं साथ ही पिंड को भी मिथ्या नहीं मानता, तत्त्वतः सत्य मानता है अर्थात् शांकर मायावाद इसे स्वीकार नहीं है। वह इसे भी चिद्रूप में देखता है।

डॉ० कल्याणी मल्लिक ने अपने शोधप्रबन्ध में त्रिक्मत के साथ नाथमत के साम्य पर विचार कर बताया है कि त्रिक्मत में शिव लीला या औत्सुक्य के कारण सृष्टि करते हैं। इसीलिए इस मत में इच्छाशक्ति की कल्पना की गई है। नाथमत में भी शिव और शक्ति अभिन्न हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में जिस प्रकार चित्स्वरूप परमेश्वर विद्यमान हैं उसी प्रकार उनके साथ चित्शक्ति भी सदैव युक्त रहती है। इसी शक्ति की व्यक्त अवस्था में जगत् का उद्भव होता है तथा उसकी निष्क्रिय अवस्था में इसका लय होता है। इस प्रकार शक्तियुक्त शिव ही सृष्टि के आदि कारण हैं। वे सत् हैं, सभी चैतन्यों के आधार हैं और चित्शक्ति ही उनकी कला है। इसीलिए वे सकल परमेश्वर कहे जाते हैं। यह शक्ति इच्छारूपिणी हैं। महाप्रलय के उपरान्त पुनर्विकास की इच्छा ही शक्ति के नाम से ख्यात है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि इस विषय में काश्मीर शैव त्रिक्मत और नाथमत में पूर्णतया ऐक्य है और दोनों ही शांकर मायावाद को अस्वीकार करते हैं, यद्यपि दोनों ही अद्वैतवादी हैं।

1. *नाथ संप्रदाय, डॉ० द्विवेदी, पृ० 110-111, 'ब्रह्माण्डवर्तियत् किञ्चित् तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा—सि० सि० सं०* 3/2.
2. *वही,* पृ० 111-112.
3. *ना० सं० इ० द० सा० प्र०,* पृ० 197.

आचार्य अक्षयकुमार वंद्योपाध्याय ने गोरक्षनाथ के द्वैताद्वैतविलक्षणवाद की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि वे द्वैत, अद्वैत तथा अन्य समस्त तत्कोटीय वाद-विवाद को आध्यात्मिक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं, किन्तु दार्शनिक दृष्टया वे अपने सिद्धांत को द्वैताद्वैतविलक्षणवाद कहते हैं। यद्यपि वे परम सत्ता के अद्वैतत्व को पूर्णतया स्वीकार करते हैं। ''उन्होंने शंकर के मायावाद के स्थान पर शक्तिवाद का प्रचार किया।''[1] इस शक्तिवाद की यत्किंचित् व्याख्या ऊपर के विचारों से हो जाती है। यह शक्तिवाद योगी संप्रदायों के साथ ही तांत्रिक संप्रदायों द्वारा भी प्रचारित है। दूसरे शब्दों में प्रकारांतर से इसे पूर्णरूप में शिवशक्तिवाद अथवा ब्रह्मशक्तिवाद भी कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से ''ब्रह्म स्वयं को शाश्वत रूप से अद्वैत तथा विभिन्न द्वैत रूपों में भी प्रकट करनेवाला है। वह दो में एक और एक में दो है। परमात्मा का सक्रिय पक्ष उनकी शक्ति द्वारा प्रदर्शित होता है, जिससे वह स्वयं को इस व्यावहारिक जगत् व्यवस्था के रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है। उनकी शक्ति जगत् की दिव्य जननी है और वे दिव्य पिता हैं। परमात्मा स्वयं को इन द्वैत रूपों में प्रकट करते हैं।''[2]

नाथों के अध्यात्म दर्शन की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखकर महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने भविष्यत् अनुसंधित्सुओं के लिए उचित ही निर्देश किया है। उनके निष्कर्षों को निम्नलिखित बिन्दुओं में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. गोरक्ष संप्रदाय में स्वीकृत योगसाधना का चरम आदर्श पतंजलि के पूर्व या परवर्ती कुछ बौद्ध मतों से भिन्न है।
2. वह शांकर वेदांत की धारणाओं से मूलतः भिन्न है।
3. नाथ मत का सैद्धान्तिक आदर्श प्राचीन व मध्यकालीन भारत के अद्वैतवादी आगम मतों के अनुरूप ही है।
4. इस आदर्श को एक शब्द में ''सामरस्य'' कहा जा सकता है जिसका तात्पर्य है—समस्त भेदात्मक स्थितियों से ऊपर उठकर समरस हो जाना।
5. समरसता की यह उपलब्धिप्रक्रिया, सांख्य दर्शन की परात्परता तथा वेदांतिक मायावाद की उदात्तता, दोनों से भिन्न है। उसे एक पारस्परिक आभ्यंतर प्रवेश कह सकते हैं।
6. इस आदर्श का अंतर्निहित सिद्धांत है, पुरुष और प्रकृति अथवा शिव शक्ति के बीच एकत्व प्रतिपादन। इस स्थिति की चेतना परम शिव की परम एकता के रूप में मान्य हो सकती है। इस स्थिति में शिव और शक्ति दोनों समरस होकर एक अभिन्न एवं अविभाज्य तत्त्व बन जाते हैं।[3]

---

1. *गोरख दर्शन,* पृ० 285.
2. *वही,* पृ० 289–290.
3. *वही, प्रस्तावना, म० म० गोपीनाथ कविराज,* पृ०1–2.

इस प्रकार इन विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्षनाथ दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवादी हैं, किन्तु अपने मत के वैलक्षण्य की दृष्टि से वे द्वैताद्वैतविलक्षणवादी हैं। इतना ही नहीं, वे मायावादी नहीं हैं और जगत् को भी चित्शक्ति की अभिव्यक्ति मानते हैं। यदि काश्मीर शैवमत से इस नाथमत का इस प्रकार का साम्य है तो ऐसी स्थिति में गोरक्षमत पर ईश्वराद्वैतवादी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है तथा साथ ही त्रिक् दर्शन की दार्शनिक दृष्टि 'आभासवाद' का भी गोरक्षमत में परीक्षण किया जा सकता है।

गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में भी उक्त दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रसार दिखाई पड़ता है। डॉ० एस० पी० चंदोला ने नाथदर्शन पर विचार करते हुए निष्कर्ष रूप में अपना यह मत व्यक्त किया है कि हिन्दी नाथ साहित्य में प्रतिपादित सिद्धान्त संस्कृत नाथ ग्रंथों में वर्णित सिद्धान्तों से भिन्न नहीं हैं। नामावली में कहीं अंतर आ गया है, और वर्णन में संक्षिप्तता।[1] गोरक्षनाथ के तत्वविज्ञान का विवरण डॉ० चंदोला ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति और हिन्दी रचना 'गोरष गणेस गुष्ठि' के आधार पर की है।[2] हिन्दी रचना के विवरण से ज्ञात होता है कि तत्वों के नामों में बहुत अधिक अन्तर है। डॉ० चंदोला ने यद्यपि नाथदर्शन और अद्वैत (शांकरवेदांत) दर्शन का तुलनात्मक विवेचन किया है,[3] किन्तु उन्होंने त्रिक् दर्शन अथवा काश्मीर शैव दर्शन से उसका सम्बन्धनिरूपण नहीं किया।

●

1. *नाथ पंथ,* पृ० 110.
2. *वही,* पृ० 112–121.
3. *वही,* पृ० 127–130.

दसवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ की साधना

नाथयोग का तांत्रिक योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाथयोगी शैव थे, इसके सम्बन्ध में हम विस्तार से पहले ही विचार कर चुके हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में यद्यपि ये पाशुपत शैव माने जाते हैं तथापि आगमिक शैवों से संबद्ध होने के पक्ष में अधिक विश्वासयोग्य प्रमाणों की बहुलता है। इसके प्रमाण में तंत्रालोक में अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा मच्छंदविभु का किया हुआ स्तवन उद्धृत किया जाता है। आगमिक शैवों में अभिनवगुप्त की महत्ता सर्वमान्य है। उन आगमिक शैवों में तांत्रिक साधना प्रचलित थी तथा साथ ही अभिनवगुप्त ने स्वयं तंत्रालोक जैसे बृहद् ग्रंथ की रचना की थी। नाथों में शिवपत्नी शक्ति या गौरी की पूजा प्रचलित है। इसलिए योगियों को कुछ लोग शाक्त मानते हैं। योनि लिंग की पूजा भी उनमें प्रचलित है। तंत्रों में ये दोनों शक्ति और शिव के प्रतीक हैं। योगियों में शाक्तों के दक्षिण और वाम, दोनों मार्गों का प्रवाह मिलता है। पहाड़ी प्रदेशों के योगी तांत्रिक क्रियाएँ करते हैं।[1] साधन की दृष्टि से योगियों ने आसन को भी महत्व दिया है। उनके मुद्रा और बंध में भी आसन के तत्त्व मिलते हैं। इनका सम्बन्ध प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों से भी जोड़ा गया है। योगियों के विभिन्न आसनों से भिन्न तांत्रिकों के कुछ आसन हैं जिनमें मुंडासन, चितासन, शवासन आदि की गणना की जा सकती है। सम्भवत: ये नाथयोगियों में स्वीकृत नहीं हैं। ब्रिग्स का मत है कि 12वीं ई० शताब्दी के गोरक्षरचित गोरक्षशतक के उपदेशों में योग और तंत्र का मिश्रण है।[2]

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार पहले शैवों के अपने सिद्धान्तों के अनुसार योगसाधन का विकास हुआ। उन क्रियाओं का एक विकास मंत्रयोग के रूप में तथा दूसरा विकास, दूसरी दिशा में, हठयोग के रूप में हुआ। इस दूसरे विकास में प्राणनियमन को प्रधानता दी गई तथा शरीर के अंगों के नियंत्रण के विभिन्न अभ्यास भी उसमें सम्मिलित किए गए। मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि ने, उनके मत से, तांत्रिक पूजा-उपासना-साधन के विकास को प्रभावित किया है।[3] योगियों का अपना विशेष् हठयोग है। इस साधन में आसन, मुद्रा, बंध, वेध, प्राणायाम, धौति, चक्र, नाड़ी, कुंडलिनी आदि से संबंधित अभ्यास गृहीत है। ये साधन अत्यधिक विस्तृत रूप में तांत्रिक ग्रंथों में वर्णित मिलते हैं। गोरखनाथियों के उपदेश में तांत्रिक तत्त्व प्रधान है। आसाम और

1. *गो० क० यो०, ब्रिग्स,* पृ० 162-163, 171-172.
2. *वही,* पृ० 257, 327.
3. *वही,* पृ० 272 *पर उद्धृत.*

बंगाल के नाथयोगियों में शक्ति या शिवपत्नी की पूजा तांत्रिक विधान से होती है।[1] म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज इस तथ्य को प्रकारांतर से स्पष्टतया घोषित करते हुए कहते हैं कि अभिनवगुप्त शाक्तसाधन के प्राण थे। वे एक प्रसिद्ध कौल भी थे। उनका 'तंत्रालोक' वस्तुतः शैव और शाक्त दर्शन का विश्वकोशतुल्य ग्रंथ है। अभिनवगुप्त के बाद दूसरे महत्वपूर्ण नाम हैं—गोरक्ष, पुण्यानंद, नटनानंद, स्वतंत्रानंद और भास्कर राय। गोरक्षनाथ, जिन्हें महेश्वरानंद भी कहा जाता है, महार्थमंजरी के लेखक थे। वे अभिनवगुप्त के संप्रदाय के अति घनिष्ठ अनुयायी थे।[2]

इस तांत्रिक साधना के प्रभाव की पुष्टि नाथयोगियों एवं गोरक्षनाथ के प्रमाण ग्रंथों से होती है। अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए गोरक्षसिद्धान्त-संग्रहकार ने विभिन्न तांत्रिक ग्रंथों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। इसके अनुसार योगसाधन तथा योगी दोनों ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इसकी पुष्टि में उसने तंत्रमहार्णव को उद्धृत कर बताया है कि योगी ब्रह्मा, विष्णु तथा देवदेव महेश हैं। वही पूर्ण मोक्ष है। वही सृष्टिकर्ता और हर्ता है।[3] नाथपद की महत्ता के निर्वचन और व्याख्या में गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह ने शक्तिसंगमतंत्र की सहायता ली है।[4] शाबरतंत्र ने नवनाथों की नामगणना की है।[5] नाथों के अनुसार सभी शैव शाक्त मार्ग तंत्रानुसारी हैं। तंत्रों के भी उपदेष्टा नाथ ही हैं। नाथ ने तंत्रों की रचना की है। इसकी पुष्टि षोडशनित्यातंत्र को उद्धृत कर की गई है। कहा गया है कि तंत्रों की कल्पना नवनाथों ने की है। इसी प्रकार षट्शांभवरहस्य को उद्धृत कर बताया गया है कि तांत्रिक अनुष्ठानों का भी फल योग ही है। अन्तर यह है कि तांत्रिकों का अनुष्ठान बहिरंग होता है। इसके पश्चात् वे अवधूत पद को प्राप्त करने के लिए योगियों के अंतरंगपूजन या सूक्ष्म शक्ति कुंडलिनी की पूजा करते हैं। इस प्रकार तांत्रिकों का भी तात्पर्य अवधूत पद बतलाया गया है।[6] नाथमत के अनुसार सभी लोग सांसारिकी प्रक्रिया को मानते हैं। नाथमत पारमार्थिकी प्रक्रिया को मानता है। यह प्रक्रिया तंत्रानुमोदित है। पुराणों के अनुसार लोग ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की प्रक्रिया या क्रम को स्वीकार करते हैं, किन्तु तंत्रों के अनुसार शिव, भैरव, श्रीकंठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा के क्रम को स्वीकार किया जाता है। यही योगसंप्रदाय की भी रीति है। यह पारमार्थिकी प्रक्रिया योग से ही आई है। सबका कारण योग ही है।[7]

---

1. *गो० क० यो०, ब्रिग्स,* पृ० 274.
2. *हिस्ट्री ऑव फिलासफी : ईस्टर्न ऐंड वेस्टर्न, वा० 1, डॉ० राधाकृष्णन्, 'शैव शाक्त स्कूल—शाक्त फिलॉसफी'—ले० डॉ० गोपीनाथ कविराज,* पृ० 403-404.
3. *गो० सि० सं०,* पृ० 9.
4. *वही,* पृ० 11.
5. *वही,* पृ० 18.
6. *वही,* पृ० 19-20.
7. *हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी : ईस्टर्न ऐंड वेस्टर्न, वा 1, डॉ० कविराज का लेख,* पृ० 58-59.

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि नाथ मत शैव है और तंत्रप्रभावित है। इसके और भी प्रमाण दिए जा सकते हैं। तंत्र के पिंड और ब्रह्माण्ड के एकत्व की अनुभूति का साधन तथा शक्तिपूजा नाथों में प्रचलित थी। शारदातिलक नामक प्रसिद्ध तंत्र ग्रंथ में यंत्र, मंत्र, चक्र, कुंडली और पाशुपत मत का वर्णन पाया जाता है। मुक्ति का प्रथम तत्त्व 'प्रसाद' है। इसे नाथ और शैवाद्वैत मत में 'शक्तिपात' कहा जाता है। तंत्रों में दिव्य साधक को कौल कहा जाता है। कौल के लिए लाभ-हानि, पाप-पुण्य समान है। विष से विषक्षय करने का उनका सिद्धान्त है। इस मार्ग को वे लोग अति दुर्गम मानते हैं। इसी मार्ग का अवलम्बन कर वे शिवत्व का लाभ करते हैं। यह कौल नीति नाथनीति है क्योंकि नाथ लोगों को कौल नाम से भी पुकारा जाता है।[1] इस सम्पूर्ण विवरण से यही सिद्ध होता है कि नाथों का तंत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध था और यह सम्बन्ध सैद्धान्तिक ही नहीं, साधनात्मक भी था।

आगे नाथों और विशेषकर गोरक्षनाथ की साधना का स्वरूप संक्षेपतः प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे उपर्युक्त विवेचन की और पुष्टि हो सकेगी।

नाथदर्शन के अनुसार जीवन्मुक्ति की ही अवस्था आदर्श अवस्था है। देहपात में जो मुक्ति होती है, उसे यथार्थ मुक्ति नहीं कहा गया है। कारण यह है कि यह मुक्ति देहपातरूप प्रतिबंधक द्वारा बाधित है। नाथ गण कहते हैं कि जिस देह से परमपदप्राप्ति होती है, उसी देह की रक्षा, अजर-अमर करना कर्तव्य है। विदेह मुक्ति में इस देह का ही त्याग हो जाता है। 'योगबीज' में कहा गया है —

अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि।

जीवन्मुक्ति योग में दैहिक परिवर्तन साधित होता है। इस सिद्धदेह का लाभ होने पर भी योगी के लिए इच्छामृत्युवरण संभव हो जाता है। वेदांत का आत्मसाक्षात्कार नाथमार्ग की परमपद प्राप्ति है, किन्तु साथ ही नाथ लोग उस देह को ही स्थायी करने के लिए सचेष्ट हैं। योग से सिद्धयोगी प्रारब्ध का क्षय करता है। तत्पश्चात् देह को रखे या न रखे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। सिद्धमत में देह ही आत्मा है। विक्षेप के दूर न होने पर शुद्ध देहलाभ नहीं होता। शक्तियुक्त चैतन्य को सिद्ध लोग स्वीकार करते हैं। उसको जीतकर विशेष रूप से अज्ञान को दूर कर मुक्तिलाभ होता है। योगी चैतन्यशक्ति का जय करके कालजयी होता है। योगी का शरीर ही योगदेह है। सिद्धमत है कि जो मृत्यु को प्राप्त करता है, वह मुक्त नहीं है। परामुक्त का देहपात नहीं होता।[2] नाथमत में मोक्ष वह अवस्था मानी गयी है जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[3] नाथयोगी का लक्ष्य होता है ऐसे शरीर की

1. *ना० सं० इ० द० सा० प्र०,* पृ० 164-165.
2. *वही,* पृ० 292, 293, 296-297, 301, 303.
3. *अमरौघशासनम्,* पृ० 9.

प्राप्ति जिसका पतन न हो, जिसके बाहर प्राण न जाता हो। इनका लक्ष्य वह अवस्था है जिसमें शरीर भी ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। शरीर चिन्मय हो जाता है और फिर अनन्यता की प्राप्ति होती है। यह पिंडसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। इस प्रकार संक्षेप में नाथों का लक्ष्य है जीवन्मुक्तियुक्त सिद्ध देह से नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण।[1] महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज ने नाथों के जीवन्मुक्तिक्रम का इस प्रकार व्याख्यान किया है—"इस मत के अनुसार सद्‌गुरु की कृपा से चित्तविश्रांति-लाभ सबसे पहले होना चाहिए, क्योंकि बिना उसके सामरस्यप्राप्ति नहीं हो सकती। जबतक चित्त देहात्मबोधमूलक क्षोभ से मुक्त न हो, तब तक इसमें शांति नहीं होती और यथार्थ साधना का प्रारम्भ नहीं होता। चित्त विश्रांति से स्वभावतः भगवदानंद और अनंत ज्योतियों का आविर्भाव होता है। इस अद्वय प्रकाश से द्वैत भाव निवृत्त हो जाता है। इसके बाद चित् शक्ति का प्रकाश होता है और योगी निज देह के पूर्णज्ञान को प्राप्त करता है। इसका फल है देह सिद्धि या पिंडसिद्धि। इसका नामांतर है देह का अमरत्व। इसे नामांतर से सिद्ध अवस्था कह सकते हैं। परन्तु अभी भी जो यथार्थ अंतिम लक्ष्य है, वह दूर है। इस समय योगी की देह ज्योतिर्मय आकार को लेकर प्रकाशमान होती है। यह चैतन्य की सारभूत सत्ता है। परमपद के नित्य सिद्ध प्रकाश के साथ इस प्रकाशमय आकार का एकत्व-संपादन....सुदीर्घकाल तक आत्मा के स्वरूपानुसंधान में तल्लीन रहने से हो सकता है। यही सामरस्य है।....सामरस्य और निरुत्थान दशा, दोनों के अंतराल में कुछ अवस्थाओं का पता चलता है। पूर्ण स्वातंत्र्य से समन्वित आत्मा का स्फुरण निरुत्थान दशा के नाम से प्रसिद्ध है।....नाथयोगियों का लक्ष्य यह है कि पहले पिंडसिद्धि के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो। इस समय में कालवंचन सिद्ध होता है। अर्थात् काल के प्रभाव से योगी मुक्त हो जाता है। इसके अनंतर समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति की सिद्धि होती है। प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि पिंडसिद्धि या जीवन्मुक्ति के अनंतर ओंकारसाधना के द्वारा परामुक्ति का आविर्भाव होता है।"[2]

नाथमार्ग का परमपद 'नाथ' है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रहकार ने 'नाथस्वरूपेणा-वस्थानम्' को ही लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। नाथ के सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है कि प्रसार और संकोच का जो आदि अंत है, वहीं साम्यावस्था है, वही निराभास है, वही शिवावस्था है। यह समरसावस्था ही अद्वयावस्था है और यही समाधि की स्थिति है। इस प्रकार समरस और अद्वय रूप में अवस्थान ही नाथस्वरूप से अवस्थान है।[3] इस समरसीकरण के लिए, गुरुकृपा से पिंडसंवित्ति के लिए शुद्ध या दिव्यदेह की आवश्यकता

1. *नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय,* पृ० 273.
2. *वही, प्राक्कथन, म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज,* पृ० 5-6.
3. *सि० सि० अ० व० ना० यो०, इंट्रो०,* पृ० 21.

है। बिना गुरु-कृपा और शुद्ध देह के इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए गोरक्ष के साधनमार्ग में यह कायसिद्धि आवश्यक मानी गयी है, जिसका लक्ष्य समरसीकरण है।[1] नाथमतानुसार मोक्ष वह अवस्था है, जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को आगे जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[2] इसी प्रकार इस जीवन्मुक्ति के लिए कायसिद्धि और कायसिद्धि के लिए पिंडज्ञान आवश्यक है। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार योगी को पिंडगत नवचक्र, षोडशाधार, तीन लक्ष्य, पंचव्योम अवश्य जानना चाहिए। अन्यत्र गोरक्ष ने कहा है कि जो योगी पिंडगत एक स्तंभ, नव द्वार, पंचदेवता आदि को नहीं जानता, वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। तत्वविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्माण्ड का जो समतुल्य और विकासात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है, उसका यही प्रयोजन है।

उपर्युक्त समरसीकरण के लिए 'योगबीज' योगरहित ज्ञान और ज्ञानरहित योग की निरर्थकता बतलाते हुए योगयुक्त ज्ञान को ही मोक्षोपाय के रूप में स्वीकार करता है।[3] उपर्युक्त विवेचन से मिलान करने पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पिंडसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। अर्थात् नाथों का लक्ष्य जीवन्मुक्तियुक्त सिद्धदेह से नाथरूप से अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण है।[4]

परिपक्व देह या सिद्धदेह की प्राप्ति के लिए योग ही उपाय है। नाथयोगी हठयोग को प्रधान मानते हैं। हठयोग से राजयोग की सिद्धि होती है। हठयोग प्राणायामप्रधान है। मंत्रयोग, लययोग और राजयोग में भी प्राणायाम और हठयोग सहायक है। प्राण अधिभूत तत्व है। अतः इस दृष्टि से प्राणायाम या हठयोग आधिभौतिक साधन है। एक सफल ध्यानयोगी शरीर और स्वास्थ्य से क्षीण, दुर्बल, अल्पायु और रोगी हो सकता है। वह अपनी इच्छा से शरीर त्याग नहीं कर सकता। हठयोग की क्रियाओं से सिद्धदेह या परिपक्व देह की प्राप्ति होती है। मानस साधन के लिए ऐसा शरीर सर्वाधिक उपयुक्त और उचित माध्यम हो सकता है। ऐसे योगी की मृत्यु इच्छामृत्यु होती है। गोरक्षनाथादि ने हठयोग या उससे प्राप्त सिद्धियों को भी लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया।[5] हठयोगप्रदीपिका में स्पष्टतः कहा गया है कि राजयोग में आरूढ़ होने के लिये हठयोगविद्या का अभ्यास करना चाहिए।[6]

1. *नाथ और संत साहित्य*, पृ० 270-271.
2. *अमरौघशासनम्*, पृ० 9.
3. *सि० सि० प०*, 2.31; *गोरक्षसंहिता*, 1.13-14; *गोरक्षपद्धति*, 1.13-14.
4. *नाथ और संत साहित्य*, पृ० 272-273; *योगबीजम् श्लोक* 18-19.
5. *नाथयोग, अक्षयकुमार बनर्जी*, पृ० 19.
6. *हठयोगप्रदीपिका* 1.1.

इस योगाभ्यास के आरंभ के लिए नाथाचार्यों ने संयम का विधान किया है। घेरंडसंहिता की तरह ही स्वात्मारामरचित हठयोगप्रदीपिका में भी हठयोग का अभ्यास आरंभ करने के पूर्व आहार, अपथ्य, पथ्य, भोजन आदि से संबद्ध संयमों के पालन का उपदेश किया गया है। योगाभ्यास के प्रतिबंधकों के विवरण में अत्याहार, परिश्रम, प्रजल्पन (या बहुभाषण), यमग्रहण (स्नान, रात्रि में ही भोजनग्रहण, फलाहारादि का नियम ग्रहण) जनसंगम, चंचलता इन छह की गणना की गई है। योगसाधकों में उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय, जगसंगपरित्याग इन छह की गणना की गई है। बताया गया है कि यम में मिताहार मुख्य है तथा नियम में अहिंसा।[1] हठयोगप्रदीपिका के यमनियमसम्बन्धी श्लोक मूल श्लोकों में अंतर्गणित नहीं हैं। वे ही श्लोक थोड़े से अन्तर से तांत्रिक ग्रंथ 'शारदातिलक' में मिलते हैं।

हठयोग शब्द की विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं, जो इस प्रकार हैं—

ह	+	ठ	+	योग	=	सूर्य	+	चंद्र	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	प्राण	+	अपान	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	दक्षिण	+	वाम	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	यमुना	+	गंगा	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	पिंगला	+	इड़ा	+	योग
ह	+	ठ	+	योग	=	रजस्	+	रेतस्	+	योग ।[2]

गोरक्षनाथ का योग षडंग है। अर्थात् इसमें आसन के बाद के पंतजलि के 6 अंग स्वीकृत हैं। यम-नियम को सामान्यतया अनिवार्य समझकर छोड़ दिया है। आसनस्थैर्य के बाद प्राणायाम के अभ्यास का विधान है। इस प्राणायाम का नाड़ी-शोधन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार प्राणायाम प्राण की स्थिरता है। रेचक, पूरक, कुंभक और संघट्टीकरण इसके चार लक्षण हैं।[3] बताया गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से यदि पवन को गगन में प्रेरित किया जाय तो घंटा- वाद्यादिकों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं तथा सिद्धि की प्राप्ति की संभावना होती है।[4] इस प्रकार प्राणायामाभ्यास में अग्रसर होने पर उसका सम्बन्ध नादानुसंधान से भी सिद्ध होता है। इस प्रकार आसन और प्राणायाम के पूर्णाभ्यास से सम्पन्न होकर धारणा का अभ्यास करने का विधान किया गया

---

1. *हठयोगप्रदीपिका, 1.57-63, 1.15, 16, 1.38, 40. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—नाथ और संत साहित्य* पृ० 275-277.
2. *हठयोगप्रदीपिका, 1.1 तथा उसकी टीका, वही 3.15 तथा उसकी टीका, योगबीजम् 1.83-90, नाथ संप्रदाय, पृ० 103.*
3. *सि० सि०* प०, 2.35.
4. *गो० सं०, 2.18-20; योगमार्तण्ड, 108.*

है।[1] गोरक्षसंहिता, योगबीज आदि ग्रंथों में प्राणायाम के साथ मुद्रा, बंध, वेध का भी वर्णन संबद्ध भाव से वर्णित है। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि प्राणायाम की तुलना में इन्हें अधिक महत्व नहीं दिया गया है। प्राणायाम से ओंकारसाधन भी संबद्ध है। ओंकारसाधन और अजपाजप दोनों ही प्राणायाम में अंतर्भूत हैं। 'ओंकार' की विस्तृत प्रतीकात्मक व्याख्या गोरक्षग्रंथों में उपलब्ध है। गोरक्षादि सिद्धाचार्य इस प्रणव को वेद का सार नहीं, वेद ही मानते हैं। इसी को शिवशक्तिसाधन भी कहा गया है। ओंकार को आदिनाथ कहा गया है। यह अनाहत और अखंड है। इसका अनुसंधान ही नादानुसंधान है। अंतस् में इसकी सत्ता ही ब्रह्म की अंतस् में सत्ता है। उसे नादब्रह्म कहते हैं। इसका अनुसंधान ब्रह्मानुसंधान है।[2]

सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार चैतन्य तरंगों का प्रत्याहरण, नाना प्रकार के विकारों से चित्त के ग्रस्त हो जाने के कारण उत्पन्न विकारों से भी निवृत्ति प्रत्याहार का लक्षण है। गोरक्षसंहिता में चक्षु आदि के अपने विषयों में विचरण से आहरण को प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार से योगी अपने मानस विकारों का मोचन करता है।[3] धारणा में बाह्य और अंतस् के एकमात्र निजतत्त्वस्वरूप का अंतःकरण से साधन किया जाता है। जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे निराकार में धारण—जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारण—ये धारणा के लक्षण हैं। इससे मानसस्थैर्य की प्राप्ति बतायी गयी है। हृदय में पंचभूतों के पृथक् धारण तथा मानस के निश्चलत्व के धारण के कारण ही इसे धारणा कहते हैं। भूत तत्त्वों के अनुसार ही यह धारणा भी पाँच प्रकार की मानी जाती है। इन धारणाओं के बाद सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार चित्त का निराकार निजतत्व में एकत्व तथा आत्मा का निर्वातदीपत्व सिद्ध होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि कुंडलिनीयोग की साधना धारणांतर्गत है। इस कुंडलिनीयोग से ही लययोग, भूतजय, भूतलय, भूतशुद्धि, षट्चक्रभेद आदि संबद्ध हैं। कुंडलिनी का मूलाधार से सहस्रार तक की यात्रा को पृथिवी से आकाश तक की यात्रा कहा गया है। यह आध्यात्मिक यात्रा है। यह साधन आध्यात्मिक साधन है। इस कुंडलिनी को षोडशी तथा उसकी साधना को षोडशीसाधना कहा गया है। पिंड-ब्रह्माण्ड-एकत्व का सिद्धान्त इस साधन का ही सिद्धान्त पक्ष है। गोरक्षमत के मान्य चक्रों की कुछ निश्चित संख्या नहीं बतायी जा सकती। फिर भी तांत्रिकों के कुल सात चक्र अधिकांशतः और सामान्यतः स्वीकृत हैं।[4]

सिद्धसिद्धांतपद्धति में कहा गया है कि ध्यान परमाद्वैतभाव है। जिन-जिन तत्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है, आत्मा उनकी अपने ही स्वरूप के अनुसार भावना करती है।

---

1. *गोरक्षसंहिता, 2.21, 52.*
2. *नाथ और संत साहित्य,* पृ० 283-288.
3. *सि० सि० प०,* 2.36; गो० सं० 2.23-31; योगमार्तण्ड, 113-119.
4. *नाथ और संत साहित्य, पृ० 288-296.*

इस प्रकार ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है। इस ध्यान साधना में चित्त पूर्णरूप से निश्चल रहता है। सगुण और निर्गुण नामक दो प्रकार के ध्यान बताए गए हैं। सगुण ध्यान विभिन्न वर्णों (रंगों) वाला होता है तथा निर्गुण ध्यान केवल ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक। स्थूल और सूक्ष्म भेद से भी ध्यान दो प्रकार का होता है। स्थूल ध्यान के बाद तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान का वर्णन किया गया है।[1] समाधि में सभी तत्वों की सम अवस्था रहती है, निरुद्यमत्व और अनायास की स्थिति रहती है। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है जिसमें शुभ-अशुभ कार्यों का त्याग हो जाता है, विश्वतोमुख अनंत परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। जब प्राण सम्यक् प्रकार से क्षीण हो जाते हैं तथा मानस भी लय को प्राप्त हो जाता है, जब समरसत्व की प्राप्ति हो जाती है, तब कहा जाता है कि समाधि की अवस्था प्राप्त हो गयी। इस समय अपना पराया कुछ भी नहीं रहता। हठयोगप्रदीपिका में इस स्थिति के विभिन्न नाम बताए गए हैं—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। इन शब्दों की अलग अलग विस्तृत व्याख्याएँ मिलती हैं।[2]

इस प्रकार गोरक्ष के षडंगयोग के दो उद्देश्य बताए गए हैं। प्रथम गौण उद्देश्य है सिद्धदेह या दिव्यदेह की प्राप्ति या जीवन्मुक्ति। दूसरा मुख्य उद्देश्य है द्वैताद्वैतविवर्जित नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण। संस्कृतग्रंथों के आधार पर उपस्थित किए गए इस गोरक्ष योग में दो प्रधान साधन हैं—हठयोग और लययोग। इसी प्रकार दो कार्य हैं—बिंदुरक्षा और नादानुसंधान। गोरक्ष योगसाधना का मुख्य तत्व है प्राणायाम। दोनों कार्य इसी से साधित होते हैं। इसी आधार पर नाथ लोगों का यह भी कथन है कि यह स्थूल शरीर भी मुक्तिं प्राप्त करता है। सिद्धदेह की प्राप्ति के लिए अमृतसाधन भी नाथों को स्वीकार है। रस (पारद+अभ्रक) से सिद्धदेह की प्राप्ति की निन्दा गोरक्ष ने अपनी हिन्दी रचनाओं में की है, क्योंकि उससे वास्तविक स्थिर सिद्धदेह की प्राप्ति नहीं होती। गोरक्ष साधन में लोग वज्रोली, सहजोली आदि की भी गणना करते हैं। किन्तु सारी सामग्री की छानबीन करने पर ऐसा संगत प्रतीत नहीं होता कि गोरक्ष ने उनको अपने साधन में स्थान दिया होगा अथवा उनका प्रचार किया होगा।

इन साधनों के सम्बन्ध में कुछ और व्याख्या अपेक्षित है। गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग अथवा प्राणायामसम्पन्न साधना का उपदेश दिया है, उसके अनेक आयाम हैं। प्राणायाम के चार लक्षण बतलाए गए हैं—रेचक, पूरक, कुंभक और संघट्टकरण।[3]

1. *सि० सि० प०*—2.38; *योगमार्तण्ड,* 102, 157; *गो० प०,* 2.65-75, *योगमार्तण्ड,* 156-169; *घेरण्डसंहिता,* 6.2-22.
2. *नाथ और संत साहित्य,* पृ० 297-298.
3. *सि० सि० प०, 2.35.*

प्राण और अपान के वशीभूत जीव ऊपर-नीचे दौड़ता है। वाम और दक्षिण मार्ग से चंचलता के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता। अपान प्राण को तथा प्राण अपान को आकृष्ट करता है। प्राण 'हंकार' के साथ बाहर जाता है तथा 'सकार' के उच्चारण के साथ पुनः वह प्रवेश करता है। 'हंस' 'हंस'—इस मंत्र का जप जीव सदैव करता रहता है।[1] रात और दिन मिलाकर कुल वह 21, 600 बार जप करता है। इसी को अजपा नाम की गायत्री कहते हैं, जो मोक्षयायिनी होती है।[2] कहा गया है कि प्राण और नाड़ी सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं के अभ्यास से नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। वायु के यथेष्ट धारण से अनल का प्रदीपन, नाद की अभिव्यक्ति तथा नाड़ी-शोधन के कार्य सम्पन्न होते हैं।[3] प्राणायाम के अभ्यास से यदि पवन को गगन में प्रेरित किया जाय तो घंटा, प्रकृष्ट वाद्यदिकों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे प्राणायाम के उचित अभ्यास से सर्वरोगक्षय होता है, उसी प्रकार अनुचित अभ्यास से सभी प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।[4] धारणा के अभ्यास के लिए भी इस प्राणायाम की उपयोगिता सर्वथा स्वीकार की गई है। इस प्राणायाम से मूलबंध, उड्डीयानबंध और जालंधरबंध नाम के तीन बंधों का भी सम्बन्ध है जिनमें प्राणाकर्षण की आवश्यकता बतलाई गई है।[5] बिंदुधारण एवं बिंदुस्थैर्य के लिए भी इस प्राणायाम की उपयोगिता है। इसके साथ अनेक नभोमुद्रा जैसी मुद्राओं के भी साधन का विधान है। इस प्रकार मुद्रा, बंध और वेध जैसी क्रियाओं से प्राणायाम का सघन सम्बन्ध है। गोरक्षसंहिता में महामुद्रा, नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा, योनिमुद्रा तथा उड्डीयानबंध, जालंधरबंध और मूलबंध का वर्णन किया गया है।[6] इस प्राणायाम में ओंकार-साधन और अजपाजाप दोनों की अंतर्भूत हैं।

प्रत्याहार का गोरक्षनाथ ने अपने ग्रंथों में कई स्थलों पर विवेचन किया है। गोरक्षसंहिता के अनुसार चक्षु आदि का अपने विषयों में विचरण से आहरण प्रत्याहार है।[7] षडंग योग में चतुर्थ अंग धारणा हैं। हृदय में पंचभूतों के पृथक्-पृथक् धारण तथा मानस के निश्चलत्व के धारण के कारण ही इसे धारणा कहते है। इसीलिए पंचभूतों के कारण ही यह धारणा पाँच प्रकार की मानी जाती है।[8] तांत्रिक योग के अनुसार इस धारणा से ही कुंडलिनीयोग या षट्चक्रभेद या लययोग का सम्बन्ध बतलाया गया है।

1. *गो० सं०, 1.38-42; योगमार्तण्ड (सि० सि० प० अ० व०), 27-31.*
2. *यो० मा०, 32-33.*
3. *गो० सं०*, 1.96-100, *यो० मा०*, 84-89.
4. *गो० सं०* 2.18-20; *यो० मा०*, 108.
5. *योगबीज*, 115, 118, 119, 121.
6. *गो० सं०*, 1.57-71, 1.77-78, 79-82; *यो० मा०*, 59-64.
7. *गो० सं०*, 2.23-31; *यो० मा०*, 113-119.
8. *गो० सं०, 2.52-58; यो० मा०, 141-154.*

शब्दब्रह्म कुंडलिनी के शरीर में पंचभूतों का लय होने के कारण तथा अंततः सहस्रार में परम शिव से लय प्राप्त होने के कारण ही इसे लययोग कहा जाता है। कुंडलिनीसाधन भूतलय और भूतजय दोनों है। पहले कहा जा चुका है कि कुंडलिनी की मूलाधार से सहस्रार तक की यात्रा आध्यात्मिक यात्रा है। इसी प्रकरण में षट्चक्रा का भी विचार किया जाता है। गोरक्षनाथ ने सिद्धसिद्धांतपद्धति में नौ चक्रों का क्रमशः उल्लेख किया है—ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठान् नाभिचक्र, हृदयचक्र, कंठचक्र, तालुचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरंध्र, निर्वाणचक्र और आकाशचक्र। अंतिम षोडशदल आकाशचक्र में पूर्णगिरिपीठ की स्थिति मानी गई है।[1] गोरक्षनाथ ने यद्यपि गोरक्षसंहिता और योगमार्तण्ड में भी चक्रों का वर्णन किया है, किन्तु वे अधिक स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी, 'संहिता' के अनुसार सहस्रार सहित सात चक्र स्वीकृत मालूम पड़ते हैं। वे हैं—आधार (4 दल), स्वाधिष्ठान (6 दल), नाभिचक्र (10 दल), हृदयचक्र (12 दल), कंठस्थचक्र (16 दल) तथा भ्रूमध्यचक्र (2 दल)। सहस्रदल कमल विख्यात ब्रह्मरंध्र महापथ है।[2] म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज ने एक चित्र तथा विराट पुराण के एक हस्तलेख के आधार पर नाथसंप्रदायानुमोदित चक्रों का वर्णन किया है। कुल चक्रों की गणना करने पर उनकी संख्या 25 से भी अधिक हो जाती है। कविराजजी ने प्रारम्भ में ही बतलाया है कि चक्रों का यह विवरण हठयोगमत और तंत्र दोनों से भिन्न है। उनका कथन है कि ललितासहस्रनाम के भास्करराय रचित भाष्य में दिए गए विवरण के अनुसार चक्रों की संख्या 32 है। योगी के अनुभववैभिन्य के कारण भी चक्रों की संख्या, विवरण आदि में भिन्नता आ सकती है।[3] अतः स्पष्टतः गोरक्षनाथ के अनुसार भी चक्रों की संख्या में भिन्नता है।

कुंडलिनी भी तीन प्रकार की बताई गई है—ऊर्ध्व, मध्य और अधः। कहा जाता है कि मध्यशक्ति के प्रबोधन से, अधःशक्ति के निकुंचन से तथा ऊर्ध्वशक्ति के निपात से परमपद की प्राप्ति होती है।[4] यथार्थतः शक्ति एक ही है, किन्तु प्रभेदमात्र से वह तीन रूपों में दिखाई पड़ती है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कंद के ऊपर आठ कुंडलों को धारण करनेवाली यह कुंडलिनी शक्ति निरामय ब्रह्मद्वार को जानेवाले मार्ग के रंध्र को सुखपूर्वक आच्छादित किए हुए प्रसुप्त रहती है। उसको

1. *सि० सि० प०, 2.1–9.*
2. *गो० सं० 1.15–16.*
3. *संस्कृत भवन स्टडीज़, वा० 2, पृ० 83–90 में म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज का 'द सिस्टम ऑव चक्रज़ एकॉर्डिंग टु गोरक्षनाथ' शीर्षक लेख।*
4. *अमरौघशासनम्*, पृ० 1—

ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च तथाधः शक्तिनिकुञ्चनात्।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम्॥

वह्नियोग से तथा मानस और महत् के सहकार से प्रबुद्ध किया जाता है। इस प्रकार प्रबुद्ध होकर, सूई के आकार को प्राप्त कर पद्मतंतुनिभा कुंडलिनी सुषुम्ना के मार्ग से उत्थित होती है।[1]

षडंग योग में तदुपरान्त ध्यान का क्रम है। ध्यान परमाद्वैतभाव है। आत्मा, जिन-जिन तत्त्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है, उनकी अपनी ही स्वरूप के अनुसार भावना करती है। इस प्रकार ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है।[2] इस ध्यान में चित्त पूर्णरूप से निश्चल ही रहता है। इसके सगुण और निर्गुण दो भेद बतलाए गए हैं। गोरक्षसंहिता में चक्रस्थानों को ध्यानयोग्य बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त ध्यान के स्थूल और सूक्ष्म भेद भी बताए गए हैं। क्रमशः स्थूल ध्यान के बाद सूक्ष्म ध्यान के अंतर्गत तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान का वर्णन किया गया है। ये भेद घेरंड संहिता में वर्णित मिलते हैं। गोरक्षपद्धति में तो सकल और निष्कल ध्यान का वर्णन मिलता है।[3] तदुपरान्त षडंग योग में समाधि का क्रम है। समाधि सम्बन्धी पूर्वोक्त विवरण के अतिरिक्त गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य ही सभी प्रकार के द्वंद्वों का ऐक्य है। इस अवस्था में रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की स्थिति सिद्ध योगी के लिए नहीं रहती। उस समय अपना-पराया कुछ भी नहीं रहता।[4] इस प्रकार गोरक्षमत के अनुसार संक्षेप में षडंग योग साधन की रूपरेखा बताई जा सकती है।

उपर्युक्त साधन के लिए गुरु की परम आवश्यकता है। इसीलिए गोरक्ष के साधनमार्ग में 'गुरु' को बहुत महत्व दिया गया है। परमपद में समरसीकरण, जो नाथों का चरम लक्ष्य है, गुरु की कृपा से ही होता है। गुरुचरणों में रत रहने से स्वसंवेद्य परमपद की सिद्धि संभव बतलायी गयी है। केवल इसी साधन से योगियों को पिंड के निरुत्थान का अनुभव होता है तथा उसके पश्चात् समरसीकरण की सिद्धि होती है।[5] सिद्धसिद्धांतपद्धति में कहा गया है कि सिद्धपुरुष अदैहिक साधनों का आश्रयण कर परमपद को प्राप्त करते हैं और इन साधनों में स्थिति गुरु के दृक्पात से होती है। इसलिए गुरु से बड़ा कोई नहीं है। वह अपनी करुणा के खड्गपात से पशु (साधक) के आठों प्रकार के पाशों का छेदन करता है। उसकी इस प्रकार की क्रिया से साधक सम्यक् आनंद में मग्न हो जाता है। उसकी यह कृपा विश्रांतिकारक होती है। स्वात्मगत विश्रांति के बिना पिंडपद का परमपद में समरसीकरण नहीं हो सकता। शास्त्र, अनुमान, तर्क आदि से भ्रांत

1. *गो० सं०, 1.42-51; यो० मा०, 31-40.*
2. *सि० सि० पं०, 2.38.*
3. *यो० मा०, 102; गो० प०, 2.65-75; यो० मा०, 156-169; घे० सं०, 6.2-22, गो० प० 2.62.*
4. *गो० सं०, 2.15; 16, 85-88; यो० मा०, 176-178. इन सभी साधनाओं के विस्तार के लिए द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक का 'नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन' नामक ग्रंथ।*
5. *नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० नागेंद्रनाथ उपाध्याय, पृ० 267; सि० सि० प० अ० ना० यो० : संपादक—डॉ० कल्याणी मल्लिक, सिद्धसिद्धांतपद्धति, 5.1-12.*

करनेवाला गुरु, गुरु नहीं। उपर्युक्त गुणधर्मों से समलंकृत गुरु को प्राप्त कर शिष्य जन्म और संसार-बंधन से मुक्त हो जाता तथा परानंदमय होकर निष्कल शिवत्व की उपलब्धि करता है।[1] प्रकृति के सभी विकारों का अवधूनन करनेवाला सिद्ध ही, अवधूत योगी ही, सद्गुरु का पद प्राप्त कर सकता है। सिद्धसिद्धांतपद्धति में सिद्ध योगी अवधूत को अत्याश्रमी, योगी, सिद्धयोगी, जितेंद्रिय आदि कहा गया है।[2] गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में षोडशनित्यातंत्र का उद्धरण देकर गुरु-रूप में शिव को नमस्कार किया गया है। गुरु की कृपा से स्वल्प कल्प मात्र से सहज सिद्धि प्राप्त होती है। इस गुरु को 36 लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए। अधिक तत्वों से गुरु कहा जाता है। गुरु से शिष्य के 4 लक्षण कम होते हैं अर्थात् उसमें 32 लक्षण आवश्यक माने गए हैं। इनसे कम लक्षणों से युक्त व्यक्ति को गुरु-रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए। 32 से कम लक्षणों से युक्त व्यक्ति को शिष्य भी नहीं बनाना चाहिए। इन 32 लक्षणों के लिए आठ परीक्षाएँ स्वीकार की गई हैं। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में वर्णित ये लक्षण अवधूत संप्रदाय के अनुसार बताए गए हैं।[3] संक्षेप में हम इसे 'गोरक्षनाथ का गुरुशिष्यवाद और अधिकार भेदभाव' कह सकते हैं।

गोरक्षनाथ के योगसाधन का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त पिंडब्रह्मांडवाद है। पिंडवर्णन नाथों तथा तांत्रिकों का प्रिय विषय है। हम कह चुके हैं कि नाथों के उपर्युक्त प्रथम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पिंडज्ञान आवश्यक है। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार जो व्यक्ति या योगी पिंड में सम्पूर्ण चराचर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे 'पिंडसंवित्ति' कहते हैं।[4] पिंड के अन्तर्गत जो कुछ भी है, वह सम्पूर्ण ब्रह्मांड का संक्षिप्त रूप या प्रतीक है। इसमें देवता, परमतत्त्व, पाताल, ब्रह्मांड, कलाएँ, वर्ण, उपवर्ण, द्वीप, समुद्र, खंड, पर्वत, उपपर्वत, नदियाँ, उपनदियाँ, कुल्य, उपकुल्य, नक्षत्र, राशियाँ, नवग्रह, तिथियाँ, तारामंडल, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रेत, कुलनाग, सनकादि मुनि, मातृशक्तियाँ, उग्र देवता, मेघ, तीर्थ, अनंत सिद्ध, चंद्र, सूर्य, वृक्ष-लता-गुल्म-तृण, कृमि-कीट-पतंग, सुख-दुःख, मुक्ति, शांति आदि सभी निवास करते हैं। इन सब वर्णनों का समाहार गोरक्षनाथ ने इस एक वाक्य में कर दिया है—'इस प्रकार सभी शरीरों में विश्वस्वरूप परमेश्वर चित्स्वरूपी परमात्मा अखंड स्वभाव से घट-घट में स्थित रहता है। इस प्रकार पिंडसंवित्ति होता है।[5] तांत्रिकों के समान ही, इस प्रकार गोरक्षसाधन भी पिंडब्रह्मांडवाद को स्वीकार करता है और इस साधन के लिए पिंड और ब्रह्मांड या व्यष्टि और समष्टि के ज्ञान के लिए इनके समरसत्व के

1. *सि० सि० अ० व० ना० यो० में सिद्धसिद्धांतपद्धति, 5.54-81.*
2. *वही, सिद्धसिद्धांतपद्धति : सम्पूर्ण षष्ठ उपदेश।*
3. *गो० सि० सं०,* पृ० 14, 31-32, 40, 45, 46, 56-57; *नाथ और संत साहित्य,* पृ० 268-70.
4. *सि० सि० प०,* 3.1.
5. *वही, 3.1.*

लिए गुरु के महत्व को भी पूर्णतया स्वीकार करता है। षट्चक्रसाधन, नाड़ीसाधन और नादानुसंधान से इस सिद्धान्त का विशेष सम्बन्ध है। चक्रों, नाड़ियों, वायुओं आदि का वर्णन वस्तुतः पिंडवर्णन है। इस वर्णन के विवरण में यद्यपि अनेक मत भिन्नता रखते हैं तथापि पिंड और ब्रह्मांड या व्यष्टि और समष्टि की एकता के विषय में सभी एकमत हैं। इस एकत्वसिद्धान्त का अनुभव कराने के लिए ही हठयोग से समन्वित कुंडलिनी योग या लययोग का अभ्यास आवश्यक है।'[1] इस प्रकार यह पिंडब्रह्मांडवाद योगसाधना के यावत् प्रकारों का मूलाधार तो है ही, साथ ही दूसरी ओर यह गोरक्षनाथ के अन्य विचारों का भी मुख्याधार है। इसी सिद्धान्त के आधार पर गोरक्षनाथ ने ब्राह्याचारों का खंडन तथा अंतस्साधना का मंडन किया है। सहजसाधना एवं सहजसिद्धि के साथ ही समदृष्टि ग्रहण, अहिंसाप्रचार आदि के लिए भी यही सिद्धान्त उत्तरदायी है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि गोरक्षसाधना के मूलबिंदु तीन हैं—1. हठयोग (प्राणायाम), 2. गुरुवाद, 3. पिंड ब्रह्मांडवाद।

गोरक्षनाथ की इस साधना के सम्बन्ध में अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहली महत्वपूर्ण बात तो यह है कि गोरक्षनाथ की योगसाधना और तांत्रिक योगसाधना में अत्यधिक समानता है। दोनों ही षट्कर्म, प्राणायाम, मुद्रा, आसन, लययोग, ध्यान, समाधि को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। गोरक्षनाथ ने बिंदुरक्षा और बिंदुस्थैर्य को महत्व दिया है। तंत्रों में भी बिंदु प्रयोग का साधनात्मक महत्व पंचमकारों के विभिन्न अर्थों में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः तांत्रिक बिंदुसाधन के सम्बन्ध में बहुत भ्रम फैला हुआ है और इसके रहस्य को कुछ ही लोग जानते हैं। गोरक्षमत में ऊर्ध्वरेतस् होना सिद्ध का एक लक्षण है। इस प्रकरण में वज्रोली, सहयोली, अमरौली आदि साधनाओं को देखकर गोरक्ष साधन पर अनेक प्रकार की शंकाएँ करते हैं और इन्हीं आधारों पर बौद्ध प्रभाव स्वीकार करते हैं, जिसका निराकरण अन्यत्र किया जा चुका है। अमरौघशासनम्, सिद्धसिद्धांतपद्धति, महार्थमंजरी जैसे ग्रंथों में वज्रोली, सहजोली जैसी साधनाओं का कोई संकेत नहीं मिलता। गोरक्षपद्धति में, जिसे श्री महीधरशर्मा ने गोरक्षसंहिता के मूलाधार पर संपादित करते हुए, हठयोगप्रदीपिका जैसे ग्रंथों के श्लोकों को बीच-बीच में उद्धृत किया है, इन साधनाओं का उल्लेख प्रथम शतक में मिलता है; किन्तु इनसे संबंधित श्लोक मूलग्रंथ के श्लोकों के क्रम में नहीं है और अन्य ग्रंथ से उद्धृत किए गए हैं। अतः इन श्लोकों को गोरक्षरचित नहीं माना जा सकता और न उनके आधार पर गोरक्षसाधना में इन्हें स्थान ही दिया जा सकता है। यदि कोई दुराग्रह ही करे तो इन साधनाओं में यह देखा जा सकता है कि इनमें मुख्य लक्ष्य बिंदुरक्षा और बिंदुस्थैर्य ही है, भोग नहीं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस तथ्य की ओर स्पष्टतः संकेत किया है। इस प्रकार

1. *इस विवरण से संबंधित विवेचन के लिए द्रष्टव्य—इं० तं० शा०—उडरफ,* पृ० 34-35, 42-57.

गोरक्षनाथ की साधना में ब्रह्मचर्यपालन, बिंदुरक्षा, संयम, हठयोग, राजयोग, पिंडब्रह्मांडवाद और गुरुवाद की महत्ता हैं। लक्ष्य की दृष्टि से पिंडसिद्धि और नाथस्वरूपेणावस्थानम् को स्वीकार किया जा सकता है। संक्षेप में उनके साधन को योगज्ञान अथवा योगयुक्त ज्ञान कहा जा सकता है।

●

ग्यारहवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाएँ

इसके पूर्व गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं का परिचय दिया जा चुका है। इन रचनाओं के आधार पर पहले विद्वानों का विचार था कि हिन्दी की रचनाएँ इन्हीं का लोकभाषा में विकास है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने नाथसिद्धों की हिन्दी रचनाओं को सिद्धसिद्धांतपद्धति, विवेकमार्त्तंड, शक्तिसंगमतंत्र, निरंजनपुराण, वैराट पुराण आदि संस्कृत रचनाओं का अधिकतर अनुवाद या सार माना था।[1] इसी प्रकाश में गोरखनाथ की रचनाओं को समझने और परखने का प्रयत्न होता रहा। इससे कुछ भिन्न मत डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी व्यक्त करते हुए कहा कि 'संस्कृत में योगियों के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे साधारण तौर पर साधनमार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रंथ है।' उनसे योगियों के दार्शनिक और नैतिक उपदेशों का आभास बहुत कम मिलता है। हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित हैं, उनमें भी साधनामार्ग की व्याख्या की गई है, पर उनमें योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है। इस दृष्टि से इन हिन्दी-रचनाओं का विशेष महत्व है।[2] इस प्रकार द्विवेदीजी ने शुक्लजी के मत से भिन्न हिन्दी रचनाओं की महत्ता और विशेषता स्वीकार की।

अन्य नाथसिद्धों की तुलना में गोरखनाथ हिन्दी में विशेष रूप से कई कारणों से प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण रहे हैं। उनकी रचनाओं का मूल्यांकन भाषा, काव्यरूप, छन्द, रचनाशैली, योग एवं साधनात्मक पद्धति, शब्दावली, सामाजिक दृष्टिकोण आदि दृष्टियों से किया जाता रहा। स्वयं गोरखनाथ की रचना का मूल्यांकन करने के लिए नहीं अपितु परवर्ती काव्य के विविध पक्षों को समझने के लिए उनकी रचनाओं को विविध दृष्टियों से देखा जाता रहा। नाथों में सर्वाधिक महिमाशाली होने के कारण ही उनकी रचनाएँ सर्वाधिक विचारणीय रहीं। सर्वप्रथम मिश्रबंधुओं ने गोरक्षनाथ की रचनाएँ उद्धृत कीं।[3] उन्होंने जितने उद्धरण दिए हैं, उनमें से निम्नलिखित अंशों का पता नहीं लगता। ये अंश बाद में भी विभिन्न लेखकों एवं इतिहासकारों द्वारा उद्धृत होते रहे और संग्रह ग्रंथों में भी उनको स्थान मिलता गया—

1. *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ० 19.
2. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 182.
3. *मिश्रबंधु विनोद,* पृ० 211-212, 150, 157.

''सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ, अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि को दै चुकौ, अरु सहस्त्र जज्ञ करि चुकौ, अरु देवता सर्व पुजि चुकौ, अरु पितरनि को संतुष्ट करि चुकौ, स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य के मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।''

''श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत् है। हैं कैसे परमानंद आनंद स्वरूप है सरीर जिन्हि को। जिन्ही के नित्य गायै ते सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु हैं। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत् करत हौं। हैं कैसे वै मछंदरनाथ। आत्मा जोति निश्चल है अंतहकरन जिनि कौ अरु मूल द्वार तै छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै; अरु जुग काल कल्प इनि की रचना तत्व जिनि गायो। सुगंध को समुद्र तिनि कौ मेरी दंडवत्। स्वामी तुमे तो सत गुरु अम्है तौ सिष सबद एक पुछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस।''[1]

इन उद्धरणों के आधार पर मिश्रबंधुओं ने गोरक्षनाथ को हिन्दी का सर्वप्रथम गद्यलेखक माना।[2] उपर्युक्त उद्धरणों की भाषा के रूप तथा गोरखनाथ के समय का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रबंधुओं का मत प्रामाणिक नहीं है। उन्होंने यह भी संकेत नहीं किया कि गोरखनाथ के किस ग्रंथ अथवा हस्तलेख से ये गद्यांश उद्धृत किए गए हैं। आगे के इतिहासकारों ने भी मिश्रबंधुओं का अंधानुकरण किया। दूसरे गद्यांश का अंतिम अंश डॉ० बड़थ्वाल द्वारा संपादित गोरखबानी में उपलब्ध है।[3] मिश्रबंधुओं ने एक और उद्धरण दिया जो गोरखबानी के 'सिस्ट पुराण' में पाठभेद के साथ प्राप्त है।[4] गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं के एकत्रीकरण और संपादन का सर्वप्रथम व्यवस्थित प्रयत्न डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने किया। उन्होंने नागरीप्रचारिणी सभा के साहित्य परिषद् में कोषोत्सव के अवसर पर 1930 ई० में व्याख्यान देते समय सबसे पहले नाथयोगियों और उनकी कविता का परिचय दिया था जो बाद में लेख के रूप में छपा था[5] और वही उसके बाद उनके निबंधसंग्रह 'योगप्रवाह' में संकलित कर प्रकाशित किया गया। इस लेख में प्रकाशित एवं स्थापित यद्यपि अनेक बातें अब असिद्ध एवं अप्रामाणिक हो गई हैं तथापि पं० तारादत्तजी गैरोला की कृपा से प्राप्त गोरखनाथ की सत्रह पोथियों का प्रथम परिचय हमें इस लेख में मिलता है। वे रचनाएँ हैं—सबदी, पद, तिथि, बार, अभैमात्रा योग, संख्या दर्शन, प्राण संकलि, आत्मबोध, नरवैबोध, काफरबोध, अबलि सिलक, जाती भौंरावली, रोमावली, साषी, मछींद्र गोरखबोध, गोरख-गणेश-संवाद, गोरखदत्त संवाद। इनमें से

1. *मिश्रबंधु विनोद,* पृ० 211-212.
2. *वही,* पृ० 211.
3. *गोरखबानी, मच्छींद्र गोरखबोध,* पृ० 186.
4. *वही, सिस्ट पुराण,* पृ० 236-237.
5. *नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग* 11, *सं०* 4, *माघ* 1987 *वि०*।

कुछ को तो उन्होंने स्पष्ट ही गोरक्षकृत नहीं माना। पौराणिक व्यक्तियों के साथ होनेवाले गोरख के संवादों को उन्होंने शिष्यों की रचना माना।[1]

इस लेख का व्याख्यान के रूप में प्रस्तुतीकरण दिसम्बर 1930 में किया गया था। तदुपरान्त डॉ० बड़थ्वाल ने सामग्री को व्यवस्थित कर उसे 'गोरखबानी' (संग्रह) नाम से लगभग सन् 1942 में प्रकाशित कराया। यहाँ मेरा प्रयोजन केवल गोरखनाथ की रचनाओं से है। उन्होंने इस संग्रह की भूमिका में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि ये 'बानियाँ' हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं।[2] डॉ० बड़थ्वाल ने इस संग्रह की रचनाओं को तीन भागों में संपादित किया है। प्रथम मुख्य भाग में उन्होंने सबदी, पद, सिष्या दरसन, प्राणसंकली, नरवैबौध, आत्मबोध, अभैमात्रा जोग, पंद्रह तिथि, सप्तवार, मछींद्र गोरखबोध, रोमावली, ग्यानतिलक, पंचमात्रा नाम की रचनाएँ संपादित की हैं और सबदी तथा पदों की टीका देने के साथ अन्य रचनाओं पर अर्थ संबंधी टिप्पणियाँ दी हैं। उन्होंने कुल आठ हस्तलेखों की संग्रह किया था जिनमें से च प्रति (पुरोहित हरिनारायण शर्मा, जयपुर की प्रति) सबसे पुरानी (अर्थात् संवत् 1715 सन् 1658 की) प्रति मानी। इस प्रथम भाग की सारी रचनाओं की पुष्टि प्रायः सभी आठ हस्तलेखों से हो जाती है और सबसे पुरानी प्रति में भी ये सारी रचनाएँ उपलब्ध हैं। प्रथम परिशिष्ट में गोरष गणेश गुष्टि, ज्ञानदीप बोध (गोरषदत्त गुष्टि), महादेव गोरष गुष्टि, सिस्ट पुराण, दयाबोध के साथ कुछ पदों का संपादन किया गया है। ये रचनाएँ संदिग्ध हैं और गोरखपंथियों द्वारा लिखी गई हैं। कुछ सेवादास निरंजिनी की भी समझी जाती हैं। दूसरे पौराणिक व्यक्तियों के साथ गोरखनाथ का संवाद स्वयं संदेहास्पद है। सांप्रदायिक मान्यता को देखते हुए तथा हस्तलेखों में भी मिलने के कारण इन्हें संदिग्ध होते हुए भी संग्रह के परिशिष्ट में स्थान दे दिया गया है। इसी प्रकार दूसरे परिशिष्ट में सप्त बार-नवग्रह, ब्रत, पंच अग्नि, अष्ट मुद्रा, चौबीस सिद्धि, बतीस लच्छन, अष्टचक्र और रहरासि नामक रचनाएँ संपादित हैं। इनके सम्बन्ध में डॉ० बड़थ्वाल ने कुछ नहीं कहा है। उन्होंने आठ हस्तलेखों से कुल 40 रचनाओं की सूची बनाई थी जिनमें से 19 संख्या (दयाबोध) तक की रचनाओं के चयन के सम्बन्ध में उन्होंने अपने तर्क दिए हैं, शेष के विषय में विशेषकर दूसरे परिशिष्ट की रचनाओं के बारे में कुछ नहीं कहा। उन्होंने हस्तलेखानुसार रचनाओं की जो सारणी दी है, उसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि द्वितीय परिशिष्ट की रचनाएँ कुछेक हस्तलेखों में ही मिलती हैं। दूसरे इनका विषय और स्वरूप संप्रदायानुमोदित है। तीसरे ये रचनाएँ चक्र, सिद्धि, पंचाग्नि, मुद्रा आदि के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ देती हैं। वस्तुतः ये रचनाएँ गोरक्षकृत ही हैं, इसके सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। स्वयं डॉ० बड़थ्वाल

1. *योगप्रवाह, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल,* पृ० 64-65.
2. *गोरखबानी, भूमिका,* पृ० 11.

ने ही 'सबदी' को गोरख की सबसे प्रामाणिक रचना माना है क्योंकि वह सब प्रतियों में मिलती है।[1]

डॉ० कल्याणी मल्लिक ने गोरक्षनाथ की सिद्धसिद्धांतपद्धति नाम की प्रसिद्ध रचना के साथ अन्य अनेक रचनाओं तथा अन्य नाथों की रचनाओं का भी संपादन एवं प्रकाशन (सन् 1954 में) किया। इसमें उन्होंने यह स्वीकार किया कि उन्हें जो रचनाएँ मिली थीं, उनमें से अधिकांश डॉ० बड़थ्वाल ने गोरखबानी में प्रकाशित कर दी हैं।[2] इसलिए उन्होंने अन्य नाथसिद्धों की ही संस्कृत एवं हिन्दी रचनाओं को प्रकाशित किया। उन्होंने 'गोरख उपनिषद्' नाम की एक गद्य रचना अवश्य प्रकाशित की है जिसके लेखक अथवा रचयिता के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। इस रचना के आरम्भ में महादेवी विमला गोरक्षनाथ से जिज्ञासा करती हैं। इसमें गोरक्षनाथ का जिस रूप में वर्णन है, उससे यह रचना उनकी नहीं कही जा सकती। इसलिए गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं की दृष्टि से डॉ० कल्याणी मल्लिक का संग्रह उपयोगी नहीं है। गोरखबानी का प्रकाशन करते समय डॉ० बड़थ्वाल ने यह घोषणा की थी कि 'जोगेसुरी बानी' के प्रथम खंड में गोरखबानी और दूसरे खंड में अन्य नाथसिद्धों की बानियाँ प्रकाशित करने की योजना है। उनके इहलोक त्याग देने के कारण उस दूसरे खंड की सारी सामग्री का संपादन डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार ही डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया।[3] इस संग्रह में भी गोरखनाथ की हिन्दी-रचनाएँ प्रकाशित नहीं हैं क्योंकि वे सभी पहले ही प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः यह संग्रह भी हमारे लिये विशेष उपयोगी नहीं है। उपर्युक्त परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरखनाथ की हिन्दी-रचनाओं के लिए सर्वाधिक उपयोगी संग्रह डॉ० बड़थ्वाल का ही है। अतः इस संग्रह की ही रचनाओं की प्रामाणिकता, विषय-सामग्री आदि पर आगे संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

गोरखबानी की रचनाओं में सर्वप्रथम सबदी संपादित है और प्रामाणिकता में भी प्रथम स्थान उसी का है। यद्यपि इसमें कुल 275 सबदियाँ संपादित हैं, किन्तु डॉ० बड़थ्वाल ने केवल प्रथम 189 सबदियों को ही (जिन्हें संपादक ने साखी कहा है) अधिक प्रामाणिक माना है क्योंकि ये सबदियाँ सभी प्रतियों में समान रूप से मिलती हैं। सभी प्रतियों में सबदियों की संख्या समान नहीं है। इनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। इन 189 सबदियों अथवा साखियों में भी स्वयं डॉ० बड़थ्वाल दो-एक को स्पष्ट ही दूसरों की मानते हैं।[4] डॉ० बड़थ्वाल ने ऐसी दो सबदियों की ओर संकेत कर बताया है

1. *गोरखबानी, भूमिका,* पृ० 19.
2. *सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑव नाथयोगीज़,* इंट्रो० पृ० 29.
3. *नाथसिद्धों की बानियाँ, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० 2014.*
4. *गोरखबानी, भूमिका,* पृ० 18.

कि ये क्रमश: किसी लालनाथ योगी तथा बाबा रतन हाजी की हैं,[1] किन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ पद्य ऐसे हैं जो रतननाथ के कहे हुए हैं, अथवा स्पष्ट ही प्रक्षेप हैं। एक दूसरी सबदी में भी रतननाथ ही बोलते हैं, किन्तु बड़थ्वालजी ने इसकी ओर संकेत नहीं किया।[2] यदि इसी प्रकार के अन्य अनेक ऐतिहासिक शब्दों की परीक्षा की जाय तो अनेक सबदियाँ प्रक्षिप्त घोषित की जा सकती हैं। सबदी की भाषा के आधार पर भी प्रामाणिकता का विचार किया जा सकता है। वैसे इसकी भाषा के स्वरूप पर आगे विचार किया गया है, किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से भाषा विचार कर यह कहा जा सकता है कि इन सबदियों में इस समय भाषा का जो रूप हमें उपलब्ध है, वह दसवीं ईस्वी शताब्दी का नहीं है। स्वयं डॉ० बड़थ्वाल ने यत्र-तत्र इस प्रकार की बात कहकर यह स्पष्ट किया है कि ये रचनाएँ श्रुतिपरंपरा से आई हैं। इससे उन्होंने दो तथ्यों को प्रकट किया। एक तो यह कि नाथवाणी के प्रति शिष्यों और श्रद्धालुओं की श्रद्धा-भावना ने इन्हें नष्ट होने से बचाया। दूसरा यह कि स्मृति के कारण उसमें कुछ परिवर्तन या छूट हो जाती है और सांप्रदायिक आग्रह से नई रचनाएँ जुड़ जाती हैं अथवा पुरानी रचनाओं में परिवर्तन-परिवर्धन हो जाता है।[3] इसीलिए निष्कर्ष रूप में उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि नाथ परंपरा में इसके लेखक परंपरा प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते। 'मैं अधिक संभव यह समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ग्यारहवीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि संभवत: इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती में हुआ हो।'[4]

गोरखबानी में सर्वप्रथम रचना 'सबदी' है। इनमें गोरखनाथ ने दर्शन, साधन और अध्यात्म से संबंधित अपने विचार व्यक्त किए हैं। ये मुक्तक हैं, अत: एक सबदी का दूसरी से सम्बन्ध नहीं है। दो-एक स्थलों पर दो-चार सबदियाँ एकसाथ ऐसी आ गई हैं कि उनका परस्पर विषयगत सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। यदि इनकी विषय सामग्री का सामान्य रूप से अध्ययन किया जाय तो इनमें अनेक विषयों का प्रतिपादन दिखाई पड़ता है। वैसे सभी विषय योग और ज्ञान में अंतर्भूत दिखाई पड़ते हैं तथा साथ ही अनेक सबदियों में विषय की आवृत्ति भी देखने को मिलती है। इनमें परमोपास्य के स्वरूपनिर्वचन से लेकर साधना की गम्भीर क्रियाओं तक के संकेत उपलब्ध हैं। इनमें सामान्य मानव के संयमपूर्ण जीवन की जहाँ चर्चा है, वहीं व्यर्थ के बाह्याडंबर का जमकर खंडन भी किया गया है। यहाँ तक कि सहज रहनी और करनी का बड़ा ही स्पष्ट और

---

1. *वही, मूल, सबदी, संख्या 104 तथा 118,* पृ० 36 *तथा* 41.
2. *वही, मूल, सबदी, सं० 211,* पृ० 70.
3. *वही, भूमिका,* पृ० 15-16.
4. *वही, भूमिका,* पृ० 20.

सरल कथन इनमें मिलता है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि इन मुक्तकों में गोरक्ष के सिद्धान्तों का जहाँ एक ओर अत्यन्त व्यावहारिक और सरल निरूपण है, वहीं दूसरी ओर हठयोगप्रधान साधना के अनुकूल संयमों, आचारों और क्रियाओं का भी व्याख्यान है। इनमें समाज से, संसार से भागने का नहीं, अपितु संसार में ही संयम के साथ रहने का उपदेश है। शब्दब्रह्म के गगन में प्रकाशन को ही प्रामाणिक मानकर वेद किताब, शास्त्र, कुरान, ग्रंथ आदि को धंधा कहा गया है। हँसने, खेलने को ब्रह्मज्ञान में लीन कर देने का उपदेश किया गया है। अहिंसा का उपदेश देकर मुसलमानों को सावधान करते हुए हजरत मुहम्मद के वास्तविक धर्म का उद्‌घाटन किया गया है। नादानुभूति एवं परमानुभूति को अनिर्वचनीय कहा गया है, जिसके लिए वादविवाद व्यर्थ है। इसी प्रकार उन्मनी साधन, संयम, बिंदुरक्षा, अजपाजाप, नादानुसंधान, हठयोगानुकूल, संयम, शब्दमहत्व, स्वसंवेद्य, अमृतसाधन, वारुणीपान, जीवन्मृत्यु, अतित्याग, चित्तस्थैर्य, अल्पाहार, अल्पवाणी, मन-पवन-साधन, मैथुनत्याग, कायसिद्धि, पिंडप्रतीति, पिंडज्ञान, प्राणायाम, क्षमा-ज्ञान-सुमति का आश्रयण, मनमहत्त्व, कायाशोधन और नाड़ीसाधन, विपरीकरण, रहनी करनी की महत्ता, गुरुमुख, पिंडब्रह्मांडवाद. प्रत्याहार, शिवशक्तियोग,आडंबरविरोध, षट्‌चक्रवेध, ओंकारसाधन, कुंडलिनीजागरण, गुरु और गुरुशब्द महत्त्व, खेचरी मुद्रा की ही सार्थकता, योगि भेद, वज्रौली अमरौली, संयम महत्त्व, विवेक योगाग्नि से सिद्धकाया की प्राप्ति, गुरुशिष्यवाद, अधिकारभेदभाव, पुरुषकार, अग्नियोग, स्वरयोग जैसे विषयों पर स्फुट रूप में गोरखनाथ ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने संसार छोड़कर वन में जाने अथवा नगर में मायालिप्त रहने का समर्थन नहीं किया। निराहार साधन और वृहंदाहारसाधन दोनों का उन्होंने विरोध किया। काया को कष्ट देकर उसे साधनेवाले, पावड़ी पहनकर चलनेवाले, लोहे की श्रृंखलाओं से शरीर को बाँध कर उसे नियंत्रित रखनेवाले, नागा, मौनी, दूधाधारी सभी की उन्होंने आलोचना की और कहा कि ये सभी योग नहीं प्राप्त करा सकते।[1]

पदों के विषय भी प्रायः वे ही हैं, केवल कथन-पद्धति में अंतर है। इन 62 पदों में से अनेक पदों में गोरखनाथ ने संबोधनात्मक पद्धति अपनाई है। इन पदों में भी बिंदुरक्षा, हठयोग, सहज, रससाधन, हठयोग, प्राणायाम, पिंडब्रह्मांडवाद, ओंकारसाधन, नादानुसंधान, अजपाजाप, अहिंसा, संयम, आचार, गुरुवाद, कुंडलिनीसाधन और आत्मसाधन, सर्वात्मवाद, आडंबरविरोध, मायानिषेध, मानससाधन, विपरीतकरण, मानसिकपूजा जैसे विषयों को अपेक्षाकृत अधिक अनुभूत्यात्मक ढंग से व्यक्त करने का प्रयास है। इनमें गोरक्षनाथ की वैयक्तिकता का तत्त्व अधिक है और साथ ही काव्यात्मकता भी इनमें सबदियों की तुलना में अधिक है।[2]

1. *इस संपूर्ण संक्षेप के लिए गोरखबानी का संपूर्ण 'सबदी' भाग द्रष्टव्य।*
2. *इस संपूर्ण संक्षेप के लिए गोरखबानी का पद भाग, पृ० 85-158 तक द्रष्टव्य।*

अन्य रचनाओं में से 'सिप्या दरसन' में सृष्टि की सभी वस्तुओं में से सर्वश्रेष्ठ क. चयन कर उनकी विशेषता नाथमतानुसार बताई गई है। यह गोरक्ष का अपने शिष्यों के लिए किया गया उपदेश है। दूसरी रचना 'प्राण संकली' अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण रचना है। नाथ और संत साहित्य में इस पद्धति और विषयवस्तु की रचनाओं का व्यापक प्रयोग देखने में आता है। डॉ० बड़थ्वाल ने इसका अर्थ 'प्राण-शृंखला' किया है। यदि दूसरी प्रतियों में इसका शीर्षक 'आत्मबोध' मिलता है[1] तो वह अनुचित नहीं। कारण यह है कि गोरखनाथ की सिद्धसिद्धांतपद्धति जैसी रचनाओं में पिंडब्रह्मांडवाद जैसे सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन मिलता है और उनमें पिंडज्ञान को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। 'प्राणसंकली' रचनाओं की विषय सामग्री से ज्ञात होता है कि इनमें पिंडज्ञान ही मुख्य विषय है अर्थात् जो ब्रह्मांड में है, वही पिंड में है, इसकी चरितार्थता इन रचनाओं में दिखाई जाती है। यही एक प्रकार का आत्मबोध है क्योंकि इसे बिना जाने कोई योगी नहीं हो सकता। इसका प्राण की शृंखला से सीधा सम्बन्ध है। प्राण से चंचल शरीर को बाँधना, उसे स्थिरता, दृढ़ता और परिपक्वता प्रदान करना नाथयोग का प्राथमिक लक्ष्य है। इसके लिए पिंडज्ञान आवश्यक है। इसलिए प्राण संकली का प्राण शृंखला अर्थसंगत प्रतीत होता है।[2]

शेष रचनाओं में से 'नरवै बोध' में योग की चार अवस्थाओं (आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति) का परिचय देकर योगानुकूल संयम एवं आचार का उपदेश किया गया है। इसमें कुल 14 छंद हैं। 'आत्मबोध' में सामान्य सबदियों के समान उपदेश तथा 'अभै मात्रा जोग' में यम-नियम का रूपाकात्मक वर्णन है। पंद्रह तिथि में तिथ्यनुसार योगसाधन वर्णित है और साथ में आडंबरपूर्ण साधन का खंडन भी है। उसी प्रकार सप्तवार में वारानुसार विभिन्न साधनों का निर्देश है। 'मछींद्र गोरखबोध' बहुत प्रसिद्ध रचना है जिसमें गोरक्ष के अनेक प्रश्नों के समाधान मत्स्येंद्र द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। विषय सबदी के ही हैं। इसमें कुल 127 छंद हैं। रोमावली में शरीर-रचना के तत्त्वों का विचार कर मुद्रा, बंध, वेध, पीर, मन, पवन, इंद्रिय आदि का विविधरूपात्मक एवं योगपरक वर्णन है। 'ग्यानतिलक' में पुरुषकार के साथ अन्य योगपरक तत्त्वों का सबदी के समान ही वर्णन है। वर्णन अपेक्षाकृत अधिक काव्यात्मक है और रचना भी अधिक साफ है। पंचमात्रा में पंचतत्त्वों का अध्यात्मयोगात्मक विचार है। इसमें चित्तचक्र और मूलचक्र का उल्लेख तो अवश्य है; किन्तु न तो इनका विस्तार है और न अन्य चक्रों का। निगुरा सगुरा का विचार भी मिलता है। रचना बहुत साफ और व्यवस्थित नहीं है। गोरखबानी की अन्य रचनाओं को गोरक्षकृत मानने में स्वयं डॉ० बड़थ्वाल को ही हिचक है। अतः यहाँ केवल मूल की रचनाओं की विषय-सामग्री का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

●

1. *गोरखबानी,* पृ० 164, *पादटिप्पणी।*
2. *गोरखबानी, मूल,* पृ० 164-168.

बारहवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में साधना और उसमें अंतर्भूत सिद्धान्त

गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं के प्रकाश में ही प्रायः उनकी हिन्दी रचनाओं में विवृत योगसाधना का विचार होता रहा है। यदि इसका स्वतंत्र रूप से विचार किया जाय तो कुछ महत्त्वपूर्ण बातें सामने आ सकती हैं। वस्तुतः गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में योग के प्रारंभिक साधकों के लिये आचार और संयम आवश्यक माने गए हैं। इसी तत्त्व की इनमें प्रधानता भी दिखाई पड़ती है। इनमें किसी एक विषय का शास्त्रीय और व्यवस्थित प्रतिपादन नहीं मिलता। ये फुटकर या मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें गोरक्षनाथ ने क्रियाओं की ओर इंगित कर अपने योगात्मक अनुभवों, सिद्धियों, परिणामों, उपलब्धियों का परिचय दिया है। अतः किसी एक साधनांग का पूरा विवेचन करने के लिए उनकी सभी रचनाओं को देखना पड़ता है। वस्तुतः गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथ साधकों के लिए लिखे गये प्रतीत होते हैं जबकि उनकी हिन्दी रचनाएँ सामान्य दीक्षित, अदीक्षित सभी व्यक्तियों को दिए गए उपदेश या योगमाहात्म्य का परिचय देनेवाली रचनाओं के रूप में उपस्थित की गई प्रतीत होती हैं। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो संक्षेप में कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथ शास्त्रग्रंथ या योगशास्त्र या योगविद्या ग्रंथ हैं तथा उनकी हिन्दी रचनाएँ योगसाधन की परंपरा में उपदेशप्रधान रचनाएँ हैं। हिन्दी रचनाओं में योगविधान का विस्तृत उपस्थापन प्रधान नहीं है, प्रधान है योगप्रधान आचार,साधन के संकेत तथा उनका माहात्म्य और फल। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत तो अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में धार्मिक विश्वास और नैतिक स्वर प्रबल है।[1]

गोरक्षनाथ ने अपनी हिन्दी-रचनाओं में संस्कृत-रचनाओं के समान ही द्वैत का अद्वैत में परिवर्तन कर उससे भी अतीत होने को योग के लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। गोरखनाथ के योग का लक्ष्य केवल शिवशक्तियोग या उनका अद्वैत नहीं है अपितु इस अद्वययोग से भी अतीत वह द्वैताद्वैतविवर्जित अवस्था है जिसके लिए चार प्रकार के योगों (हठ, मंत्र, लय और राजयोग) से समन्वित योग को, जिसमें प्राणायाम प्रधान है, साधन के लिए स्वीकार किया गया है। उन्होंने हिन्दी-रचनाओं में जिस योग का उपदेश

---

1. *नाथ संप्रदाय,* पृ० 182.

दिया है, उसका मूल है दया और दान। उनके अनुसार सिद्ध देह में जरा नहीं आती, मृत्यु का आक्रमण नहीं होता। जिसके बिंदु का पात नहीं होता, उसका पिंडपात भी नहीं होता; किन्तु विशेषता यह है कि इसके लिए वे किसी कष्टसाधन को स्वीकार नहीं करते। कष्टदायक योग को वे निरर्थक मानते हैं। इसके लिए स्वांग या बाह्य 'भेष' के धारण को भी वे व्यर्थ मानते हैं। अधिकार की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं कि जो लोग स्वांग में तो पूरे हैं और ज्ञान में अधूरे हैं, जिनका पेट हमेशा खाली रहता है या हमेशा भूखे रहते हैं तथा दंभ में ही अपनी शूरता समझते हैं, वे पाखंडी हैं। वे योगसाधन नहीं कर सकते। निस्सार शरीर में योगसिद्धि की प्राप्ति वे नहीं मानते। इसके लिए कथनी-बदनी या वाद-विवाद भी निरर्थक है।[1] इतने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में योग का जो रूप है, वह सदाचार और ब्रह्मचर्यप्रधान है। इन रचनाओं से और एक बात स्पष्ट होती है कि गोरक्षनाथ जिस योगी की चर्चा इन रचनाओं में करते हैं, वह केवल हठयोग नहीं है। उसका लक्ष्य है शरीर में ही निर्वाणपद, परमपद, नाथपद या द्वैताद्वैतविवर्जित पद प्राप्त करना। इस प्रकार गोरक्षनाथ हठयोग को ही चरम साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका हठयोग हिन्दी रचनाओं में भी समाधियोग का साधक है।

गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में गुरु को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। 'निगुरा' या गुरुहीन होकर या बिना दीक्षा के साधन में प्रवेश नहीं किया जा सकता। वह ज्ञान का पूर्ण सत्य रूप है और (ब्राह्मी) संपत्ति का अक्षय भंडार है। उसी के ज्ञानवाण से निहत होकर शिष्य का अति चंचल और अति बलशाली मन स्ववश हो जाता है। वह एकमात्र ज्ञान का प्रदाता है, ज्ञानस्रोत है। शिष्य को अन्यत्र कहीं शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अनेक प्रकार के दोषों से भरे ऊबड़-खाबड़ भवमार्ग में गुरु ही एकमात्र प्रकाश देनेवाला है।[2] योगसाधन में निष्णात होने पर जब सर्वतोभावेन सम्यक् योग सिद्ध हो जाता है, तब गुरु अपनी कृपा से निर्वाणसमाधि की रक्षा करता है। यह समाधि स्वानुभूतिगम्य सत्य का साक्षात्कार है। गुरु इस सत्य का पूर्ण साक्षात्कार करता है और दूसरों की इस प्रकार की अनुभूति की भी उसी को प्रतीति होती है।[3] त्रिगुणात्मिका माया को, जो विभिन्न प्रकार के रूपों को धारण कर जीवों के चित्त को विमूढ़ कर देती है, केवल गुरु ही दिखाने में, उसके रहस्य को समझाने में, सत्य और माया का विवेक कराने में समर्थ हो सकता है। स्वानुभूतिगम्य सत्य के वाचक शब्द का प्रत्यक्ष केवल गुरु ही करा सकते हैं। यह गुरुतत्त्व ही नाथतत्त्व है जो मायाविमूढ़ सुषुप्त जगत् के लिए नित्य जाग्रत् रहता है क्योंकि बिना उनकी कृपा के ब्रह्म साक्षात्कार या परमपद की प्राप्ति

1. *गो० बा०*, पृ० 15, 64, 87, 126, 139, 164.
2. *गो० बा०*, पृ० 30, 64, 126, 128, 154.
3. *वही*, पृ० 10, 74.

असंभव है।[1] ज्ञान का उद्‌गिरण होने पर शिष्य का पार्थिव सम्बन्ध छूट जाता है, अर्थात् प्रपंचयुक्त पृथ्वी से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार की ग्रंथि का भेदन ही ब्रह्म ग्रंथि का भेदन है। इस ग्रंथि का स्थान मूलाधार है जिसमें महाभूत पृथ्वी तत्त्व की स्थिति मानी जाती है। ब्रह्मा की पार्थिवी सृष्टि से सम्बन्धविच्छेद का कार्य गुरु ही करता है। भिन्न शब्दों में यह पाशविमोचन या कुंडलिनी का जागरण है। प्रकारांतर से इसे वास्तविक साधनमार्ग में प्रवेश या दीक्षा भी कहा जाता है। गोरक्षनाथ की हिन्दी की रचनाओं में इस दीक्षातत्त्व का स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता तथापि तीन ग्रंथियों की क्रियाओं से, जो आज्ञाचक्र तक समाप्त हो जाती है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रारम्भिक आवश्यकता को अति महत्त्वपूर्ण मानते हुए गोरखनाथ ने ऐसे गुरु के आराधन का उपदेश दिया है जो ब्रह्मग्रंथि से जीवशक्ति को छुड़ा दे।[2]

गोरक्षनाथ की साधना में गुरु का निर्देशन कार्य इन ग्रंथियों के भेद के उपरान्त समाप्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिष्य या साधक इसके द्वारा गुरु के बाद भी अपना साधनक्रम अग्रसर कर सकता है। तांत्रिक साधन और गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं से यह ज्ञात होता है कि गुरु-शिष्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल आज्ञाचक्र तक ही रहता है। जब शिष्य तीन ग्रंथियों से, जिन्हें कभी-कभी तीन गुणों का विषम बन्धन भी कहते हैं, मुक्त हो जाता है, तब वह अपनी अर्जित शक्ति और संस्कार से अग्रसर होता है, किन्तु आज्ञाचक्र तक साधक के लिए गुरु अनिवार्य तत्त्व है। गोरक्षनाथ मानते हैं कि आज्ञाचक्र के बाद की स्थिति में गुरु और शिष्य की काया एक ही रहती है। उसमें भी वे ही 36 तत्त्व रहते हैं, जो गुरु में सामान्यतया होते हैं;[3] किन्तु इसके पूर्व की स्थितियों में अधिक तत्त्व और न्यून तत्त्व के आधार पर गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थिर रहता है। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह में स्पष्टतया कहा गया है कि गुरु में 36 तत्त्व और शिष्य में 32 तत्त्व होने चाहिए। अर्थात् अधिक तत्त्वों से सम्पन्न होने पर गुरु तथा न्यून तत्त्वों से सम्पन्न होने पर शिष्य कहा गया है। अंतर के चार तत्त्वों को आयत्त कर लेने पर शिष्य साधनक्षेत्र में अकेले भी रमण कर सकता है।[4] ओंकार निराकार परमतत्त्व या परमपद की उपलब्धि हो जाने पर, उस स्थिति में न गुरु रहता है न चेला, सभी एकरस हो जाते हैं।[5] गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध 'बतीस लछन' नाम की रचना में, जिसे किसी-किसी हस्तलेख में 'अष्ट परिछ्य' भी कहा गया है, शिष्य के 32 लक्षणों को आठ परीक्षाओं में

1. *गो० बा०,* पृ० 137, 149, 166.
2. *गो० बा०,* पृ० 150-151, पद सं० 54—*'कोई गुरु आराधीला दो ब्रह्म गाँठि छोड़ै।'*
3. *गो० बा०,* पृ० 195, *मच्छींद्र गोरष बोध,* छं० 74—*'अवधूत द्रिष्टि थैं दिब द्रिष्टि होइबा, गिनांन थैं बिनांन होइबा।'* तथा *'गुरु शिष्य की एकै काया, परचा होइ तौ बिहड़ि न जाया॥'*
4. *वही,* पृ० 55, सबदी, 161.
5. *वही,* पृ० 129-130, पद सं० 35.

विभाजित कर लक्षणों का उल्लेख किया गया है।[1] गोरक्षनाथ ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि 36 लक्षणों से पूर्ण व्यक्ति को ही गुरु-रूप में स्वीकार करना चाहिए। अधूरे गुरु को लेकर अपने कुल का नाश नहीं करना चाहिए।[2] यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि नाथसंप्रदाय में नाद कुल (अर्थात् गुरुकुल) ही स्वीकृत है, बिंदुकुल (पितृकुल) नहीं। अधूरा गुरु करने से तो पितृकुल छूट ही जाता है और गुरुकुल भी नहीं मिलता। अधूरे गुरु के मिलने पर परम सिद्धि तो नहीं ही मिलती, पिंडपात भी हो जाय तो इससे बढ़कर गुरु के लिए लज्जा की कोई बात नहीं हो सकती।[3]

गोरखनाथ के गुरु सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट होता है कि गुरु के तीन प्रकार के कार्य गोरक्षनाथ स्वीकार करते हैं—पूरण, पोषण, बोधन। इसकी व्याख्या में कहा जा सकता है कि गुरु जहाँ एक ओर शिष्य की जीवात्मशक्ति (कुंडलिनी) को ब्रह्मग्रंथि से मुक्त करता है, वहीं वह उसे सांसारिक प्रपंचों से भी मुक्त करता है। दूसरे, साधना में अग्रसर होने पर वह 'चार तत्त्वों' की, जो शिष्य में कम होते हैं, पूर्ति भी करता है। तीसरा कार्य वह ज्ञान प्रदान करके सम्पन्न करता है। ज्ञानोद्गिरण ही शिष्य का बोधन है और चार तत्त्वों की अथवा लक्षणों की आप्ति कराना ही पूरण कार्य है। शिष्य की शक्तियों को उज्जीवित रखना भी गुरु का ही कार्य है। इसे ही हम पोषण कार्य कह सकते हैं। गुरु का परीक्षक रूप भी है जिसका उद्घाटन गोरखबानी में प्रयुक्त 'पारख' जैसे शब्दों से होता है। 'अष्ट परीक्षा' जैसी रचनाओं से इसकी पुष्टि होती है।[4] इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्षनाथ साधना में गुरु, उसकी योग्यता, शिष्य तथा उसकी योग्यता, 36-32 लक्षण, अष्ट परीक्षा आदि का विधान स्वीकार करते हुए अधिकारभेदवाद के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं। उनके अनुसार तो 'सगुरा' ही अमृतपान कर पाता है और 'निगुरा' का सारा जीवन भवतृषा में ही बीत जाता है।[5] इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि 'निगुरा' के लिए साधनक्रम में कोई स्थान नहीं है। गोरक्षनाथ की रचनाओं में 32-36 तत्त्वों अथवा लक्षणों के अतिरिक्त नाद की चार अवस्थाएँ भी बताई गई हैं। इन्हें योगी की साधन की अवस्थाओं से संबद्ध कर दिया गया है। ये अवस्थाएँ हैं—आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति। इसी प्रकार चार प्रकार के शून्यों की भी कल्पना है।[6] इसका तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के साधनक्रम में क्रमशः

1. *गो० बा०*, पृ० 249.
2. *वही*, पृ० 115.
3. *वही*, पृ० 12, 60.
4. *वही*, पृ० 89 *तथा* 249.
5. *वही*, पृ० 9, *सबदी* 23.
6. *वही*, पृ० 47-48, *सबदी* 136-139 *तथा* पृ० 40, 62, 71, 177 *नरवैबोध*, *आत्मबोध*, *मच्छींद्र गोरखबोध*।

विकास को ध्यान में रखकर साधक की विभिन्न परीक्षाएँ तथा साधना की विभिन्न अवस्थाएँ बताई गईं हैं। साथ ही तदनुसार, विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए योगियों के चार प्रकार बताए गए हैं तथा उनको नादों एवं शून्यों से भी संबद्ध किया गया है।

गोरक्षनाथ के मतानुसार गुरु जिस साधनोपाय का उपदेश देता है, वह योगयुक्त ज्ञान है। इसी से काया में निर्वाण पद की उपलब्धि होती है।[1] इसका तात्पर्य है योग की सहायता से उपलब्ध ज्ञान। नाथों के योग में केवल कायासाधन ही नहीं है, मानसिक या चैतसिक साधन भी है। प्रथम द्वितीय का साधनोपाय है। दूसरे शब्दों में आधिभौतिक और आधिदैविक साधन का लक्ष्य आध्यात्मिक साधन है। पिछले परिच्छेद में संस्कृत ग्रंथों के परिचय में गोरक्षनाथ के योग के चरम लक्ष्य को विलक्षण बताया गया है। वह वस्तुतः चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। नेति-नेति से ही उसकी ओर संकेत किया जा सकता है। वह तत्त्व प्रत्यक्ष करणों की पहुँच के बाहर है और हमारी कोई भी इंद्रिय उसे ग्रहण नहीं कर सकती। उसका केवल ध्वन्यात्मक ग्रहण केवल गगन शिखर सहस्रार में होता है। वह अगम है, अगोचर है, निर्नाम है और अरूप है। वह 'सत्' भी नहीं है क्योंकि वह अगम और अगोचर है। गोचर वस्तु का ही रूप भी हो सकता है और नाम भी। वही वर्ण्य भी हो सकता है। अर्थात् गोरक्षनाथ का परमतत्त्व सत्-असत्-विवर्जित, अनिर्वचनीय, निर्नाम और निराकार है। वह राग-द्वेष-क्रोध-मोह आदि से परे, सरल, सहज और निर्विकार है।[2]

गोरक्षनाथ का साधन इसी अदृष्ट परमतत्त्व का दर्शन और उसी में चित्त का आधारण है। उसकी सत्ता-असत्ता-अनिर्वचनीयता, नामरूपराहित्य के निर्वचन का प्रयत्न करते हुए उन्होंने कहा है कि वह परमतत्त्व यहाँ ही सत्तावान है और यहीं असत्तावान भी है। सत्तावान तो इसलिए है कि यहीं उसने तीनों लोकों की रचना की है। वह अगोचर है, इसलिए वह लुप्त कहा गया है एवं इसी से वह असत्तावान भी प्रतीत होता है। उसकी सत्ता इससे सिद्ध है कि वह साथ ही रहता है और चूँकि वह हमसे लिप्त नहीं होता, इसलिए वह 'अलग' कहा गया है।[3] वह एक ऐसा तत्त्व है जिसका उचित रूप में निर्वचन वेद, धर्मग्रंथ तथा अन्य वाणियों के समूह भी नहीं कर सके। उन सबने उसे आडंबर में ढँक लिया। उसे कोई प्रकाशित नहीं करता, वह स्वयं अपने को शब्द के रूप में प्रकाशित करता है जिसका ग्रहण या साक्षात्कार, केवल अलक्ष्य तत्त्व के जानकार ही कर सकते हैं। उस अलक्ष्य तत्व का ज्ञान वेद, शास्त्र, किताब (धर्मग्रंथ), कुरान या अन्य पुस्तकों से नहीं हो सकता। ये सब बंधन में डालनेवाले एवं अज्ञान उत्पन्न करनेवाले हैं। इस परमपद

1. *गो० बा०*, पृ० 164, *प्राणसंकली, छं० सं० 2—*
   'जोग जुक्त जब पाओ ग्याना। काया षोजौ पद नृबाना॥'
2. *वही*, पृ० 1, *सबदी* 1.
3. *वही*, पृ० 2, *सबदी* 2-3.

या तत्त्व का ज्ञानी कोई बिरला योगी ही हो सकता है।[1] गोरक्ष के अनुसार प्रत्येक शरीर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए बनाया गया है जिसमें ब्रह्मबीज का प्रस्फोट हो सके। जिस क्यारी में ब्रह्मसाक्षात्कार का बीज प्रस्फुटित हो जाता है या जो घट इस प्रस्फोट से निष्पन्न हो जाता है वह गोरक्षकाया या सिद्धकाया है। उनके मत से कच्चे शरीर या कमजोर क्यारी में ब्रह्मसाक्षात्कार के बीज को प्रस्फुटित करनेवाला ज्ञानजल टिक नहीं सकता।[2] अत: ज्ञानजल को ग्रहण करने तथा स्थिर रखने के लिए परिपक्व शरीर की आवश्यकता है जिसका एकमात्र साधन योग है। इस प्रकार नाथपद के साक्षात्कार के लिए ज्ञान आवश्यक है तथा चिर ज्ञान अथवा नित्य ज्ञान के लिए योग से उपलब्ध परिपक्व शरीर की आवश्यकता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ की साधना में काया का सर्वाधिक प्राथमिक महत्व है क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाला ज्ञान इसी पिंड में टिक सकता है। जब तक इस पिंडगत गगनशिखर की स्थिति है तबतक ज्ञान और ब्रह्म का नादरूप में साक्षात्कार भी स्थिर है। इस काया की रक्षा होनी चाहिए क्योंकि संसारभर के जितने साधन हैं, उनमें इसका आद्य स्थान है। योग से शरीर को शुद्ध करना, योग से ही शरीर की रक्षा करना और उसी से परमपद का गगनशिखर में साक्षात्कार करना, गोरक्षमतानुसार योगी के लिए आवश्यक है। इसीलिए उनके योग में कायासाधन और देहविजय का इतना विवरण मिलता है; किन्तु यह जय तबतक अत्यन्त कठिन है जब तक पिंडज्ञान न हो जाय। इसे जीतने पर ही सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।[3] इस प्रकार योगी के लिये दो तत्त्व मुख्य हैं—पिंड और ब्रह्मांड। ब्रह्मांड से पिंड का क्या सम्बन्ध है, यह तो साधक को जानना ही चाहिए, साथ ही यह भी जानना चाहिए कि पिंड में ब्रह्मांड के कौन-कौन से तत्व किस-किस रूप में विद्यमान हैं।

ऊपर जिस परमतत्त्व का परिचय दिया गया है, वह पिंड और ब्रह्मांड, दोनों में, समान रूप से व्याप्त है; किन्तु जीव प्रपंचनिरत रहते हुए इन दोनों में समान रूप से एक ही तत्त्व की व्याप्ति को नहीं जानता। अत: पिंडगत और ब्रह्मांडगत परमात्मा के एकत्व या समरसत्व या समत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह जानना चाहिए कि पिंड और ब्रह्मांड में कोई अंतर नहीं है। पिंडज्ञान से ही ब्रह्मांडज्ञान होता है। उसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जाता है कि अपने को, अपनी आत्मा को, अपने पिंड को पहिचानो, उससे परिचय प्राप्त करो, सारे ब्रह्मांड का ज्ञान हो जाएगा। इसी को गोरक्षनाथ ने 'पिंड में ब्रह्मांड की खोज' कहा जिससे सभी सिद्धियों की उपलब्धि होती है।[4] पिंडब्रह्मांड के

1. *गो० बा०,* पृ० 2, सं० 4, पृ० 3, सं० 6.
2. *वही,* पृ० 14, स० 37.
3. *वही,* पृ० 95.1, 114.2, 115.3, 116.1, 130.1, 133.8, 135.4, 138.3, 171.8 *आदि।*
4. *वही,* 101.2, 116.1.23.

एकत्व के सिद्धान्त को ही पिंडब्रह्मांडवाद कहा जा सकता है। इसका संस्कृत ग्रंथों में तथा प्राणसंकली में विवरण मिलता है। गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथों में नाथयोग का लक्ष्य पिंडपद का परमपद में समरसीकरण बताया गया है। ऊपर हम यह कह चुके हैं कि परमपद या ब्रह्म का साक्षात्कार गगनशिखर या सहस्रार में होता है। गोरखबानी में ब्रह्मांड शब्द का प्रयोग दो अर्थों में मिलता है—1. बाह्य चराचर सृष्टि, 2. गगनमंडल जहाँ शिव का निवास है। जीव का पिंडगत केन्द्रबिन्दु मूलाधार में है जहाँ जीवशक्ति कुंडलिनी निवास करती है। विभिन्न संस्कृत ग्रंथों से यह ज्ञान होता है कि जब कुंडलिनी उत्थित होकर सहस्रार की ओर अग्रसर होती है तब जीवात्मा भी उसके साथ अग्रसर होकर अंततोगत्वा एकत्व प्राप्त कर शिवस्वरूप हो जाती है। कहा गया है कि निराकार परमतत्व पिंड और ब्रह्मांड (सृष्टि) में समानरूपेण व्याप्त है। पिंडगत और ब्रह्मांडगत परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। जब कुंडलिनी शक्ति उलटकर ब्रह्मांड में पहुँचकर परमशिव से मिलन प्राप्त करती है, तब कहा जाता है कि यह पिंडगत कुंडलिनी ब्रह्मांडगत महाकुंडलिनी पद को प्राप्त हो गई अथवा जीव शिवपद को प्राप्त हो गया। यही समरसीकरण है। इसी को, दूसरे शब्दों में पाताल की गंगा को ब्रह्मांड में चढ़ाना कहते हैं।[1] यही 'धर' (पिंड, मूलाधार, पृथ्वी) और अधर (ब्रह्मांड, सहस्रार, आकाश) का परस्पर परिचय है, संवाद है, प्रगाढ़ भावस्थापन है।[2]

इस प्रकार लक्ष्य सम्बन्धी इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ निरंजन निराकार सत्-असत्-विवर्जित नाथ तत्त्व का साक्षात्कार या नाथरूप से अवस्थान अपना मुख्य लक्ष्य मानते हैं। इसे ही दूसरे शब्दों में पिंडपद का परमपद में समरसीकरण भी कहते हैं। इस मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योगमुक्त ज्ञान का आश्रय लेना चाहिए तथा इस शरीर में भी उस परमतत्व का साक्षात्कार करना चाहिए। यह पिंड की उस परमतत्व का पवित्र मंदिर है। गगनशिखर में उसका साक्षात्कार होता है। अत: पिंडरक्षा भी आवश्यक है जिससे इस पिंड में साक्षात्कार स्थिर हो तथा चिरज्ञान उपलब्ध हो। इसी के लिए परिपक्व देह की आवश्यकता बताई गई है। इस प्रकार मुख्य लक्ष्य की सिद्धि के लिए गौण लक्ष्य के रूप में कायसिद्धि या परिपक्व देह को स्वीकार किया गया है।

इन दोनों लक्ष्यों की सिद्धि के लिए पिंडज्ञान अत्यावश्यक है। गोरक्षमत से लोग अपने को तो जानते नहीं और सारे संसार को जानने के लिए दौड़ते हैं या उसे जानने का दावा करते हैं। अत: पहले अपने को जानना चाहिए क्योंकि वह पिंड ही सारे रहस्यों का बीज है। ब्रह्मांडगत सम्पूर्ण रहस्यों का स्रोत यही है। इसलिए वे बार- बार पिंडज्ञानी योगी के लक्षणों को दुहराते हैं। उनके अनुसार पिंड के परमपद में समरसीकरण अर्थात् पिंड में ही ब्रह्मांड के साक्षात्कार के लिए इस साढ़े तीन हाथ के ही शरीर में भ्रमण करने की

1. *गो० बा०,* पृ० 71.217, 2.2, 174.5.
2. *वही,* पृ० 34, 102-103.

आवश्यकता है। इस शरीर को, गोरक्ष की रचनाओं में विभिन्न स्थलों पर नगर, पाटण, गढ़, कोट आदि शब्दों से अभिहित किया गया है और यह भी कहा गया है कि नगर या पाटण के मार्गों या वीथियों का जबतक ज्ञान न हो जाय तब तक उस पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। जो इस पाटण में भलीभाँति भ्रमण करता है, वह वस्तुतः शिवपुरी में संचरण करता है।[1] योगसाधन के लिए, शरीर के रहस्यमार्गों, गुह्यस्थानों का जिनमें पतन की प्रतिक्षण शंका बनी रहती है, ज्ञान होना अत्यावश्यक है। योगसाधन और कायविजय या कायसिद्धि के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि इस कायानगर या गढ़ का निर्माण कैसे और किन किन तत्वों से हुआ? इस पिंड में क्या-क्या है? गोरक्ष के अनुसार इस शरीर में गुरुदेव और देवता शंभु निवास करते हैं। यह उनका मंदिर है। इसका सर्वोत्तम देवता आत्मा है। इसके नवद्वारों में नवनाथ, त्रिवेणी में जगन्नाथ तथा उस दशमद्वार ब्रह्मरंध्र में केदार हैं जो शंभुस्थान या शिवस्थान है। इसी दशमद्वार में योगी ध्यान लगाता है तथा उसी कायागढ़ में वह उपास्य नाथ, उनका देवालय सहस्रार तथा उनकी पवित्र पुरी काशी है जहाँ उस अविनाशी तत्त्व का साक्षात्कार होता है।[2] 'प्राणसंकली' नाम की रचना यद्यपि गोरक्षनाथ की कही जाती है तथापि उसकी सामग्री इसे प्रमाणित नहीं करती। इस रचना में पिंडब्रह्मांडवाद का विवरण मिलता है। इसे नाथमतानुमोदित विवरण कह सकते हैं।

साधन और साध्य के इस परिचय पर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं के प्रकाश में हिन्दी रचनाओं के ये विचार सर्वथा संगत हैं। 'योगयुक्त ज्ञान' पद में योग शब्द प्रथम है। अंतिम-पद-प्राधान्य की दृष्टि से तथा सम्पूर्ण गोरक्षयोग पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि गोरक्षनाथ को ज्ञान तो अन्ततोगत्वा अभीष्ट है; किन्तु वे उसके साथ सिद्ध काया को भी आवश्यक मानते हैं। गोरक्ष के मतों का प्रकाशन करनेवाले गोरक्षसिद्धांतसंग्रह का यह मत है कि वेदों में कर्मकांड विभाग प्रधान है एवं वेदांत में योग भाग प्रधान है तथा यही योग भाग नाथसिद्धों को भी स्वीकार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि योगियों को साधन के रूप में योग ही मुख्य रूप से ग्राह्य है।[3] किन्तु योगबीज नाम के संस्कृत ग्रंथ में 'ज्ञानयुक्तयोग' को स्वीकार किया गया है। यदि गोरक्षनाथ की सभी संस्कृत रचनाओं का सम्यक् अनुशीलन किया जाय तो यह प्रतीत होता है कि उनमें योग और ज्ञान दोनों को परस्परावलम्बी के रूप में स्वीकार किया गया है। यह ज्ञान केवल आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान तक ही सीमित नहीं है,अपितु पिंडज्ञान से लेकर ब्रह्मज्ञान तक विस्तृत है। गोरक्षमत से इतना निश्चित है कि जब तक शरीर शुद्ध न हो जाये तब तक ज्ञानोदय संभव नहीं है और बिना पिंडज्ञान के

---

1. *गो० बा०,* 16. 43, 116.1-3, 120-121.1-6, 134.1-4.
2. *वही,* 94-95.1-2, 116.1-3.
3. *ना० सं० इ० द० सा०,* पृ० 405 *तथा गो० सि० सं०,* पृ० 28.

शरीर का शोधन नहीं हो सकता और न व्यक्ति योगी ही हो सकता है। तात्पर्य यह है कि चरमांत में प्राप्त होनेवाले परमज्ञान के लिये शुद्ध शरीर आवश्यक है तथा शुद्ध शरीर के लिए पिंडज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार पिंडज्ञान के लिए गुरु की आवश्यकता है। इस प्रकार गुरु, पिंडज्ञान, योगक्रिया से शरीर शुद्धि, सिद्धकाया फिर क्रमशः परमज्ञान और अन्ततः समरसीकरण संभव होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'योगयुक्तज्ञान' में ज्ञान परमज्ञान का बोधक है तथा 'ज्ञानयुक्त योग' में यह पिंडज्ञानादि का बोधक है। इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केवल ज्ञानी से, साधन, साधक और साध्य की तीनों दृष्टियों से, नाथों को विशिष्ट लक्षित कराने के लिए कायसिद्धिप्रधान यह ज्ञान पर्याप्त है। जहाँ एक ओर शांकरमतवादी, शैव, शाक्त आदि अद्वैतवादी हैं, वहीं गोरक्षमत न तो द्वैतवादी है न अद्वैतवादी। वह द्वैताद्वैतविवर्जितवाद का समर्थक है। इसी प्रकार अपने लक्ष्य के साधन में भी वह योग से उपलब्ध कायसिद्धि को आवश्यक मानता है। शांकर मत में इसे स्थान मिलता दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार शुद्ध ज्ञानवादियों से गोरक्ष के मत का वैलक्षण्य सिद्ध हो जाता है। गोरक्ष की हिन्दी रचनाओं में इन विचारों की यत्किंचित् विवृत्ति मिलती है।

गोरक्ष के अनुसार योगी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कभी भी वृद्ध नहीं होता। उसमें निश्चलता एवं गंभीरता होती है। उसके साधन का सार संयम है। वह वाद–विवाद से विरक्त पवनज्ञानी होता है। वह मस्जिद–मंदिर से अतीत परमतत्व का ध्यान करता है। वर्ष में तीन बार काया को पलटना उसके लिए आवश्यक है। वह मन को नियंत्रित रखता है। वह वारुणी का पान करता है।[1] वह मद्य, मांस और भाँग का सेवन नहीं करता। अजपाजाप में सदैव रत रहता है। स्वप्न में भी वह कामग्रस्त नहीं होता। मन पवन के साधन से वह शरीर को स्ववश रखता है। वह जरा का विपरीतकरण कर निर्जर शरीर की प्राप्ति करता है।[2] उनकी दृष्टि में यदि जप–तप का मूल संयम है तो योग का मूल तत्व है दया दान। इसके बिना योग संभव नहीं। इस योग के लिए स्वाँग की आवश्यकता नहीं है और न शुद्ध ज्ञान की ही। इसके लिए संयम की आवश्यकता है, पाषंड की नहीं। अग्निसाधन इस योग का आवश्यक अंग है। इस योग के आरम्भ के लिए सबसे पहले बिंदुरक्षा की आवश्यकता है। इसमें क्रिया, कर्त्तव्य, संयम की आवश्यकता है, कथनी–बदनी की नहीं। बनखंड के भ्रमण से योगसाधन नहीं होता।[3]

गोरक्षनाथ ने केवल योग को साधनरूप में स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार चित्त को योगमार्ग में आरूढ़ करने के लिए ज्ञान ही सबसे बड़ा गुरु है। जहाँ ज्ञान की सत्ता है, वहाँ वादविवाद आदि की सत्ता नहीं रहती। साधनक्षेत्र में अग्रसर

1. *गो० बा०, 6.14, 20.56, 25.68, 32.92, 35.12, 48.137. 69.210, 73.231, 78.252-253.*
2. *वही, 56.164, 164 टेक. 24, 166.12, 174.4, 202.127.*
3. *वही, 126.32, 64,190, 64.191, 87.4, 139.44, 133.7.*

होने के लिए ज्ञान सबसे बड़ा सहायक है। इस प्रकार जब योग से युक्त ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तभी इस पिंड में परमपद की खोज संभव है।[1] ज्ञान के प्राप्त होने पर पंचतत्त्वों में वैषम्य नहीं रहता। ये तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में समान भाव से सहायक हो जाते हैं। योगी के लिए ज्ञान अधारी है, अर्थात् ज्ञान के आधार के बिना योगसाधन निष्कंटक भाव से चल नहीं सकता। यद्यपि यह सत्य है कि परमपद की प्राप्ति हो ज़ाने पर ज्ञान की भी पृथक् सत्ता नहीं रहती तथापि साधनकाल में बिना इसकी सहायता के योगी परमपद तक पहुँच भी नहीं सकता।[2] गोरक्षनाथ के अनुसार यद्यपि नाथयोगी को वादविवाद, कथनी-बदनी से दूर रहना चाहिए तथापि उन्होंने यह भी निर्देश दिया है कि यदि कथनी-करनी भी हो तो केवल ज्ञान का ही कथन करना चाहिए। यह ज्ञान गुरुमुख से मिलता है। इसी से मन का मारण संभव होता है। पाँचों इंद्रियों को सम्हाले रखने में ज्ञान सहायक होता है। उसी की सहायता से योगी शरीर के सभी द्वारों पर विषयरूपी शत्रुओं से युद्ध करता है।[3] इस प्रकार के ज्ञान से ही विशिष्ट ज्ञान या विज्ञान (परमपदज्ञान, तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान) संभव होता है। अज्ञानी व्यक्ति योगसिद्ध नहीं हो सकता। यह ज्ञान केवल पिंडज्ञान, ब्रह्मांडज्ञान या आत्मज्ञान नहीं है, वस्तुतः यह योगी का अपना विचार या विवेक ही है जो धीरे-धीरे इन रूपों में विकसित होता है। इस ज्ञान का उदय होने पर मन चैतन्य रहता है, चैतन्य तत्व की ओर उन्मुख रहता है, उसमें जड़ता नहीं रहती और न वह जड़ता की ओर उन्मुख ही रहता है। इसी ज्ञान से त्रिभुवन में आत्मभाव की स्थिरता रहती है। इस ज्ञान की रक्षा के लिए नारीसंग त्याज्य है क्योंकि इससे ज्ञानरत्न और प्राण का हरण होता है। नारीसंग से ज्ञाननाश और योगनाश होता है। इसलिए जो वास्तविक ज्ञानी है, अर्थात् योगयुक्तज्ञान को धारण करनेवाला है, वह राक्षसी से अपनी रक्षा कर लेता है।[4] षट्चक्रभेद की दृष्टि से विचार करने पर छठाँ चक्र (आज्ञाचक्र) ही ज्ञानचक्र है, जहाँ योगी को विश्राम मिलता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान में ही योगी को विश्राम मिलता है। जो केवल योगी है, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं हो सकता। वह नाद का बोध भी नहीं प्राप्त कर सकता।[5]

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ के मत से योग और ज्ञान परस्परावलंबी हैं, किन्तु कायसिद्धिप्रधान योगज्ञान नाथों के योग का वैलक्षण्य है। गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथों में योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग दोनों का तिरस्कार किया

---

1. *गो० बा०*, 64.189, 65.195, 164.2.
2. *वही, 17.48, 38.110, 130.3, 188.16.*
3. *वही, 56.166, 126.3, 175.8-9.*
4. *वही, 64.190, 67.201, 91.4, 143.1., 195.74, 197.86, 199.106, 201.122.*
5. *वही*, 195.54, 216.35

गया है तथा उन्हें मोक्षोपकारक नहीं माना गया है। गोरक्ष को केवल कथनी का ज्ञान स्वीकार नहीं। जो ज्ञान योग के क्रियापक्ष के अनुकूल नहीं है, उसे गोरक्षनाथ तिरस्करणीय मानते हैं। इसी प्रकार नाथतत्त्व के सर्वघटव्यापकत्व के दर्शन में भी ज्ञान ही सहायक है। इसीलिए यह ज्ञान गोरक्षमत में गुरुस्थानीय हैं।

गोरक्षनाथ के इस ज्ञानसमन्वित योग के भी दो सोपान हैं। हठयोगप्रदीपिका जैसे ग्रंथों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि हठयोग राजयोग का सोपान है। गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं से भी इसकी पुष्टि होती है। वस्तुतः ज्ञान की उपलब्धि राजयोग से संबंधित है। गोरक्षनाथ भी ताली, ध्यान समाधि को, जो सूक्ष्म योगसाधन के अंग हैं, पर्याप्त महत्व देते हैं।[1] वे बार–बार ऐसी अवस्था का वर्णन करते हैं जहाँ योग, ज्ञान, ध्यान, जप, तप, पूजा आदि की सत्ता नहीं रहती। वस्तुतः गोरक्ष परम समाधि की ओर ही इससे संकेत करते हैं।

इस योग के स्वरूप और उसके अंगों का विचार करने पर हिन्दी रचनाओं में योग के विविध अंगों का न तो स्पष्ट नाम ही मिलता है और न उनका व्यवस्थित प्रतिपादन ही। पतंजलि के अष्टांग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की गणना है। हिन्दी की रचनाएँ शास्त्र–निरूपक रचनाएँ नहीं हैं। गोरक्ष की रचनाओं में अष्टांग योग जैसे शब्दों का प्रयोग तो मिलता है[2] किन्तु अर्थ की दृष्टि से वह प्रयोग इतना संदिग्ध है कि उसके आधार पर किसी भी सिद्धान्त का निरूपण भ्रांतिकारक हो सकता है। पातंजल योग के प्रथम दो अंगों, यम नियम को उसी रूप में गोरक्षनाथ की रचनाओं में भी स्वीकृति नहीं मिली। केवल सिद्धसिद्धांतपद्धति में यम, नियम की सामान्य परिभाषा देकर उनका स्वरूपनिरूपण कर दिया गया है[3], किन्तु अन्यत्र नहीं। हिन्दी रचनाओं में तो इनका नाम तक नहीं मिलता। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि गोरक्षनाथ को षडंग योग (अष्टांग योग का यम, नियम छोड़कर) स्वीकार है। फिर भी यह कहा जाता है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी–रचनाओं में नैतिकता, संयम और ब्रह्मचर्य का स्वर प्रधान है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। यदि संस्कृत–रचनाओं को ध्यान में रखें तो यह कह सकते हैं कि प्राणायाम तथा तत्सम्बन्धी अन्य साधनों का गोरक्षयोग में प्राधान्य होने के कारण ही हिन्दी वाणियों में सदाचार, ब्रह्मचर्य और नैतिकता को इतना महत्व मिला है। इनमें सामान्य योगी या अन्य सामान्य व्यक्तियों की नीति के उपदेश किए गए हैं। शुद्ध सात्विक जीवन व्यतीत करना योगी के लिए अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु इसका यह

1. *गो० बा०*, 4.8, 32.90, 56.165, 110.1, 122.2, 124.1, 126.1,174.1, 130.3, 192.54 आदि।
2. *वही*, पृ० 46, *सबदी 133.*
3. *सि० सि० प० अ० व०, सिद्धसिद्धांतपद्धति, द्वितीयोपदेश, 32.33,* पृ० 12–13.

अर्थ नहीं कि सामान्य जन इनका तिरस्कार करें। इसलिए हिन्दी-रचनाओं में सदाचारपरायण सात्विक जीवन का उपदेश मिलता है। जैसे पातंजल योग के अभ्यास के लिए क्रमशः यम, नियम का साधन आवश्यक है, उसी प्रकार नाथयोगसाधन के प्रारम्भ के लिए इन सदाचार सम्बन्धी नियमों का पालन आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें प्रारम्भिक और अनिवार्य प्रवेशात्मक योग्यता समझकर गोरक्ष ने मूल योगांगों में इन्हें स्थान नहीं दिया।

हठयोग के संस्कृत ग्रंथों में (जैसे हठयोगप्रदीपिका) यम, नियम के दस-दस अंग बताए गए हैं। उदाहरण के लिए यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच की गणना है तथा नियम के अन्तर्गत तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धांतवाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप, होम की गणना की गई है; किन्तु इन नामों का गोरक्ष की रचनाओं में प्रयोग इस रूप में नहीं मिलता। इन सबमें अहिंसा का सर्वाधिक महत्व है। गोरक्षनाथ ने योग का मूल तत्व दया और दान माना है। अहिंसा इस दया का व्यवहार पक्ष है। इस प्रकरण में गोरक्षनाथ ने मुसलमानों को बहुत फटकारा है। उन्होंने योगी के लिए भी मांसभक्षण निषिद्ध ठहराया है; क्योंकि उनका कहना है कि जीव और शिव दोनों का एकसाथ ही निवास रहता है। इसलिए पशुहत्या कर रुधिर-मांस का सेवन नहीं करना चाहिए।[1] इस प्रकार के उपदेश के पीछे गोरक्षनाथ का पिंडब्रह्मांडवाद नामक सिद्धान्त सक्रिय है जिसके नाथयोगी सिद्ध पिंड और ब्रह्मांड में, प्रत्येक घट में परमतत्त्व का साक्षात्कार करता है। उसकी दृष्टि उन सबमें समत्वदर्शन की है। वे पिंड धारण करनेवाले जीव की हत्या में कोई लाभ नहीं देखते। उससे दया की ही हानि होती है। उनके अनुसार यदि मारना ही है तो मनमृग को शब्द के अत्यधिक तेज खाँडे से ही मारना चाहिए जिसका प्रयोग मुहम्मद ने किया था। इस मनमृग के वर्ण, रक्त, मांस नहीं है, फिर भी यह योगी की बुद्धिवाटिका का सदैव नाश किया करता है। यह मन योगी के साधन के विरुद्ध सदैव विद्रोह किया करता है।[2] यम, नियम के अन्य अंगों में सत्य और अस्तेय का कोई स्पष्ट वर्णन गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में नहीं मिलता। ब्रह्मचर्य का गोरक्षसाधन की दृष्टि से विशेष महत्व है और इसका अति विस्तृत वर्णन भी मिलता है। इस ब्रह्मचर्य से नारी, बिंदुरक्षा, कायसिद्धि आदि संबद्ध हैं। गोरक्ष की रचनाओं में जैसे शक्ति के प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध रूप मिलते हैं उसी प्रकार नारी के भी कामिनी रूप और मातृरूप का भी दर्शन होता है। शक्ति या बिन्दु का वह रूप जो सृष्टिप्रक्रिया में विभिन्न भेदों, रूपों, वर्णों में निरन्तर रूप में विभाजित होने में गतिशील है, जिसमें क्रमशः उसके मूलरूप से भी भिन्नता बढ़ता जाती है, किसी भी प्रकार गोरक्षनाथ को ग्राह्य नहीं। ऐसी शक्ति निरन्तर प्रपंच की वृद्धि

1. *गो० बा०,* 4.9, 56, 73.227, 126.4, 164-165.
2. *वही,* पृ० 126; *पद* 32, *टेक* ।

कर व्यक्ति को साधन की ओर उन्मुख नहीं होने देती। यही वह तत्त्व भी है जिससे समग्र सृष्टि का उदय करनेवाला तत्व शक्तिधर भगवान् नाम से अभिहित होता है। इस प्रकार वही शक्ति जननी है, माता भी है। नारी का वह रूप जो योगानुकूल नहीं है, सदैव त्याज्य है। गोरक्षनाथ को आश्चर्य है कि निर्गुण, निराकार, बाघिन और राक्षसी माया के पीछे सारा संसार अपना सर्वस्व नष्ट करता है।[1] उसके विविध रूपों का वर्णन कर उससे होनेवाले योग संपत्ति के विनाश का गोरक्ष ने विस्तार से परिचय दिया है। माया का सर्वाधिक आकर्षण सुन्दर रूप नारी ही है जिसके संग में पड़कर व्यक्ति का स्कंधविनाश होता है और इस प्रकार गोरक्षयोग के प्रथम लक्ष्य की ही असिद्धि हो जाती है। इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ ने नारी, सारी और किंनरी—तीनों का परित्याग करने का उपदेश किया है।[2] इस प्रकार स्कंधरक्षा अथवा पिंडरक्षा के लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही गोरक्ष ने नारी के कामिनी रूप के प्रति इस प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। इसीलिए नारी के मातृरूप के प्रति उनके हृदय में आदरभाव है। वे उन व्यक्तियों को धिक्कारते हैं जिन्होंने मातृरूप धारण करनेवाली नारी को भोग की सामग्री बना लिया है। जिस स्त्री ने जन्म दिया है, वह आदरणीय है और इसीलिए सम्पूर्ण नारी जाति आदरणीय है।[3]

इस ब्रह्मचर्य से ही संबंधित एक महत्वपूर्ण प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। गोरक्षनाथ शैव थे और ब्रह्मचर्यप्रधान योगसाधन के समर्थक एवं प्रचारक थे अतः उनके साधन में वज्रोली, अमरोली, सहजोली जैसी क्रियाओं और साधनों को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए था। वस्तुतः गोरक्षनाथ की जो मूल रचनाएँ हैं, उनमें इन साधनों का उल्लेख नहीं मिलता। उनकी हिन्दी रचनाओं में इसके दो-एक उल्लेख मिल जाते हैं। हठयोगप्रदीपिका तथा गोरक्षसंहिता जैसे ग्रंथों में ये साधन ग्रंथान्तर से उद्धृत किए गए हैं। इन साधनों में नारीसंग अनिवार्य है। हिन्दी रचनाओं में जो उल्लेख मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति प्राणायाम में पूर्णतया कुशल है अथवा जिसका प्राण स्थिर है, वही व्यक्ति वज्रोलीसाधन में प्रवृत्त हो सकता है जिससे बिंदुपतन के समय भी वह प्राणायाम से मध्यधारा का आकर्षण-रक्षण कर सके। उन्होंने तो बिन्दु के महत्व को भलीभाँति समझाते हुए उसे योग, भोग, रोग सब कुछ कहा है।[4] ऐसी स्थिति में गोरक्ष वज्रोली जैसी साधनाओं के प्रयोग का विधान करें, यह संभव नहीं। उनकी अमरौघशासनम् नाम की रचना में कहीं भी इस वज्रोली का उल्लेख नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत यहाँ विचारणीय है—'यह नहीं कहा जा सकता कि

1. *गो० बा०, 7.19, 35.102, 88.1, 69.210, 91.4, 153, टेक।*
2. *वही,* 144.1-3,, 144 *टेक,* 87.3, 137. *टेक,* 1; 139-140, *टेक-4,* 34.99, 13.35, 173.14, 178.19.
3. *वही,* 144-145, *टेक,* 4.
4. *वही, 94.142, 51.148, 85. टेक।*

गोरक्षनाथ के द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग का जो रूप आज उपलभ्य है उसमें योग और भोग को साथ ही साथ पा लेने की साधना एकदम लुप्त हो गई है। वज्रयान और सहजयान का प्रभाव रह ही गया है। महीधर शर्मा ने गोरक्षपद्धति नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया है। इसमें किसी और ग्रंथ से वज्रोली और सहजोली मुद्राएँ संगृहीत हैं। ये दोनों निश्चित रूप से वज्रयानी और सहजयानी साधनाओं के अवशेष हैं।....यह पवित्र योग भोग के आनंद को देकर भी मुक्तिदाता है।.... यहाँ केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि इस मार्ग में उक्त साधनाएँ भी रेंगती हुई और सरकती हुई घुस आई हैं, या फिर हटाने के अनेक यत्नों के बावजूद छिपी हुई रह गई हैं।[1]' इस मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्ष का जो अपना योगसाधन है, वह ब्रह्मचर्य पर आधारित है, किन्तु यह अस्पष्ट रह जाता है कि गोरक्षपद्धति जैसे ग्रंथों में 'ग्रंथान्तरे' से आई इस साधना को गोरक्षमत में कैसे स्वीकार कर लिया जाय। उसे स्पष्टत: विजातीय घोषित करने में संकोच नहीं होना चाहिए। उन्होंने अन्यत्र इसे प्रकारान्तर से कहा है—'यद्यपि यह साधना नाथमार्ग में प्रक्षिप्त जान पड़ती है पर अपने पारमार्थिक अर्थ में यह इस मार्ग में स्वीकृत थी। सिद्धसिद्धांतसंग्रह में एक संदिग्ध श्लोक है जो इस साधना के प्रकाश में कुछ स्पष्ट हो जाता है। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसके ज्ञानमात्र से सिद्धमार्ग प्रकाशित हो जाता है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि केवल पारमार्थिक अर्थ में यह सिद्धमार्ग में गृहीत है।'[2] इस रचना को गोरक्षकृत नहीं माना गया है। अत: गोरक्षनाथ के योगसाधन के अन्तर्गत इसके इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। शेष प्रश्न है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी रचना में वज्रोली, अमरोली के आए उल्लेख की क्या संगति है?[3] गोरक्षनाथ की सारी हिन्दी रचनाओं का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि यह सामान्य साधन के रूप में स्वीकृत नहीं है। प्राणस्थैर्य से बिंदुस्थैर्य होता है। इसकी सबसे बड़ी कसौटी के रूप में वज्रोली और सहजोली हैं। इसकी ध्वनि यह प्रतीत होती है कि नारीसंग में बिंदुस्थैर्य अत्यन्त कठिन है अत: उसके संग में नहीं पड़ना चाहिए। मुख्य लक्ष्य बिंदुरक्षा ही है। यदि योगरक्षा और साधन में नारी सहायक है तो त्याज्य नहीं है, किन्तु गोरक्ष को उसका संग ही संदेहास्पद लगता है।

यमगत अन्य अंगों में से केवल मिताहार को छोड़कर किसी अन्य का सविस्तार वर्णन गोरक्ष की रचनाओं में नहीं मिलता। वे क्षमा, धैर्य, दया, आर्जव आदि का भी महत्व स्वीकार करते हैं और उनके पालन का उपदेश करते हैं। इन सबका सम्बन्ध 'रहनी' से है। गोरक्ष की दृष्टि में सच्चे योगी की रहनी ही सच्ची होती है। सारतत्त्व से युक्त रहनी ही सर्वोत्तम है जिसमें करनी की महत्ता है; क्योंकि उत्तम करनी के लोग ही

1. *नाथ संप्रदाय, पृ० 71-72.*
2. *वही, पृ० 125-126.*
3. *गो० बा० पृ०, 49 सबदी, 141-142.*

भवसागर से पार उतरते हैं। बिना इस करनी और रहनी के योग सिद्ध नहीं होता।[1] नाथ संप्रदाय के विभिन्न संस्कृत ग्रंथों से ज्ञात होता है कि योगशास्त्र ही शास्त्र, योगसाधन ही साधन तथा तद्नुकूल आचरण ही आचरण है। शेष सब आडम्बर और पाषंड है। तंत्र, मंत्र, वेदान्त (या वैद्यक से सिद्धिप्राप्ति) आदि सबका त्याग इस रहनी में होना चाहिए। यंत्र, गुटिका (सिद्ध गुटिका जिससे आकाश उड्डयन आदि की सिद्धियाँ संभव मानी जाती हैं), विभिन्न धातुप्रयोग आदि सभी पाषंड हैं। जो लोग परमतत्त्वसाधन को लक्ष्य में न रखकर केवल कथनी के लिए, या केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नौ नाड़ियों और बहत्तर कोठों की बात करते हैं या साधन करते हैं और अष्टांग योग कहते हैं, वे वास्तव में झूठे हैं। यह सब मिथ्या है। वास्तविक सिद्धि स्तंभन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि में नहीं है। ये सब योगबाह्य हैं। अत: इनका त्याग करना चाहिए।[2] इन सबका विचार आर्जव के अन्तर्गत किया जा सकता है। मिताहार के अन्तर्गत गोरक्ष ने अल्पाहार का समर्थन तथा अत्याहार का विरोध किया है। उन्होंने निराहार या केवल दुग्धाहार का भी विरोध किया है। परिमित एवं नियंत्रित आहार ही योग के लिए श्रेयस्कर है। उन्होंने आहार में मध्यम मार्ग का ही अनुसरण किया है; क्योंकि इससे मन निश्चल हो जाता है तथा श्वास भी स्थिर हो जाती है। ये दोनों ही कायसिद्धि के लिए आवश्यक हैं। इस संयम के लिए मद्य, मांस, भाँग का सेवन पूर्णतया निषिद्ध है; क्योंकि इससे दया-धर्म का नाश, प्राणनाश तथा ज्ञान-ध्यान की हानि होती है।[3]

नियम के अन्तर्गत तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धांतवाक्यश्रवण, ह्री, मति, तप और होम की गणना की गई है। ये शारदातिलक से हठयोगप्रदीपिका में उद्धृत प्रतीत होते हैं। ये सभी गोरखबानी में उपलब्ध नहीं हैं। इनमें से तप, आस्तिक्य, होम आदि विवादास्पद हैं तथा उनके सामान्यतया गृहीत रूपों को गोरक्ष स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में तप से, जिसमें सामान्यतया शरीर को कष्ट देकर उसे जीतने का भाव प्रधान रूप से माना जाता है, कोई शूर नहीं हो सकता और न वह शरीर और मन को जीत ही सकता है। पावड़ी पहनना, लौह शृंखलाओं से शरीर को कसना, नग्न रहना, मौन रहना, केवल दुग्धाहार करना, ये सभी चित्त को शांत नहीं रहने देते। ये सभी कृच्छाचार हैं। ऐसे सभी लोगों को तन-मन के रहस्यों का पता नहीं रहता। ये सभी लोग माया में पड़कर अपनी सुरति को नष्ट कर देते हैं।[4] वस्तुत: गोरक्ष की दृष्टि में तन-मन की अचंचलता बहुत महत्वपूर्ण है। सामान्य जीवन में हँसते-खेलते रहना, प्रसन्न रहना,

1. *गो० बा०,* 17.48, 21.59, 42.271, 81.264, 139.4.44, 201.118, 126.4.32.
2. *वही,* 46.133,170.4,170.5.
3. *वही,* 8.20, 12.32, 13.33, 14.36, 15.39-40, 30.84, 38.109, 51.146, 56.164-165, 102.30.
4. *वही,* 15, 39-40, 115.2, 209.9.

काम-क्रोध का परित्याग करना और फिर भी अपने चित्त को चंचल न होने देना, ब्रह्मज्ञान में सदैव अपने चित्त को लगाए रखना चाहिए। इस मन की अचंचलता के लिए धन और यौवन की आशा छोड़कर, राग छोड़कर, उनसे निरास रहना चाहिए। शांत रहना, गर्वत्याग करना और सहज भाव से रहना योगानुकूल है। वन में भी अनेक उपद्रव हैं। योगी का शरीर जहाँ भी सुरक्षित रह सके, जहाँ भी उसका नादानुसंधान निर्विघ्न भाव से चल सके, वहीं उसे रहना चाहिए।[1] उन्होंने तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास, गंगास्नान आदि का खंडन कर संयम का समर्थन किया है।[2]

गोरक्षनाथ की आस्तिकता पर कुछ लोग विवाद करते हैं। इस प्रकरण का समाधान संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है कि गोरक्षनाथ जन्मांतरवाद को मानते हैं; क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि प्रारब्धकर्म का निर्मूलीकरण अवश्य किया जाना चाहिए। स्वर्ग और नरक की कल्पना के सम्बन्ध में वे कुछ नहीं कहते। इसी शरीर के रहते इस लोक में ही जीवन्मुक्ति की प्राप्ति उनका लक्ष्य है। वे इच्छामृत्यु स्वीकार करते हैं। वे किसी पौराणिक स्वर्गजाल में पड़ते नहीं दिखाई पड़ते। वे एक परमतत्त्व में, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान परमात्मा में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार वह निमित्त और उपादान कारण दोनों है। सामान्यतया जिस ईश्वर की लोग चर्चा करते हैं, वह माया एवं काम से ग्रस्त है, संसार के प्रपंचों में निरत हैं।[3] गोरक्षनाथ वेद के स्थूल भाग को नहीं मानते। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार वेद के उत्तरभाग या वेदान्त भाग का तात्पर्य योग है और यही स्वीकार्य है। वैसे गोरक्ष ने स्थूल वेद का खंडन किया है; क्योंकि वह प्रपंच का प्रसार करता है, भ्रांत करता है।[4] इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ कर्मवाद और ईश्वरवाद के आधार पर तो आस्तिक कहे जा सकते हैं किन्तु वेदप्रामाण्य को वे उस रूप में स्वीकार नहीं करते जिस रूप में अन्य मतवाद जैसे—पातंजल योग, उत्तर मीमांसा, पूर्व मीमांसा आदि स्वीकार करते हैं। अतः उनके योगसाधन और सिद्धान्त को आस्तिक कहना चाहिए।

नियम के अन्य तत्त्वों में दया, दान, ईश्वरपूजा आदि हैं। दया और दान के विविध रूपों का व्यवहार गोरखबानी में मिलता है, क्योंकि ये दोनों ही अहिंसा और लोककल्याणसाधन के लिए आवश्यक है।[5] गोरक्षनाथ बाह्य साधनों, बाह्याडंबर आदि को स्वीकार नहीं करते अतः पूजा का बाह्यरूप उन्हें स्वीकार नहीं क्योंकि उनका

1. *गो० बा०*, 3.7, 4.8, 7.16, 7.19, 11.27.
2. *वही*, 87. *टेक*, 8.22, 14.46, 16.44, 17.45 64.191, *तथा* पृ० 78.
3. *वही*, पृ० 15, 151-152, 164.27. *पद* 55, 108-109. *टेक*-5, 154. *टेक*-4, 202-124; 67.199.
4. *वही*, 3.6, 33.96 *तथा गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० 28.*
5. *वही*, 126.4.32.

परमतत्त्व तो द्वैताद्वैतविवर्जित तथा निराकार-साकार से अतीत है।[1] योगशास्त्र ही गोरक्षनाथ का शास्त्र है। वस्तुतः गुरुमुख से निकले हुए अनुभवसिद्ध शब्द ही सिद्धान्त हैं। वैसे गोरक्षनाथ शास्त्राध्ययन और पाठ को अनावश्यक मानते हैं। ह्री का कोई स्पष्ट वर्णन गोरखबानी में नहीं मिलता। मति के अन्तर्गत हम गोरक्षनाथ के विवेक और विचार को ले सकते हैं।[2] वैसे इनका कोई निश्चित स्वरूप, गोरखवाणी में नहीं मिलता। जप तत्त्व अवश्य ही अति महत्वपूर्ण तत्त्व है। गोरक्षनाथ की हिन्दी वाणियों के अनुसार जिस प्रकार गुरु की पहचान की जाती है, परमतत्त्व की पहचान की जाती है, उसी प्रकार साधन के रूप में जपमाला की पहचान की जानी चाहिए। स्थूल और बाह्य जपमाला को गोरक्षनाथ नहीं स्वीकार करते। उनके द्वारा स्वीकृत आंतरिक जपमाला हमारी श्वासक्रिया में गतिशील है। इसे वे अगम जप कहते हैं; क्योंकि इस जप तक स्थूल इंद्रियों की पहुँच नहीं है। साधक का चैतन्य प्राणतत्व ही जपमाला है। यह संपूर्ण शरीर में व्याप्त है। विभिन्न कमल ही उस जपमाला के मुख हैं। जिनसे इस सूक्ष्म जप का जाप होता है।[3] गोरक्षनाथ 'सोह' का जप करने का उपदेश करते हैं। नासिका के आगे की अपनी वायु जब इड़ा और पिंगला नाड़ियों के मध्य (सुषुम्ना) में समा जाती है तथा 21600 (24 घंटों में श्वासों की संख्या, जैसा संस्कृत ग्रंथों में भी स्वीकार किया जाता है) संख्या में सोहं का अजपाजाप होने लगता है, तब अनाहत नाद का स्वतः उदय होता है। तब बंकनाल में सूर्योदय होता है, प्रत्येक रोम में तूर्यध्वनि का श्रवण होता है जैसे प्रत्येक रोम श्रवणयुक्त हो गया है। इसी प्रकार के अनेक अलौकिक दृश्यों और ध्वनियों का दर्शन-श्रवण होता है। सभी इंद्रियों में दिव्यता आ जाती है।[4] पशु अजपा गायत्री का जप नहीं करते। इसलिये उन्हें मुक्ति नहीं मिलती।[5] गोरक्षनाथ को जप का यही रूप स्वीकार है। यह उसका अंतस्साधनात्मक रूप है। होम को भी उन्होंने आंतरिक रूप में स्वीकार करते हुए आभ्यंतर अग्नि को सतत प्रज्वलित रखने का उपदेश किया। यह अग्नि ब्रह्माग्नि का प्रतीक है। ज्ञानाग्नि में ही अपनी अशुद्ध काया का होम कर देने और उसे शुद्ध कर लेने का भी उल्लेख उनकी वाणी में मिलता है।[6]

गोरक्षनाथ के योगसाधन में हठयोग की प्रधानता है। 'हठ' का सम्बन्ध प्राण और नाड़ियों के साधन से है। इसमें आसन, बंध, वेध, मुद्रा, षट्कर्म, प्राणायाम आदि सभी गृहीत हैं। यम, नियम सहित इन सबका लक्ष्य प्राणस्थैर्य है। गोरक्षनाथ की संस्कृत-

1. *गो० बा०,* 109.3, 171.9.
2. *वही,* 187.12.
3. *वही,* 101. टेक. 1.
4. *वही,* 124. टेक-4.30.
5. *वही,* 171.9, 177.18.
6. *वही,* 7.18, 12.31, 18.49, 175.8, 176.14.

रचनाओं में 'हठ' शब्द की विस्तृत व्याख्या मिलती है जिसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

ह—सूर्य, रवि, सूर्यनाड़ी, यमुना, पिंगला, शक्ति, प्राण, रज, पवन, अधः, वाम, लोहित, रज।

ठ—चंद्र, शशि, चंद्रनाड़ी, गंगा, इड़ा, शिव, अपान, बिंदु, मन, ऊर्ध्व, दक्षिण, पांडुर, शुक्र।

गोरक्ष ने शक्ति को रज और शिव को बिंदु कहा है। रवि की 12 कलाएँ हैं तथा चंद्र की 16। उनका स्थान क्रमशः मूलाधार एवं सहस्रार में है। सूर्य पवन के घर में तथा चंद्र मन में रहता है; किन्तु परमतत्त्व या परमपद में चंद्र और सूर्य की स्थिति नहीं है।[1] ये सभी द्वैत की ओर संकेत करते हैं। अद्वैत की स्थिति के लिए जिन नामों का उल्लेख होता है, वे हैं—योग, अग्नि, सरस्वती, सुषुम्ना, मध्य, अनंतर, एकत्व, साँध,सम्मुख, विलीनता, 'संमि', साम्य, सामरस्ये, स्थैर्य, समाधि, मिलन, कुंभक, मध्यासन आदि।[2] सुषुम्ना को पश्चिम द्वार भी कहा जाता है क्योंकि वहाँ अमृत के शोषक सूर्य का तेज क्षीण हो जाता है। उसे विषनाड़ी भी कहा जाता है। इसी प्रकार के साधन को शिवशक्तियोग या मध्ययोग भी कहते हैं।[3] गोरक्षनाथ ने द्वादशकलासंपन्न सूर्य का शोषण तथा षोडश कला से सम्पन्न शशि का पोषण करने के लिए कहा है। सूर्य और शशि के अन्तर की चार कलाओं का, जिन्हें अमृतकला कहा जाता है, साधन करे तो निर्जरता आयत्त होती है।[4] गोरक्षयोग में आसन का प्राथमिक महत्व है जिसका सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व दृढ़ता है। इसको लगाने से पवन नहीं टूटता और न काया ही क्षीण होती है। गोरखवाणी में केवल पद्मासन का ही स्पष्टतः नाम लिया गया है। इसी प्रकार वज्रासन से रोग, व्याधि और क्षुधा के हरण की भी बात कही गई है।[5] गोरक्षनाथ अंतस्साधना को महत्व देते हैं, इसलिए स्पष्टतः उन्होंने संयम की दृष्टि से संतोष को आसन कहा है और योग की दृष्टि से गंगा और यमुना के बीच सुषुम्ना में आसन लगाने को कहा है।[6]

---

1. *गो० बा०* 19.51, 100.5, 103.2, 110.1, 124.2, 156.60, 188.16, 189.26, 190.34, पृ० 205 तथा 241.
2. *वही,* 28, 78, 29,81, 33.94, 86.3, 95.1, 105.2, 111.5.19, 124.2, 149.53, 167.16.
3. *वही,* 30.84, 39.113, 45.130, 63.187, 92.2, 96.3, 96.4, 100.5, 118.16, 127.2, 130.1, 140.2, 150.3, 175.6, 176.12, 191.46, 193.56, 198.96, 252.6.
4. *वही,* 31.89.
5. *वही,* 44.125, 103.2, 169.3, 171.8, 174.1, 177.16.
6. *वही,* 29.82, 47.134, 149.53, 197.86.

गोरखवाणी में यद्यपि प्राणायाम या उसके विविध प्रयोगों का बार-बार उपदेश मिलता है, तथापि षट्कर्म का, जिसमें तांत्रिक मतानुसार धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति की गणना की जाती है, कोई वर्णन गोरक्षनाथ ने अपनी हिन्दी रचनाओं में नहीं किया है। पवनसाधन के रूप में प्राणायाम का विधान पूरी रचना में छाया हुआ है। वे प्राणायाम से मन और शुक्र के भी नियमन का सिद्धान्त स्वीकार करते दिखाई पड़ते हैं। इसी पवन के ब्रह्मरंध्र में समावेश से बालरूप परमतत्त्व का साक्षात् या प्रत्यक्ष होता है। इसी से बंध, षट्चक्रवेध, काया की परिपक्वता आदि की सिद्धि होती है।[1] गोरक्षनाथ ने नाड़ियों की 72000 संख्या की ओर भी संकेत किया है जिनकी सात गाँठों को ही चक्र कहा जाता है। वायु के संचार से नाड़ियों का शोधन करने के उपरान्त प्राणवायु से बंकनाल का पूरण करना चाहिए। इस ऊर्ध्वमुखी नाड़ी में ही अमृतरस का स्राव होता है। उन्होंने पारंपरिक रूप से प्रसिद्ध 68 तीर्थों को भी घटस्थ माना है। इनमें से देवद्वार, दशमद्वार अथवा ब्रह्मरंध्र का विस्तृत वर्णन गोरखवाणी में मिलता है। नवद्वारों को नौ बछड़े, नौ लाख खाइयों आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाड़ी-साधन, नाद-बिंदु-साधन, योगाग्निप्रज्वलन, कुंडलिनीप्रबोध, चौंसठ संधियों में वायुसंचरण अथवा शोधन, नवद्वाररोध, उन्मनीयोगसाधन, बिंदुस्थैर्य, ब्रह्मरंध्रादि सिद्धि, ज्योतिप्रकाश, अनाहतनादश्रवण, ध्यानसाधन, षट्चक्रवेध, महारससिद्धि, कायसिद्धि आदि अनेक साधन केवल प्राणायाम अथवा उसके विविध साधनों से सिद्ध होते हैं। इसके अन्तर्गत जो विविध बाह्यांग हैं, उनमें से बंध के केवल मूलबंध और उड्डीयान बंधों के साधन का उल्लेख मिलता है। तुरीयाबंध और अगोचरबंध के किसी शास्त्रीय स्वरूप की पुष्टि नहीं की जा सकती। मुद्राओं में वज्रोली, सहजोली आदि की चर्चा पहले की जा चुकी है। 'अष्टमुद्रा' नाम की रचना में मुद्राओं का उल्लेख है। इस प्रकरण में भी गोरक्षनाथ आंतरिक साधन की दृष्टि से चंद्र-सूर्य-मुद्रण अथवा मनमुद्रण का उपदेश करते दिखाई पड़ते हैं।[3] इसी प्राणायाम से नादानुसंधान, अजपाजाप का भी सिद्ध होना बताया गया है।

षडङ्ग योग साधन में प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का स्थान है। यह मानस का सभी विकारों से प्रत्याहरण है। यह मानस साधन है। गोरक्ष जब पंचज्ञानेंद्रियों के प्रसार के निवारण की बात करते हैं तब वे वस्तुतः प्रात्याहारसाधन की ओर संकेत करते हैं। दूसरे शब्दों में शरीर को घेरना भी पंचेंद्रियों के बाह्य प्रसार का प्रत्याहरण है। इस प्रकार

---

1. *गो० बा०,* 17.47, 19.53, 33.93, 36.105, 51.147, 61.182, 70.215, 71.217, 81.265, 175.7. *आदि*।
2. *वही,* 12, 19, 20.56, 33.96.147, 47, 55.163, 94, 104, 113 116, 117, 120, 127, 149.53, 155.3.59, 164-165.5, 165.6, 167.13 आदि तथा 192.52, 193.60 *आदि*।
3. *वही,* पृ० 49, 110, 146, 176.

की घेरेबन्दी से इंद्रियों का स्वामी (पंचदेव) घर में (शरीर में) बंदी हो जाता है, पूर्णतया नियंत्रित एवं स्थिर हो जाता है।[1]

धारणा का स्थान प्रत्याहार के बाद है और गोरक्षनाथ के संस्कृत ग्रंथों के अनुसार इसका तात्पर्य है बाह्य और अंतस् के साथ एकमात्र निजतत्त्वस्वरूप का अंत:करण से साधन। सभी पदार्थों का निराकार में धारण या जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारण होने के कारण ही इसे धारणा कहते हैं। इससे मानसधैर्य की प्राप्ति बताई गई है। इस क्रिया में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् धारण एवं मानस का निश्चलत्वसंपादन होता है। लययोग में भी पंचभूतों का लय तथा आज्ञाचक्र में मनोलय का साधन वर्णित है। इस प्रकार कुंडलिनी जागरण, षट्चक्रवेध और लययोग का अंतर्भाव धारणा के अन्तर्गत किया जा सकता है। इन्हीं से संबंधित हैं—भूतविजय, विपरीतकरणी, अमृतसाधन या रससाधन आदि। गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में यद्यपि धारणा का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता तथापि तदंगभूत उक्त साधनों के विविध संकेत मिलते हैं। चक्रव्यवस्था की दृष्टि से गोरखबानी में आठ, छह और नौ चक्रों के उल्लेख मिलते हैं। 'अष्टचक्र' नाम की एक स्वतन्त्र रचना ही गोरखवाणी में मिलती है जिसमें आठों चक्रों को गोरक्षनाथ ने घटस्थ बताया है। इनका विवरण इस प्रकार है[2]—

सं०	चक्रनाम	कमल के दल	स्थान	अन्य विवरण, श्वास संख्या
1.	आधारचक्र	4	गुदा	600
2.	दृष्टिचक्र	6	लिंग	600
3.	मणिपूरचक्र	10	नाभि	600
4.	अनाहतचक्र	12	हृदय	600
5.	विशुद्धचक्र	16	कंठ	1000, अजपा गायत्री पारब्रह्म का ध्यान
6.	अग्निचक्र	16	नेत्र	1000 ,,
7.	ज्ञानचक्र	1000 सहसुदलकमल	ब्रह्मांड	1000 ,,
8.	सूक्ष्मचक्र	21000	विज्ञान	—

मछींद्र गोरखबोध में केवल 6 चक्रों का वर्णन दो स्थलों पर मिलता है। इसमें चक्रों के नाम उपर्युक्त विवरण से भिन्न हैं।[3] इस भिन्नता के कारण गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं के आधार पर कोई एक निश्चित क्रमव्यवस्था नहीं प्रस्तुत की जा सकती। यदि तांत्रिकों द्वारा मान्य षट्चक्रव्यवस्था से इसकी तुलना की जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गोरक्ष

1. *गो० बा०,* 27.75-77; 29.83, 39.112.
2. *वही,* पृ० 249-250.
3. *वही,* पृ० 192, 202.

की चक्रव्यवस्था और संख्या 'षट्चक्रनिरूपण' से भिन्न है। किन-किन चक्रों में कौन-कौन से भूततत्व हैं, इसका कोई संकेत गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में नहीं मिलता। चक्रसंख्या, नाम, स्थानादि के विवरण की भिन्नता के होते हुए भी सर्वोच्च स्थल शून्य स्थान ही प्रतीत होता है और उसके अनेक नाम भी रचना में मिलते हैं। उसे गगनमंडल, शून्य, ब्रह्मरंध्र. सहस्रार, शून्य द्वार आदि कहा गया है। इस गगन को स्तंभविहीन और निराधार कहा गया है और उसमें ही ज्ञानदीप का प्रकाशन माना गया है।[1] चक्रव्यवस्था में ऊर्ध्व साधनस्थलों के और नाम भी मिलते हैं, जैसे—कविलास या कैलास, औंधा कूँआ, कूप, काशी, केदार, त्रिकुटी, दशमद्वार, पश्चिमद्वार, पश्चिम, पलंका, ब्रह्मकुंड, भैरवगुफा, ब्रह्मसागर, ब्रह्मांड, ब्रह्मग्रंथि, विषमी संधि, शिवपुरी, सरोवर, शून्यद्वार, कपाट आदि। निम्न साधनपीठों की ओर संकेत करने के लिए धरती, दक्षिण, पाताल, महीतल आदि शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। इन शब्दों की अलग-अलग व्याख्याएँ हैं, जिन्हें यहाँ विस्तारभय से प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

कुंडलिनीसाधन से संबंधित एक दूसरी क्रिया विपरीतकरण की है जिसमें मनोन्मनी साधन को भी अंतर्भूत किया जाता है। इसमें मन को पलटकर अंतर्विषयों, नादादि की ओर आकृष्ट कर निश्चल कर दिया जाता है। मन, पवन, शब्द, सुरति—इन सबको उलट कर त्रिकुटी में मिलाना या केन्द्रित करना भी विपरीतकरण है। चन्द्र-सूर्य को सम्मुख करना, फूल का उलट कर कली में आना, परावृत होना, मन का उलटना, कमलों का उलटना, रुधिर को उलटकर अमृतरस का भरना, चंद्र-सूर्य का उलट कर राहु-केतु को ग्रस लेना—ये सभी प्रकारांतर से इसी विपरीतकरण की ओर संकेत करते हैं।[2] कुंडलिनी साधन के सम्बन्ध में प्राय: यह कहा जाता है कि गोरक्षनाथ को कुंडलिनी साधन स्वीकार नहीं था किन्तु तथ्य है कि उनके सिद्धसिद्धांतपद्धति ग्रंथ में कुंडलिनी की विस्तृत चर्चा है तथा हिन्दी रचनाओं में भी अनेक स्थलों पर कुंडलिनी को नारी कहा गया है किन्तु नारी शब्द का अधिक प्रयोग रमणी या कामिणी के लिए ही किया गया मिलता है। कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं जिनसे कुंडलिनी योगी की भोग्या प्रतीत होती है। कहा गया है कि योगी का मन ही साधक है तथा योगन मनसा या कुंडलिनी के साथ वह योगी सदैव भोगनिरत रहता है।[3] इस कुंडलिनी को नागिन, शक्ति, कालीसर्पिणी, भुजंग, श्वाससर्प, पाताल की गंगा आदि भी कहा गया है। वह रज का प्रतीक है। वह आत्मारूपी पनिहारिन की गागर है जो मूलाधार में रहती हैं।[4] इससे स्पष्ट है कि गोरक्ष ने अपनी हिन्दी-रचनाओं में भी कुंडलिनी-साधन और षट्चक्र योग को मान्यता दी है।

---

1. *गो० बा०,* पृ० 9, 60, 66, 68, 119, 131.
2. *वही,* पृ० 50, छं० 13, 19, 36, 39, 40, 65, 70, 74, 124, 142, 144, 146, 149, 175, 176, 187.
3. *वही,* पृ० 105-106.
4. *वही,* पृ० 2, 45, 63, 71, 82, 100, 110, 139, 142, 147, 165, 166, 174, 192, 193, 196 आदि।

धारणा के उपरान्त ध्यान का क्रम है। इसे परमाद्वैत भाव कहा गया है। इसमें पदार्थों या तत्वों की आत्मस्वरूपानुसार भावना की क्रिया होती है। परिणामतः इसमें सभी भूतों में समदृष्टि की उपलब्धि मानी गई है। इसमें मन का पूर्ण निश्चलत्वसंपादन भी होता है। गोरखवाणी में ध्यान और समाधि दोनों के लिए ताली शब्द का प्रयोग मिलता है। उन्होंने ध्यान के विषयों को भी घटस्थ ही माना है। वे कंठचक्र, भ्रमरगुफा, शरीर की नाड़ियों की 7 ग्रंथियों एवं ऊर्ध्वगामी श्वासक्रिया पर ध्यान लगाने का उपदेश करते हैं। ध्यान में वर्ण अथवा रंग आदि का कोई वर्णन नहीं मिलता। इस प्रकार निर्गुण निराकार ध्यान ही गोरक्ष को मान्य है। उसे ज्योतिर्ध्यान या तेजोध्यान भी कहा जा सकता है। गोरखबानी में तेज और ज्योति दोनों शब्दों से उसके प्रकाश रूप का वर्णन किया गया है।[1]

षडंग योग का अंतिम अंग समाधि है। हठयोगप्रदीपिका में समाधि के अनेक वाचक शब्दों की एक लम्बी सूची इस प्रकारदी हुई है—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, शून्याशून्य, तत्त्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। इनमें से अनेक शब्दों का प्रयोग गोरक्ष की हिन्दी वाणी में मिलता है। इनमें से उन्मनी, मनोन्मनी, लय,निरंजन, सहजा जैसे शब्दों के माध्यम से गोरक्ष ने समाधि की स्थिति को अधिक स्पष्ट किया है।[2] अमृत साधन अथवा अमरवारुणीपान की विशेष महिमा दिखाई पड़ती है। योगी शून्यमंडल या ब्रह्मरंध्र से स्रवित होनेवाले अमृतनिर्झर का पान करता है। महुआ से शराब चुआने, कलालिन आदि के रूपकों का गोरक्ष ने बड़ी उत्तमता से प्रयोग किया है। यह वारुणीसाधन ही रससाधन है किन्तु यहाँ भी गोरक्ष ने घटस्थ अंतस्साधना का निर्देश कर खेचरीमुद्रा के साधन का उपदेश किया है।[3] शून्य, जैसे शब्दों का प्रयोग कर समाधिकालीन विविध अनुभूतियों की विस्तृत अभिव्यक्ति गोरक्ष की रचनाओं में मिलती है।[4] समाधि सम्बन्धी इन विविध प्रसंगों एवं प्रकरणों को देखने और उनकी परीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि जिस परमपद की व्याख्या गोरखबानी में मिलती है उसकी तीन विशेषताएँ हैं—1. वह मस्जिद-मंदिर में उपास्थ न होकर पिंडस्थ है। 2. वह योगी के ब्रह्मरंध्र में हठयोगी साधनों से साध्य है। 3. वह केवल अनुभवैकगम्य या स्वसंवेद्य है।

समाधि अथवा परमोच्च साधनावस्था के अनेक पर्यायों में से जीवन्मुक्तिपद शब्द का भी प्रयोग यद्यपि गोरखबानी में नहीं मिलता तथापि कायसिद्धि सम्बन्धी जो सिद्धान्त गोरक्षनाथ को स्वीकार है, उससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्हें

1. *गो० बा०,* पृ० 29, 31, 36, 54, 57, 114, 122, 123, 124, 146, 167, 192, 200.
2. *वही,* पृ० 13, 19, 20, 32, 36, 47, 74, 188, 192, 193, 194, 202.
3. *वही,* पृ० 20, 46, 113, 122-123; 124, 167, 171, 192, 192.
4. *वही,* पृ० 7, 20, 28, 32, 34, 53, 73, 106, 131.

जीवन्मुक्ति भी स्वीकार है। जीवित अवस्था में देहपात के पूर्व जो मुक्ति होती है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं तथा पार्थिव स्थूल और सूक्ष्म देहनाश के बाद जो मुक्ति होती है, उसे विदेह मुक्ति कहते हैं। गोरक्षनाथ को यह जीवन्मुक्ति ही स्वीकार है। उन्होंने एक 'जीवता मूवा' पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ यह है कि सोता हुआ अवधूत जीवित रहते हुए भी मृत के समान है। यहाँ गोरक्षनाथ ने सामान्य अर्थ में इसका प्रयोग किया है जिसमें निकृष्ट योगी की विगर्हणा है; किन्तु एक दूसरे प्रसंग में योगी को बार-बार उपदेश करते हैं कि उस मृत्यु का वरण करना चाहिए, जो मधुर हो। वही योगी की अभिप्सित मृत्यु है जिसे शब्दांतर से कायसिद्धि अथवा जीवन्मुक्ति कहा जा सकता है।[1] वे स्पष्टतया देहपात के उपरान्त होनेवाली मुक्ति का खंडन करते हुए कहते हैं—हे पंडित, ब्रह्मज्ञान ही का अध्ययन-मनन करो; क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बिना सब झूठा है। मरने पर जो मुक्ति मानी जाती है उसमें वैकुंठ में स्थान मिलना कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः वह गड्ढे में अथवा चिता पर स्थान पाना है और चौरासी लाख योनियों के चक्कर में पड़ जाना है।[2] इस प्रकार पिंडपातरहित, इच्छामृत्युयुक्त जीवन्मुक्ति ही नाथपंथियों का लक्ष्य है जिसमें अनेकता में ही एकता की उपलब्धि हो जाती है। परमार्थ सेवा और परोपकार मिलकर एक हो जाते हैं।

गोरक्षनाथ ने समाधि सम्बन्धी एक अन्य शब्द 'सहज' का भी प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि में समाधि की अवस्था सहजावस्था है। उन्होंने 'सहजसमाधि' शब्द का जिस प्रकार प्रयोग किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि इस अवस्था में निद्रा, यात्रा, खटपट आदि कार्य बिलकुल नहीं होते। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें शुक्रनाश करनेवाली निद्रा नहीं आती। तीर्थयात्रादि की आवश्यकता नहीं रहती और न शरीर को किसी प्रकार का आयास अथवा कष्ट ही उठाना पड़ता है। इसमें सरल योगसिद्धि होती है। इसमें सहज दीक्षा से सहज सिद्धि और सहज समाधि की प्राप्ति होती है। इसमें किसी प्रकार का कृच्छाचार नहीं है। इसमें सहज रहनी और सहज स्वभाव परमावश्यक है जिसका विस्तृत विवेचन गोरक्ष ने अपनी वाणियों में किया है।[3] मछींद्र गोरषबोध में मत्स्येंद्र ने सहज और शून्य के युग्मकों का प्रयोग कर स्पष्ट साधना के विकास की अवस्थाओं की ओर संकेत करते हुए कहा है कि साधक की सहज शून्य में उत्पत्ति होती है, समशून्य में सत्गुरु (परमतत्त्व को) समझता है तथा अतीत शून्य में (साधक) समाहित हो रहता है।[4] इससे अतीत शून्य ही परमोच्च अवस्था प्रतीत होती है। किन्तु डॉ० भारती ने सहज शून्य को शून्य से ऊपर माना है और उसी को श्रेष्ठ कहा है।

---

1. *गो० बा०*, पृ० 10, 25.
2. *वही*, पृ० 102-103, 180.
3. *वही*, पृ० 70; पृ० 78-79, छं० 245-256; पृ० 102-103. *पद* 14.
4. *वही*, पृ० 193.

गोरक्षनाथ के योग सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में विवृत्त योगपद्धति पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट है। इस योग का लक्ष्य है—हठयोग और समाधियोग अथवा राजयोग की सहायता से शरीर में निर्वाण-पद परमपद, नाथपद या द्वैताद्वैतविवर्जित पद प्राप्त करना। इस साधन में 'निगुरा' के लिए कोई स्थान नहीं है। गुरुशिष्यवाद के सिद्धान्त के साथ अधिकार-भेदभाव को भी महत्व दिया गया है। गोरक्षनाथ का गौण लक्ष्य पिंडसिद्धि या कायसिद्धि या सिद्धदेहप्राप्ति है। गुरु-कृपा से ही पिंडसिद्धि संभव है। स्वरूप की दृष्टि से गोरक्षनाथ का साधन योगयुक्त ज्ञान है जिसमें पिंडब्रह्मांडवाद का सिद्धान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसीलिए वे पिंडब्रह्मांड के एकत्वज्ञान एवं अनुभूति को बहुत महत्व देते हैं। शुद्ध ज्ञानवादियों से गोरक्षनाथ का वैलक्षण्य यह है कि वे पिंडसिद्धि और इच्छामृत्यु को भी ज्ञान (या परमज्ञान) के साथ आवश्यक मानते हैं। शारदातिलक जैसे तांत्रिक ग्रंथों में वर्णित दशांग यम, नियम के कुछ अंगों की विवृत्ति गोरखबानी में मिलती है किन्तु षडङ्ग योग का प्रतिपादन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि यम, नियम का अनिवार्य प्रवेशात्मक मूल्य गोरक्ष को स्वीकार है। यद्यपि हिन्दी रचनाओं में हठयोगानुकूल संयम, आचार की ही महिमा है तथापि यम, नियम में अहिंसा, ब्रह्मचर्य, मिताहार, आर्जव आदि का विस्तार से उपदेश किया गया है। नारी के कामिनी रूप का परित्याग कर जननीरूप या मातृरूप या सुन्दरी के पारमार्थिक प्रतीकात्मक 'सुषुम्नासुन्दरी' रूप के साधन का उपदेश मिलता है। बाह्याडंबर और कृच्छाचार का अनेकश: खंडन किया गया है। षडङ्गयोग के अन्तर्गत आसन का भी अंतस्साधनात्मक स्वरूप मिलता है। समस्त प्रकार के योगसाधन के मूलाधार के रूप में प्राणायाम को प्रतिष्ठित किया गया है। इससे नाड़ीशोधन, कुंडलिनी जागरण, षट्चक्रवेध, लयसाधन, उन्मनीसाधन, प्रणवसाधन, नादानुसंधान आदि साधन साध्य हैं। बंधों का गोरक्षवाणी में विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। मुद्रा का परिचय यद्यपि गोरक्षवाणी में मिलता है, तथापि उनका वर्णन संस्कृत के हठयोगी ग्रंथों के समान नहीं है। वहाँ घटस्थ मुद्राओं का ही वर्णन मिलता है। जप में भी गोरक्षनाथ ने केवल अजपाजाप को ही स्वीकार किया है। उनकी रचना में यद्यपि प्रत्याहार का नाम नहीं मिलता तथापि विषयों से इंद्रियों के आहरण के संकेत मिलते हैं। धारणा का भी यद्यपि उसी रूप में उल्लेख नहीं मिलता तथापि तदंगभूत षट्चक्रवेध, लययोग, भूतविजय, कुंडलिनीसाधन, विपरीतकरणी, अमृतसाधन या रससाधन आदि के वर्णन मिलते हैं। गोरक्षवाणी में चक्रविधान से संबंधित उल्लेख तीन स्थलों पर मिलते हैं, फिर भी उनमें अनेकरूपता और भिन्नता होने के कारण गोरक्षानाथनुमोदित चक्रविधान का कोई एक निश्चित रूप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। तांत्रिक चक्रयोजना से भी भिन्नता दिखाई पड़ती है। गोरक्षनाथ ने अपनी वाणियों में कुंडलिनी साधन का भी उल्लेख किया है। उन्होंने ध्यान की अपेक्षा आंतरिक ध्यान अथवा ज्योतिर्ध्यान का विधान किया है। उनकी

बाह्य ध्यानक्रिया यत्नज और परिश्रमसाध्य नहीं है। वह सहज एवं जीवन की सामान्य क्रियाओं में भी अनुस्यूत है। समाधि समरसावस्था है। इसके अनेक पर्यायों तथा तद्गत विचारों की विस्तृत विवृत्ति गोरखबानी में हमें मिलती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गोरक्ष का हठयोग राजयोग का पूरक है और हठयोग समन्वित राजयोग, दूसरे शब्दों में योगयुक्त ज्ञान, के साधन से वे कायसिद्धि या पिंडसिद्धि या सिद्धदेह या इच्छामृत्यु की सिद्धि के साथ पिंडपद का परमपद में समरसीकरण अथवा नाथस्वरूप से अवस्थान की उपलब्धि करना चाहते हैं।

तेरहवाँ परिच्छेद

गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में भाषा, शैली तथा विविध प्रवृत्तियाँ

गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं का परिचय हम पहले एक परिच्छेद में दे चुके हैं। इन रचनाओं की भाषा-शैली पर विचार करने के लिए इन रचनाओं की प्रामाणिकता पर भी विचार अपेक्षित है, यद्यपि उसकी ओर संकेत हम उक्त परिच्छेद में पहले ही कर चुके हैं। यह आवश्यक नहीं है कि कवि जिस काल का हो, उसकी रचना की भाषा भी उसी काल की हो। इसलिए गोरक्षनाथ की रचनाओं का कालनिर्धारण भी करना आवश्यक है। प्रयुक्त भाषा के स्वरूप के आधार पर भी यह कार्य संभव हो सकता है। इस सम्बन्ध में अनेक मत मिलते हैं—1. गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाएँ 14वीं शताब्दी के बाद की हैं। 2. उनकी भाषा सधुक्कड़ी भाषा है। 3. उसमें अनेक प्रादेशिक भाषाओं अथवा बोलियों का मिश्रण मिलता है। 4. सबदियों की भाषा का मूलाधार खड़ी बोली और राजस्थानी है तथा पदों की भाषा पुरानी ब्रज। इनमें कुछ पुरानी भाषाओं अथवा पूर्ववर्ती भाषाओं के रूप अथवा प्राचीन शब्दरूप भी मिलते हैं। इन्हीं से मिलते-जुलते अनेक मत उद्धृत किए जा सकते हैं।

सबसे पहले प्रामाणिकता पर ही विचार कर लेना चाहिए। डॉ० रांगेय राघव ने प्रयुक्त भाषा के स्वरूप पर उतना विचार नहीं किया जितना रचनाओं की प्रामाणिकता पर। उन्होंने रचनाओं का परिचय देकर उसके आधार पर पाँच बातें बताई हैं—1. भाषा अन्य सिद्धों की कविता जैसी नहीं है। 2. संस्कृत का प्रयोग अपने भ्रष्ट रूप में भी है। 3. अनेक बोलियों का उसमें पुट मिश्रित है। 4. कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के भी भ्रष्ट रूप मिलते हैं। 5. भाषा सधुक्कड़ी है।[1] इनमें से तीसरे से लेकर पाँचवें तक के विचारबिन्दु विशेष विचारणीय हैं। उन्होंने तीसरे बिन्दु की व्याख्या में कहा है कि इसमें हिन्दी के अनेक रूप मिले हुए दिखाई देते हैं। जाइबा, गाइबा से लेकर करता, कथंता तथा जोइ, होइ सबकी बहुतायत है, जिसको देखकर रूप स्थिर करना कठिन दिखाई देता है। उन्होंने उसमें खड़ी बोली, राजस्थानी और ब्रजभाषा के प्रयोगों के दर्शन किए। साथ ही उन्होंने पुरानी बंगला, भोजपुरी, पंजाबी के भी प्रयोगों की ओर संकेत किया है। नेपाली के प्रयोग किस विद्वान् ने देखे हैं, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। सधुक्कड़ी के प्रयोगों की अधिकता होने

1. *गोरखनाथ और उनका युग, डॉ० रांगेय राघव,* पृ० 191.

के कारण उन्होंने उदाहरण भी दिए। सारांशत: उनका मत है कि गोरखवाणी की भाषा उस युग की कदापि नहीं है जिसमें गोरखनाथ हुए थे। उनके अनुसार गोरख की भाषा आल्हा के समान बदल गई है। अत: इनमें से कोई भी रचना गोरखनाथ की नहीं है परन्तु यह भी याद रखना आवश्यक है कि शिष्यों ने गुरुवचनों को अत्यन्त सहेज कर रखने का प्रयत्न किया है। इन आधारों पर उनके तीन तथ्य हैं—(1) गोरख की बात बचाने का प्रयत्न किया गया। (2) उसके लिए शिष्यों के प्रयत्न भी उसमें मिल गए। (3) विचारों और अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से जो संभाव्य प्राचीन तथा अछूती रचना मिलती है, उसी को प्राचीन मानना पड़ेगा कि गोरखनाथ की रचना उसका कोई मूल स्वरूप होगी।[1] प्रामाणिकता के विचार के अपने निकष प्रस्तुत करने के बाद उन्होंने उन रचनाओं अथवा छन्दों को प्रामाणिक नहीं माना जिनमें गोरखनाथ के नाम के पूर्व 'श्री' अथवा 'जी' लगा हुआ है। इसी प्रकार इस्लाम के प्रभाव से ग्रस्त, परवर्ती व्यक्तियों अथवा शिष्यों के नामोल्लेख से युक्त (जैसे भरथरी, गोपीचंद आदि), अपने को आदर्श रूप में प्रस्तुत करनेवाली रचनाएँ, बजरी-अमरी के शाक्त प्रभाव की ओर संकेत करनेवाली रचनाएँ, गोला-बारूद-पलीता, नाल आदि का उल्लेख करनेवाली रचनाएँ, रावल जैसे परवर्ती योगिसंप्रदायों का उल्लेख करनेवाली रचनाएँ भी परवर्ती हैं, अर्थात् गोरक्षनाथ की लिखी नहीं है। उपर्युक्त कसौटियों पर कसकर उन्होंने 36 सबदियों, 11 पदों, नरवैबोध, आत्मबोध, सप्तवार, सप्तवारनवग्रह, व्रत, पंचअग्नि, रहरासि, मछींद्र गोरखबोध, गोरष गणेश गुष्टि, गोरष दत्त गुष्टि, महादेव गोरष गुष्टि, सिस्ट पुराण, दयाबोध, नरवैबोध, रोमावली, अष्टमुद्रा, चौबीस सिद्धि, अष्टचक्र, प्राणसंकली, पन्द्रह तिथि, ग्यान तिलक, पंचमात्रा, सिष्यादरसन, अभैमात्राजोग, बतीस लछन या अप्ट पारछया आदि रचनाओं को गोरखरचित नहीं माना है। निष्कर्षत: उनका मत है कि 'गोरखनाथ के नाम से चलनेवाली रचनाओं में आज बहुत कम के विषय में कहा जा सकता है कि उनकी मूल रचनाओं का रूप निश्चय से सद्यप्राप्त रचनाओं का ही कोई पुराना स्वरूप रहा होगा।'[2] तदुपरान्त उन्होंने गोरखबानी की रचनाओं की भाषा की सामाजिक भूमिका और ऐतिहासिक महत्व पर अपने विचार व्यक्त किए। भाषा का विवेचन-विश्लेषण छूट गया।[3]

डॉ० रांगेय राघव के उपयुक्त विवेचन पर विचार करने पर बहुत कम बातें हाथ लगती हैं और वे भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। गोरखबानी की भाषा मिश्रितभाषा है तथा उनकी रचनाओं में उनकी मूल रचना कौन सी और कितनी है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता—ये ही दो विचार मिलते हैं। सधुक्कड़ी भाषा के स्वरूप के विषय में डॉ० रांगेय राघव पूर्णत: मौन हैं।

1. *गोरखनाथ और उनका युग, डॉ० रांगेय राघव,* पृ० 191-193.
2. *वही,* पृ० 193-201.
3. *वही,* पृ० 202-205.

डॉ० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ की रचनाओं की प्राचीनता पर विचार कर उनकी भाषा पर भी अपना मत व्यक्त किया था। उन्होंने माना था कि इनमें प्राचीनता के चिह्न मिलते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने ससिहर, महियल, पयाल शब्दों को प्रस्तुत किया। अम्हें, तुम्हें आदि सर्वनाम भी गोरक्ष की रचनाओं में मिलते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश की 'हि' विभक्ति गोरक्ष की रचनाओं में 'इ' के रूप में कहीं सप्तमी का कार्य करती दिखाई देती है (जैसे कौणे चेतनि मन उनमनि रहे) और कहीं करण का कार्य करती दिखाई पड़ती है। (जैसे जल कै संजमि अटल अकास); किन्तु सारी रचनाओं के आधार पर उनका निष्कर्ष था कि वे रचनाएँ उतनी प्राचीन नहीं जान पड़तीं जितनी अर्वाचीन।[1] मराठी 'चै' के दर्शन के अतिरिक्त उन्होंने बौद्ध चर्यापदों में आए 'रुँधेला', 'आइला', 'भइला' आदि प्रयोगों के समान ही 'पाइला', 'भेंटीला', 'भइला' प्रयोगों को भी गोरखबानी में देखा। इसी प्रकार गुजराती 'नी' (पलायनी डीबी) है तथा राजस्थानी प्रयोग (हबकि न बोलिबा.......गोरषरांव) भी कम नहीं है। ऐसे प्रयोगों वाले बौद्ध चर्यापदों को वे डॉ० शहीदुल्ला के समान 8वीं सदी की रचना नहीं मानते। अत: उन्होंने निष्कर्ष दिया है कि प्राचीनता के चिह्न होने पर भी जिस रूप में गोरखनाथ की रचना हमें प्राप्त हुई है, वह उतनी पुरानी नहीं कही जा सकती।[2] उनका स्पष्ट मत है कि गोरखनाथ के उपदेशों के प्रचार के इच्छुक उनके अनुयायी जहाँ-जहाँ गए, वहाँ-वहाँ के लोगों के लिए उनके उपदेशों को बोधगम्य करने के उद्देश्य से उनकी रचनाओं में देशकालानुसार फेरफार करते रहे। इसी से जिस रूप में हमें वह आज मिलती है उसमें कई प्रान्तों की भाषाओं का प्रभाव देख पड़ता है।[3] गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं की भाषा के सम्बन्ध में डॉ० बड़थ्वाल का इतना ही मत उपलब्ध है जिसमें उन्होंने सधुक्कड़ी भाषा का तो नाम तक नहीं लिया और न राजस्थानी, खड़ीबोली, ब्रजभाषा आदि से उसका सम्बन्धस्थापन ही किया।

पं० रामचंद्र शुक्ल ने गोरख गणेश गोष्ठी, महादेव-गोरख संवाद, गोरखनाथजी की सत्रह कला, गोरखबोध, दत्तगोरखसंवाद, योगेश्वरी साखी, नरवइ बोध, विराट पुराण, गोरखसार, गोरखनाथ की बानी ग्रंथों को गोरक्ष की रचना नहीं माना, अनुयायी शिष्यों की रचना माना। उनके अनुसार गोरक्षनाथ के समय में प्राकृत या अपभ्रंश शब्दों के थोड़े-बहुत मेल की भाषा का व्यवहार लिखने-पढ़ने में होता था। 'नरवइ बोध' नामक पुस्तक में उन्होंने इस प्रकार की भाषा का दर्शन किया। उसकी भाषा में अपभ्रंश का आभास है। इसी प्रकार उन्होंने 'साखी' और 'बानी' में गोरक्ष की कुछ रचना होने की

---

1. *योग प्रवाह,* पृ० 62.
2. *वही,* पृ० 62-64.
3. *वही,* पृ० 64.

संभावना व्यक्त की है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि शुक्लजी की दृष्टि में नरवइ बोध और साखी अथवा सबदी की रचनाएँ पुरानी कही जा सकती हैं और उनकी भाषा भी पुरानी है साथ ही उनमें से कुछ गोरक्षनाथ की भी हो सकती है। इन रचनाओं की भाषा के सम्बन्ध में भी उनका मत स्पष्ट है। वे मानते हैं कि गोरक्षनाथ ने अपने पंथ का प्रचार देश के पश्चिमी भागों में—राजपूताने और पंजाब में—किया। दूसरे गोरक्षनाथ चाहे विक्रम की 10वीं शताब्दी में हुए हों चाहे 13वीं में, उनका मुसलमानों से परिचित होना अच्छी तरह माना जा सकता है; क्योंकि उन्होंने अपने पंथ का प्रचार पंजाब और राजपूताने की ओर किया। उपर्युक्त दोनों तथ्यों के आधार पर उनकी स्थापना है कि नाथयोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्यभाषा से, जिसका ढाँचा नागर-अपभ्रंश या व्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी भाषा' का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिये राजस्थानी था।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि सधुक्कड़ी वह भाषा है जिसका ढाँचा खड़ी बोली लिये राजस्थानी हो। दूसरे मुसलमानों या हजरत मुहम्मद या इस्लाम के संदर्भ वाली रचनाएँ भी गोरक्षनाथ की हो सकती है। गोरक्षनाथ की इन रचनाओं में पंजाबी, खड़ी बोली, राजस्थानी के प्रयोगों की अधिकता होनी चाहिए।

गोरखनाथ की तथाकथित रचनाओं की तथाकथित भाषा सधुक्कड़ी के भाषावैज्ञानिक पक्ष पर भी लोगों ने विचार किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूलाधार शुक्लजी के ही निर्देश हैं। डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने मुख्य रूप से भक्तिकाल के ईषत्पूर्व की उन रचनाओं की भाषा पर विचार किया है जो ब्रजभाषा की भूमिका प्रस्तुत कर सकती हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में भक्तिकाल प्रमुख है और जहाँ तक सधुक्कड़ी का प्रश्न है, उन्होंने मुख्य रूप से संतों की रचनाओं की भाषा के संदर्भ में उसपर विचार किया है। शुक्लजी के वाक्याशों के आधार पर उन्होंने सधुक्कड़ी और खड़ी बोली को समानार्थी माना है। इसी प्रसंग में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि गोरखनाथ का समय यदि 9वीं शताब्दी माना जाय तो भी उनके नाम की कही जानेवाली रचनाओं का समय 13वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता; क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होतीं।[3] वे यह भी मानते हैं कि डॉ० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ की जिन 13 रचनाओं को प्रामाणिक माना है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली अवश्य है किन्तु उसमें पूर्वी का प्रभाव भी कम नहीं है। कहीं-कहीं पूर्वी का यह प्रभाव बहुत प्रबल है। किन्तु इस प्रभाव के आधार पर गोरक्षनाथ का सम्बन्ध पूर्वी प्रदेश से नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि कुछ वाक्यों में घोर राजस्थानी प्रभाव भी देखा जा सकता है। फिर भी भाषा का खड़ी बोली का ढाँचा बहुत स्पष्ट है। इसके साथ ही काव्य की

1. *हिं० सा० इ०*, पृ० 18-19.
2. *वही*, पृ० 13, 15, 18.
3. *सूर-पूर्व ब्रजभाषा और साहित्य, डॉ० शिवप्रसाद सिंह*, पृ० 135.

भाषा ब्रजभाषा के प्रयोग भी मिलते हैं। इसके प्रमाण के लिए डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने गोरखनाथ का एक पद भी गोरखबानी से उद्धृत किया है।[1] शुक्लजी ने इस ब्रजभाषा प्रयोग की ओर संकेत नहीं किया था किंबहुना, उन्होंने तो गोरक्षनाथ की कही जानेवाली रचनाओं की भाषा को खड़ी बोली या सधुक्कड़ी ही माना था जो ब्रजभाषा से भिन्न थी।

उपर्युक्त आधारों पर डॉ० सिंह के निष्कर्षों का यदि विश्लेषण किया जाय तो कुछ महत्वपूर्ण बातें कही जा सकती हैं। जब तक गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं का कोई और प्राचीन और प्रामाणिक हस्तलेख प्राप्त नहीं हो जाता तब तक गोरखबानी की उन 13 रचनाओं को गोरखनाथ की रचना का विकसित रूप स्वीकार किया जा सकता है। इन रचनाओं की भाषा में यद्यपि वैविध्य है तथापि सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा खड़ी बोली का आरंभिक रूप है। वैविध्य को देखने से यह स्पष्ट होता है कि यह भाषा अभी अपने स्थिर रूप को नहीं प्राप्त कर सकी थी। पदों में गोरखनाथ ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया। खड़ी बोली नई भाषा थी अत: नए विचारों, रूढ़ि-विरोध, खंडन, पाखंड-विरोध आदि के लिए इस नई भाषा का ही उन्होंने प्रयोग किया। यदि काल की दृष्टि से विचार करें तो गोरक्षनाथ के काल में अर्थात् 19वीं शताब्दी में अपभ्रंश का प्रयोग-बाहुल्य था यद्यपि यह भी सत्य है कि स्वयं अपभ्रंश में ही कुछ शब्दों के खड़ी बोली की प्रकृति के रूप दिखाई पड़ते हैं; किन्तु डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती एवं मराठी प्रयोगों के कारण के सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया। इसी प्रकार बोलिबा, हँसिबा, गाइबा जैसे प्रयोग भी विचारणीय थे। यदि डॉ० सिंह के विचारों को हम स्वीकार करें तो यह कह सकते हैं कि गोरखबानी की सबदियों की भाषा का मूलाधार पुरानी आरंभिक खड़ी बोली है और पदों की भाषा पुरानी ब्रजभाषा। इन दोनों भाषारूपों को गोरखबानी की वर्तमान रूप में प्राप्त रचनाओं के आधार पर 13वीं शताब्दी का ही कहा जा सकता है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि आज गोरखनाथ की हिन्दी रचना का न तो मूलरूप प्राप्त है और न उनकी भाषा ही हमें मूल रूप में मिल पाई है। अन्तत: यह कहना ही पड़ता है कि रचना और भाषा का वर्तमान रूप उनके शिष्यों एवं अनुयायियों का दिया हुआ है। यह अवश्य है कि गोरखनाथ के विचार उनमें सुरक्षित हैं; क्योंकि इनकी वैचारिक एवं सैद्धान्तिक समानता भी गोरक्षनाथ की प्रामाणिक संस्कृत रचनाओं से दिखाई पड़ती है। जहाँ तक 'सधुक्कड़ी' भाषा नाम का प्रश्न है, स्पष्टतया विदित है कि शुक्लजी की तथाकथित निर्गुणवादी एवं सनातनी परंपरा से निरपेक्ष काव्यधारा के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। इसलिए उन्होंने इनकी भाषा को उपहास करने के लिए 'साधु भाषा' से हीन 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा और इस प्रकार आत्मतोष प्राप्त किया। भाषावैज्ञानिक विचारणा के अनुसार अद्यतन ज्ञान में इस प्रकार की भाषा की

1. *सूर-पूर्व ब्रजभाषा और साहित्य, डॉ० शिवप्रसाद सिंह,* पृ० 135-136 *तथा गोरखबानी,* पृ० 139-140, पद 45.

कोई सत्ता नहीं है; क्योंकि विज्ञान में ही नहीं, शुद्ध आदर्श आलोचनाओं में भी व्यक्तिगत रागद्वेष के लिए कोई स्थान नहीं है।

इतिहास लिखते समय शुक्लजी ने यह स्पष्ट किया था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य–कोटि में नहीं आतीं और योगधारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।[1] इस पर यह प्रश्न उठ सकता था कि भक्ति जब साहित्य की धारा हो सकती है, तो योग ने कौन सा अपराध किया है? जैसा कहा जा चुका है, शुक्लजी के अनुसार नाथपंथ के योगियों ने परंपरागत काव्यभाषा का, जिसका ढाँचा नागर–अपभ्रंश या ब्रज का था, प्रयोग नहीं किया। दूसरे, उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा–मात्र है; जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ।[2] उपर्युक्त शंका का उत्तर शुक्लजी ने इस रूप में दिया है। इस पर भी यह प्रश्न उठ सकता है कि इस उत्तर एवं सिद्धान्त के बावजूद शुक्लजी ने अपने साहित्येतिहास में इन नाथयोगियों एवं बौद्धसिद्धों की रचनाओं का विचार क्यों किया? इसका स्पष्टीकरण भी उन्होंने दो बिन्दुओं में दिया—1. भाषा की परंपरा, 2. सांप्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परंपरा। इतना कह लेने पर भी जैसे उन्हें संदेह हो, वे पुनः अपनी बात दृढ़तापूर्वक दुहराते हुए कहते हैं—'उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सारणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा–मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।' उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।[3] शुक्लजी के इन शब्दों से गोरखनाथ अथवा अन्य नाथयोगियों की रचनाओं की साहित्यिक स्थिति के सम्बन्ध में उनके मत का ज्ञान हो जाता है।

शुद्ध काव्य की दृष्टि से गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं का मूल्यांकन उत्साहप्रद नहीं हो सकता। सभी प्रकार की पद्यात्मक रचनाओं का मूल्यांकन एक ही मानदंड से करना अन्यायपूर्ण और असंगत दोनों है। इसलिए गोरखनाथ की रचनाओं की परीक्षा रहस्यवादी काव्यदृष्टि से की जानी चाहिए। हम पहले कह चुके हैं कि गोरक्षनाथ की साधना योगयुक्त ज्ञान को स्वीकार कर चलती है। रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा के एकात्म का जीवन–दर्शन है जो सभी भूतों अथवा जीवों में एक अव्यय तत्व को देखता है, विभक्त में उसी एक अविभक्त को देखता है और अनुभव करता है। रहस्यवादी भी सभी आध्यात्मिक और वैश्व स्तरों पर एकत्व में विश्वास करता है। वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष

---

1. *हिं० सा० इ०, रामचन्द्र शुक्ल, दो बातें।*
2. *वही,* पृ० 18–19.
3. *वही,* पृ० 19–21.

से उपलब्ध सर्वातीत आध्यात्मिक आनंद की सर्वोच्चता में विश्वास करता है और आनंदमय एकात्मक अनुभूति का सम्पूर्ण जीवन में अवतरण आवश्यक मानता है। भारतीय रहस्यवाद में मायावाद और अद्वैतवाद को अनेक रूपों में स्वीकार किया गया है। साथ ही इसमें पाँच विशेषताएँ सामान्यतया दिखाई पड़ती हैं—1. मानस की शुद्धता के प्रति तीव्र सावधानी, 2. संतुष्टि, 3. नैतिक सात्विकता के प्रति सतत जागरूकता, 4. आत्मोत्सर्ग, 5. ऐकांतिकता। इसके अंतर्गत डॉ० दासगुप्त ने ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति नामक सभी चारों साधनोपायों को अंतर्भूत कर लिया है।[1]

रहस्यवाद के भारतीय विवेचकों ने गोरक्षनाथ को रहस्यवादी माना है। हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि गोरक्षनाथ का काश्मीर शैव मत से सम्बन्ध था। म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराजजी ने पहले ही इसकी घोषणा कर दी थी। डॉ० मोहन सिंह ने गोरखनाथ को हिन्दू रहस्यवाद तथा मध्ययुगीन भाषासाहित्य का सर्वप्रथम ऐतिहासिक रहस्यवादी माना था।[2] उन्होंने अपने रहस्यवाद में योग को महत्व दिया। डॉ० आर० डी० रानाडे ने भी गोरक्षनाथ को रहस्यवादी माना।[3] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ का रहस्यवाद योगपरक रहस्यवाद है जिसका मूल हमें काश्मीर शैव मत में दिखाई पड़ता है। गोरक्ष के रहस्यवाद में हमें निम्नलिखित विशेषताएँ मिलती हैं—1. नैतिकता और संयम के प्रति दृढ़ आग्रह, 2. हठयोग साधन की प्राथमिकता, 3. ज्ञानोपलब्धि लक्ष्य, 4. तर्क, पांडित्य और शास्त्रकथन के विरोध के साथ 'रहनी' पर आग्रह, 5. ऐंद्रिक सुख का तीव्र विरोध, 6. अद्वैतानंद की उपलब्धि, 7. माया से औदासीन्य, 8. पिंडब्रह्मांड के एकात्म का संपादन आदि।[4] अर्थात् गोरक्षनाथ 'एकात्म' में विश्वास करते हैं। उनकी रचनाओं में पिंडब्रह्मांड एकत्व, आत्म-परमात्मएकत्व, अनेकता में एकता, जीवात्मशक्ति और ब्रह्मांडशक्ति, या महाशक्ति में एकत्व, पिंडशक्ति कुण्डलिनी और ब्रह्मांडशक्ति महाकुंडलिनी में एकत्व, नाद अनाहत नाद और मूल नाद प्रणव में एकत्व आदि इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। मनुष्य की मूलशक्तियों की परावृत्ति-परावर्तन (अथवा रिवर्सल) को महत्व देते हैं। मन-पवन नाम की शक्तियों के अतिरिक्त कामशक्ति (शुक्र) के नियंत्रण की महत्ता स्वीकार करते हैं। वस्तुतः वे कामशक्ति के 'मारण' और 'जारण' में विश्वास करते हैं। वे तर्क के स्थान पर अतींद्रिय प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं। उनका जो 'प्रत्यक्ष' है, उसमें भी बुद्धि, विवेक, चिंतन और मनन की प्रधानता है। मूलतः गोरक्षनाथ विवेकवादी रहस्यवादी हैं।[5]

---

1. *नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन,* पृ० 554-555, 565; *हिंदू मिस्टिसिज़्म, डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, प्रीफेस,* पृ० 7-11.
2. *ना० सं० सा०,* पृ० 561.
3. *पाथवे टु गॉड, आर० डी० रानाडे।*
4. *विस्तार के लिए द्रष्टव्य—'नाथ और संत साहित्य,'* पृ० 565-570.
5. *विस्तार के लिए द्रष्टव्य—नाथ और संत साहित्य,* पृ० 580.

गोरक्षनाथ के रहस्यवाद के इस संक्षिप्त परिचय को उपस्थित करने का एक प्रयोजन है। इसके आधार पर उनकी हिन्दी की परीक्षा रहस्यवादी काव्यदृष्टि से की जा सकेगी। रहस्यवादी प्रतीक पद्धति और पौराणिक शैली (मिथॉलोजी) का प्रयोग अपनी अभिव्यक्ति के लिए करता है। यही रहस्यवादी की भाषा है। रहस्यवादी काव्य में हृदय के धर्म को उक्त दोनों पद्धतियों से मोहक आवरण प्रदान किया जाता है। रहस्यवाद के अनुसार रहस्यानुभूति 'गूँगे का गुड़' है। असीम का ससीम साधन से निर्वचन करने के लिए संकेत ही एकमात्र सहायक हो सकता है। इस प्रकार रहस्यवाद धर्म और काव्य में भी एकत्व का दर्शन करता है। इसीलिए इसमें धार्मिक प्रतीकों का सर्वाधिक उपयोग होता है। इसके बाद लोकपरंपरा और अन्ततः सबसे कम काव्यपरंपरा से गृहीत प्रतीकों का स्थान है।

यदि गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं में उक्त दोनों पद्धतियों का विचार करें तो उनमें पौराणिक कथायोजना का अभाव दिखाई पड़ता है। योग सम्बन्धी प्रतीकों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। उन्होंने लोकजीवन से भी कुछ प्रतीकों को चुना है; किन्तु काव्य परंपरा से गृहीत प्रतीकों का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। उनके कुछ प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण प्रतीक निम्नलिखित हैं—

गुदड़ी=काया (सबदी 40), अहुठ पटण =काया (43),
हीरा= परमतत्व (60), पंचदेव=मन (112),
गाय=परमानुभूति (196), कागद=उपनिषद् (196),
कामधेनु=परमानुभूति अथवा आध्यात्मिक अनुभूति (207)

× × × ×

गाय=आत्मा (पद 20), बछड़ा=नवरंध्र (पद 20),
मृग= मन (26), भील=आत्मा (26),
नगर=शरीर (27), गढ़=शरीर (27),
बाघिन=कामिनी (43), सर्पिणी=माया (45),
कंबली=निर्लिप्त कर्म (47) पानी=सांसारिक कर्म (47),
गागर=कुंडलिनी (47), पनिहारिन=आत्मा (47),
बछड़ा=मूलाधार स्थित सूर्य (51), खीर=दूध=अमृत (51),
आम=माया (56), कोयल=मनोवृत्ति (56)।

स्पष्ट है कि ये सभी प्रतीक लोकजीवन से ग्रहण किए गए हैं। इनमें से कुछ, जैसे कामधेनु का चयन पौराणिक स्रोत से किया गया है। इन प्रतीकों से पर्याप्त विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है जिसके लिये यहाँ अवसर नहीं है। इनके अर्थ आध्यात्मिक एवं योगपरक हैं। इनका सम्बन्ध विभिन्न योगक्रियाओं एवं फलों से है। ऊपर दिए गए

प्रतीकार्थों पर मतभेद भी हो सकता है; क्योंकि उलटबासियों से चयन किए गए प्रतीकों के अर्थ पर इदमित्थं नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक पौराणिक कथायोजना का प्रश्न है, गोरक्षनाथ ने स्वयं पौराणिक सिद्धान्तों, विचार सरिणियों एवं विश्वासों का विरोध किया है; किन्तु औपम्यविधान के क्रम में कहीं-कहीं आंशिक रूप में उनका उपयोग अवश्य किया है। माया ने अनेक रूपों में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव को किस प्रकार छला, इसकी कथा कहने की आवश्यकता गोरक्ष ने नहीं समझी, केवल संकेत कर दिया।[1] इसी प्रकार के कुछ और संकेत भी ढूँढ़े जा सकते हैं।

तांत्रिक साहित्य में एक विशेष प्रकार की शैली का प्रयोग मिलता है जिसके विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न नाम प्रचलित हैं। बौद्धसिद्ध साहित्य में संधा भाषा के नाम से इसकी प्रसिद्धि है। मैंने अन्यत्र इस विषय पर विस्तार से लिखा है। इस प्रकरण पर अन्य विद्वानों ने भी अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। फिर भी विषय की उपयोगिता को देखते हुए यहाँ भी गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं को ध्यान में रखकर संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि गोरक्षनाथ की साधना पर तथा साथ ही साथ नाथसंप्रदाय पर तांत्रिक मत और साधना का गहरा प्रभाव था। नाथसंप्रदाय के विविध ग्रंथ तो नाथों को ही तंत्रों का भी पुरस्कर्ता मानते हैं। भारतीय तंत्र साहित्य एवं साधना में अधिकारभेद का सर्वाधिक महत्व है। इसलिए अनधिकारी को उच्चतर साधन के रहस्यों का ज्ञान देना निषिद्ध है। अतः गोपन की प्रवृत्ति भी इस रूप में, तंत्रसाधना में मिलती है। अर्थात् उनके सारे क्रियाकलाप, सिद्धान्त, साधना और दर्शन अधिकारभेदवाद पर आधारित हैं। यहाँ सब कुछ अधिकारी के लिए है, अनधिकारी के लिए कुछ भी नहीं। इसके अधिक स्पष्टीकरण के लिए उनके आचार-सिद्धान्त की ओर संकेत किया जा सकता है। उनके यहाँ सामान्यतः, तीन आचार माने गए हैं। इन्हें तीन भावों के रूप में लोग स्वीकार करते हैं। डायसन जैसे विद्वानों ने अधिकारभेदवाद और गुरुवाद के तत्व को उपनिषदों में स्वीकार किया है।[2] उपनिषद् वेद के सार हैं। तांत्रिक साधना और दर्शन अपनी मूल भित्ति वेदों को ही मानते हैं। वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वैदिक क्रियाओं की सहायता लेते हैं। तांत्रिक साधनापद्धति वैदिक साधना और क्रिया का सरल संक्षेप है। तांत्रिक साधना और साहित्य वैदिक क्रियाओं के आंतरिक अर्थों पर जोर देते हैं और उन्हें थोड़े में सुरक्षित रखते हैं, जिससे वे शब्द उसमें सुरक्षित रहस्यों के लिए प्रतीक जैसा कार्य करने लगते हैं। यदि वैदिक साधना में प्रतीकों के आंतरिक अर्थों पर ध्यान न दें तो वे सारी क्रियाएँ शिशुक्रीड़ा हो जाएँगी। निष्कर्ष यह कि भारतीय तांत्रिक साहित्य में वैदिक साहित्य के बहुत से प्रतीक अपनी पूरी अर्थवत्ता के साथ सुरक्षित हैं। अनेक स्थलों पर तो वैदिक

1. *गो० बा०*, पृ० 35, *सबदी* 101.
2. द *फ़िलॉसफ़ी ऑव द उपनिषद्स, डायसन*, पृ० 12, 10-15.

प्रतीकों का विकास भी मिलता है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि साहित्येतिहास की दृष्टि से वैदिक साहित्य से लेकर तांत्रिक साहित्य अथवा 10वीं ई० शताब्दी के बाद तक के साहित्य में भी साधनात्मक भाषा का प्रयोग मिलता है।

इस प्रकार के साहित्य में धर्म, दर्शन और साधना की प्रधानता होने के कारण तीन बातें मिलती हैं—शुद्ध उपदेश, सिद्धान्त परिचय और आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति। जहाँ कहीं इसमें किसी विशेष आचार के लिए उपदेश दिया गया है, जो जनसामान्य के लिए अनुपयुक्त और अनुकरणीय है, वहाँ पारिभाषिक पदावली के साथ-साथ अप्रचलित अथवा सीमित वर्ग में प्रचलित शैली का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की शैली में भी रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों, विपरीत लक्षणा, विपर्यय, विरोधाभास आदि का बहुलता से सहयोग मिलता है। आध्यात्मिक अनुभव की अलौकिकता के कारण उसे लौकिक भाषाशैली में व्यक्त करना कठिन है। इसलिए इस प्रकार की रचनाओं की भाषा-शैली में वैशिष्ट्य और वैचित्र्य का परिलक्षित होना स्वाभाविक है। इस प्रकार की भाषा-शैली के संधाभाषा के अतिरिक्त समाधिभाषा जैसे नाम भी मिलते हैं। गोरक्ष की हिन्दी-रचनाओं की भाषा-शैली को विशेषकर उलटबाँसी रचनाओं की भाषाशैली को इसी परंपरा का माना जा सकता है। बौद्ध परंपरा में इनका प्रयोग तो मिलता ही है, साथ ही शैव तांत्रिक परंपरा में भी इनका प्रयोग मिलता है। पहले हम काश्मीर शैव मत और तंत्र से गोरक्षनाथ का सम्बन्ध बतला चुके हैं। अतः इस प्रकार की भाषाशैली के इस परंपरा में प्रयोग के कुछ संकेतों को भी उपस्थित करना आवश्यक है।

तांत्रिक साधना में, जैसा पहले कहा गया है, सामान्यतया तीन प्रकार के आचार अथवा भाव माने गए हैं—पश्वाचार, वीराचार और दिव्याचार। इनमें क्रमिक विकास स्वीकृत है। इनमें दिव्याचार सर्वश्रेष्ठ है। इनके, शास्त्रीय ग्रंथों में, प्रत्येक की साधना के लिए अलग अलग विधान है और एक-एक शब्द के, आचार के अनुसार कई अर्थ बताए गए हैं। शिव अथवा पार्वती के स्तोत्र ग्रंथों में कभी-कभी उच्चकोटि की काव्यात्मकता और कल्पना का निदर्शन मिलता है। तांत्रिक साहित्य में वीराचार और दिव्याचार के साधकों के लिए प्रायः एक ही स्तुतिग्रंथ मिलता है। प्रत्येक आचार का साधक अपनी-अपनी अवस्था के अनुसार अर्थग्रहण कर अपनी भावनाशक्ति का उद्दीपन करता है। कर्पूरादिस्तोत्र जैसे ग्रंथों में इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग है जिसका अर्थ दोनों आचारों में संगत है; किन्तु सामान्य सांसारिक आचार की दृष्टि से उनका अर्थ अशोभन-सा लगता है। पंचमकारों का अर्थ तीनो आचारों के लिये भिन्न-भिन्न है। इस स्तोत्र में वीराचाररत भक्त साधक के लिए टीका के अनुसार 'नक्त' का सामान्य अर्थ

1. *फ़िलॉसफ़ी ऑव द हिंदू साधना, श्री नलिनिकान्त ब्रह्म,* पृ० 278-279.

'रात्रि' तथा 'रतासक्त' का अर्थ मैथुनरत है किन्तु दिव्याचाररत भक्त साधक के लिए दोनों का अर्थ भिन्न है। यहाँ 'नक्त' का अर्थ सामान्य न होकर वह रात्रि है जो ब्रह्मविद्या के लक्षणों से युक्त होती है तथा अन्य सभी प्राणियों के लिए वह निशा होती है। 'रति' का अर्थ है 'नित्य युवती रूपवाली' कुलकुंडलिनी के साथ जीवात्मा को परमात्मा में लीन करना—

> **समन्तादापीनस्तनजघनधृग् यौवनवती—**
> **रतासक्तः नक्तं यदि जपति भक्तस्तव मनुं।**
> **बिवासास्त्वां ध्यायन् गलितचिकुरस्तस्य वशगाः**
> **समस्ताः सिद्धौघा भुवि चिरतरं जीवति कविः ॥**[1]

इससे स्पष्ट है कि धार्मिक-आध्यात्मिक साधना में इस प्रकार के पंचमकारों के प्रयोग सामान्य दृष्टि गर्हित होते हुए भी विशिष्ट अर्थों में विभिन्न आचारों में गर्हित नहीं हैं। अर्थात् तांत्रिकों में जनसामान्य में प्रचलित गर्हित अर्थवाले शब्दों का प्रयोग कर इनसे अपना विशिष्ट अभिप्रेत्य अर्थ लेने की शैली प्रचलित थी। उपर्युक्त श्लोक में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जिससे सम्पूर्ण श्लोक की अर्थपरंपरा बदल जाती है। इस स्तोत्र के 'भक्त', 'महाकालसुरता', 'जननि', 'पुरहरवधू' आदि शब्दों को ध्यान में रखा जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषाशैली में सामान्य शब्द भी, कुछ विशिष्ट शब्दों के सम्पर्क से, अपना सामान्य अर्थ छोड़कर सामान्य से भिन्न साधनात्मक अर्थ देने लगते हैं। गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं की भाषाशैली को इसी परंपरा में ग्रहण करना चाहिए।

वैसे अभी तक गोरक्षनाथ की भाषाशैली का विचार करने के लिए इतिहासकार और विवेचक बौद्धसिद्ध साहित्य में प्रयुक्त संधाभाषा का विवेचन करते रहे हैं और इसका कारण यह है कि वे लोग यह सिद्ध करते रहे हैं कि बौद्धसिद्धों की ही परंपरा में आगे चलकर नाथसिद्धों का अथवा नाथ संप्रदाय का विकास हुआ तथा गोरक्षनाथ और मत्स्येंद्रनाथ मूलतः बौद्ध थे और बाद में शैव हो गए। पिछले परिच्छेदों में हम इस प्रकार की स्थापनाओं को असिद्ध कर चुके हैं। रहस्यवादी साहित्य में तर्क और शास्त्र को महत्व नहीं दिया गया है। अतः प्रायः इस प्रकार के गुह्य विशिष्ट आध्यात्मिक वचनों के अर्थ भी शास्त्रार्थी एवं तार्किक विद्वानों के लिए बोधगम्य नहीं हो सकते; क्योंकि इनका मूलस्रोत स्वानुभूति अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा प्रातिभ ज्ञान है। इसीलिए ऐसी रचनाओं में ऐसे पंडितों एवं विद्वानों को अर्थ 'बूझने' और 'खोलने' के लिए ललकारा गया है। यह प्रवृत्ति बौद्धों तथा अन्य रहस्यसाधकों की रचनाओं में सामान्य रूप से

---

1. *तांत्रिक टेक्स्ट्स, वा० 9, कर्पूरादिस्तोत्र, सं०आर्थर एवेलेन, मूल श्लोक* 10. *टीका भी द्रष्टव्य,* पृ० 16-18.

मिलती है; किन्तु दूसरे विवेचक इसे गोरक्षनाथदि का अहंकार मानते हैं अथवा जानबूझकर सामान्य अपढ़ जनता को चमत्कृत करने के लिये प्रयत्न-साध्य रचना मानते हैं। बौद्धसिद्धों की इस प्रकार की संधाभाषा का विस्तृत विवेचन मैंने अन्यत्र किया है।[1]

वस्तुत: संधाभाषा आभिप्रातिक वचन है। विभिन्न अर्थों में से यही अर्थ सर्वथा संगत है और स्वीकृत है। इसमें भी कुछ प्रतीक लोकजीवन से गृहीत हैं और कुछ परंपरा से प्राप्त हैं। पंचमकारों से संबद्ध प्रतीक भी पारंपरिक हैं। कुछ बौद्धस्रोत से ग्रहण किए गए हैं। बौद्धसिद्धों के चर्यापदों और दोहों को देखने से ऐसा स्पष्ट होता है कि इनमें प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है जिसके सहायक रूप में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार इस तरह की शैली में दो प्रकार की पद्धति मिलती है। प्रथम में तो सामान्य सिद्धान्त कथन अथवा अनुभवकथा न्यूनाधिक पारिभाषिक शब्दों के सहयोग से किया गया है और दूसरे में किसी आध्यात्मिक अथवा साधनात्मक तथ्य अथवा अनुभव को उद्भासित करने के लिए विरोधाभासमूलक शब्दयोजना का अवलम्बन किया गया है। बौद्धसिद्धों की रचनाओं की टीका में दोनों पद्धतियों को संधाभाषा के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है।

उलटबाँसियों को विपर्ययमूलक अथवा विरोधाभासप्रधान शैली के अन्तर्गत ग्रहण किया जाना चाहिए, पूरी संधा भाषा के अन्तर्गत नहीं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी ने संत साहित्य के प्रसंग में उलटबाँसियों पर विचार किया है। डॉ० द्विवेदी का मत है कि सम्पूर्ण साधनात्मक जीवन और दर्शन में सांसारिक से विपरीत प्रक्रिया अथवा पद्धति को स्वीकार करने के कारण ही उनकी शैली इस प्रकार की हो गई है। नाथों के दर्शन और साधनात्मक आदर्श में ही इसके मूल विद्यमान हैं। उन्होंने हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता जैसे ग्रंथों में उपमान रूप में प्रयुक्त भ्रमरमत्त गजेंद्र, सिंह, गज, व्याघ्र, बिल, शिकारी, कल्पलता सूर्य, वरुण, गंगा, चंद्र, यमुना, असी, शून्यपदवी, राजपथ, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग, ब्रह्मनाड़ी, सरस्वती, कुटिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुंडली, अरुन्धती, बालरंडा, सोमरस, अमरवाणी, त्रिवेणी, शून्य, कमल, कूप, गगन आदि शब्दों का संग्रह कर उनकी व्याख्या की है। वस्तुत: इनमें अनेक प्रतीक हैं और अधिकांशत: धार्मिक और साधनात्मक परंपरा से ग्रहण किए गए हैं जो उपमा से विकसित होकर प्रतीक की स्थिति तक पहुँच गए हैं। उन्होंने सांकेतिक शब्दों (प्रतीकों) के अभिप्रायों को विभिन्न सांप्रदायिक टीकाओं के आधार पर खोलने की चेष्टा की है।[2] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने उलटबाँसी शब्द के अनुमित अर्थ को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उन्होंने वैदिक साहित्य तक में इसकी प्रयोग-पद्धति के स्रोतों को खोज निकाला है। नाथों ने इसी प्रकार

---

1. *तां० बौ० सा० सा०, पृ० 300-302.*
2. *कबीर, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी,* पृ० 80-94.

की शैली के लिए 'उलटी चरचा', 'अमृतवाणी', 'सिद्धसंकेत' जैसे शब्दों का प्रयोग अपनी हिन्दी रचनाओं में किया है।[1] गोरक्षनाथ की उलटबाँसियों में गृहीत प्रतीक एवं पारिभाषिक शब्द योग के क्षेत्र से अधिक ग्रहण किए गए हैं, लोकजीवन से कम। उन्होंने उन्हें लेकर जो रूपकयोजना की है, वह भी सांग, पुष्ट और दूरगामी नहीं है। पिंडब्रह्मांडवाद सम्बन्धी विचार मूलाधार के रूप में दिखाई पड़ते हैं। कायागढ़ अथवा नगर वर्णन में अवश्य सादृश्यमूलक रूपकयोजना अपेक्षाकृत अधिक सफल है। इस प्रकार की शब्दावली के माध्यम से उन्होंने अंतस्साधना, आंतरिक जीवन, रहस्यसाक्षात्कार, परावर्तित जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति की है। संख्यात्मक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। गोरक्षनाथ की हिन्दी-रचनाओं में उलटबाँसियों की संख्या कम नहीं है।

उन्होंने अपनी उलटबाँसियों में साधना की विभिन्न क्रियाओं और अनुभूतियों को रहस्यात्मक ढंग से व्यक्त किया है। मीन के मार्ग (योग के गुप्त मार्ग) में सूर्य (अमृत का शोषण करनेवाले) को रोकना; फूल (वृद्ध) का पुनः उलटकर कली (बालरूप) में आना; शक्ति का उलट कर ब्रह्मांड में चढ़ना (कुंडलिनी का जागृत होकर सहस्रार की ओर शिव से मिलन प्राप्त करने के लिए आरोहण करना); चंद्रमा का उलटकर राहु को ग्रसना (चंद्रमा का ही उलटकर अमृत का शोषण करनेवाले मूलाधारस्थ सूर्य को ग्रस लेना); कंबली का बरसना (निर्लिप्त कर्म का प्रबल वेग धारण करना) और जल का भींगना (सांसारिक प्रपंच में फँसानेवाले कर्म को आप्लुत कर लेना); दमामा बजता है (अनाहत नाद का अनवरत ध्वनन हो रहा है) और ऊँट पर मार पड़ रही है (स्थूल मन प्रताड़ित हो रहा है); कुत्ता घर में घुस गया है (द्रोही मन अब शरीररूपी घर में बन्द हो गया है) और चोर भूँक रहा है (आत्मज्ञान उसका पीछा कर आतंकित कर रहा है) जैसे अनेक प्रयोग गोरखबानी में बिखरे हुए हैं।[2]

जैसा हम पहले कह चुके हैं, अनेक विद्वान् गोरक्षनाथ की वाणी में रस, अलंकार, छंद आदि का विचार व्यर्थ का प्रयास मानते हैं। इसमें संदेह है कि गोरक्षनाथ ने कभी काव्यरचना का कोई प्रयास किया होगा। उनकी वाणी की प्रामाणिकता ही संदिग्ध है। फिर भी विवेचनानुरोध से तथा परवर्ती साहित्य के विवेचन के लिए यत्किंचित् विचार अपराध नहीं कहा जा सकता। यदि रस-दृष्टि से विचार किया जाय तो गोरक्षनाथ के कुछ पदों में शांतरस की झलक मिल सकती है। इसके लिए राग असावरी के अन्तर्गत संगृहीत 'तुझ परि वारी हो अणघड़िया देवा' टेकवाला पद देखा जा सकता है।[3] इस पद में शांतरस अथवा भक्तिरस का सांगनिरूपण करना कठिन है किन्तु परिवर्तनशील अनित्य संसार से

1. *कबीर साहित्य की परख,* पृ० 150-161 *तथा गो० बा०, सबदी* 63, 115, 217, *पद* 47.
2. *गो० बा०, सबदी सं०* 115, 217 *तथा पद सं०* 47.
3. *गो० बा०, पद० सं०* 48, पृ० 154.

विरक्ति तथा नित्य, सृष्टिकर्ता, पूर्ण, सर्वव्यापक तत्व के प्रति अनुरक्ति का भाव इस पद में स्पष्ट है। अंतिम चरणों में विस्मय का भाव है। कहीं-कहीं अलंकारों की सुन्दर योजना भी देखने को मिल जाती है। तत्वबेलि, कायानगर आदि के सांग रूपक इस दृष्टि से दर्शनीय हैं।[1] छंद की दृष्टि से विचार करते समय यह ध्यान रखना परमावश्यक है कि गोरखनाथ की रचनाएँ अपने मूल रूप में अभी भी उपलब्ध नहीं हैं। अतएव शिष्यों और प्रचारकों द्वारा प्रचारित रूप में उपलब्ध रूप के आधार पर छंद विचार त्रुटिरहित नहीं हो सकता। गोरखबानी में 22, 24, 26, 28, 30, 32, 36 मात्रा वाले छंदों की संख्या अधिक है। यदि 'प्राणसंकली' गोरखनाथ की रचना है तो उसमें उन्होंने चौपाई का प्रयोग किया है। सबदी में 16+16 के चार चरणों वाले कई छंद मिलते हैं। उन्होंने सबदी में 13+15=28, 13+16=29, 14+12=26, 16+12=28, 15+15=30 मात्रावाले छंदों का प्रयोग अधिक किया है। इनमें सर्वाधिक प्रयोग 16+12=28 मात्रावाले छंदों का हुआ है जिसे 'सार' छंद कहा जा सकता है। इसी प्रकार 28 मात्रा के एक अन्य छंद (13+15=28) का प्रतियों के साथ प्रयोग हुआ है।[2]

रचनापद्धति और काव्यशैली की दृष्टि से गोरक्षनाथ की रचनाओं में अनेक रूप मिलते हैं। उनकी प्राणसंकली में दोहा-चौपाई शैली का विकसित रूप देखने को नहीं मिला। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय (संभवतः 10वीं शताब्दी) में इसकी रचना हुई होगी, देशी भाषा में इस पद्धति के प्रयोग का बाहुल्य नहीं था अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने इसकी रचना कर इसका प्रचार गोरक्षनाथ के नाम से कर दिया हो। इसमें 'घत्ता' देने की प्रवृत्ति का विकास नहीं दिखाई पड़ता। संख्या को तिथि, वार, नक्षत्र और ग्रह से मिलाकर भी उनके अनुसार लिखी गोरक्षनाथ के नाम से कुछ रचनाएँ गोरखबानी में संगृहीत हैं जैसे पन्द्रह तिथि, सप्तवार, नवग्रह आदि। संख्या जोड़कर 'पदी' साहित्य की भी रचनाएँ निर्गुण साहित्य में बहुत प्रचलित हैं। गोरखनाथ ने भी अपनी एक रचना को 'षट्पदी' कहा है जिसके अन्तर्गत 6 छंद प्रतीत होते हैं। यह रचना राग रामग्री के अन्तर्गत एक पद के रूप में संकलित है।[3] उनके कुछ पदों के साथ शास्त्रीय रागों के भी निर्देश अथवा शीर्षक मिलते हैं। गोरक्षनाथ के पदों के स्रोत का विचार करते समय लोगों का विचार है कि बौद्धसिद्धों के चर्यापद ही इनके मूल हैं। पदों में उद्ग्रह, मेलापक, ध्रुव, अंतरा और आभोग नाम के पाँच भाग बताए जाते हैं। गोरक्षनाथ के पदों में टेक का निर्देश मिलता है और इसका स्थान पद के आरंभ में ही रहता है। संतों की साखियों के समान ही, उन्हीं के जैसा विवेचन और कथन करनेवाली गोरक्ष की रचनाएँ सबदी हैं। उन्हें एक हस्तलेख में 'साखी' भी कहा गया है। 'सबदी' यह संकेत करता प्रतीत होता है कि ये गुरु

1. *गो० बा०*, *पद* 17, पृ० 106-108; *पद* 23, पृ० 116; *पद* 27, पृ० 120-121.
2. *वही*, पृ० 1, *सबदी 1*; पृ० 9, *सबदी* 13; पृ० 60, *सबदी* 176.
3. *वही*, पृ० 87-88, *पद 2*.

हस्तलेख में 'साखी' भी कहा गया है। 'सबदी' यह संकेत करता प्रतीत होता है कि ये गुरु के शब्द हैं अथवा प्रमाणवचन हैं।

गोरक्षनाथ की गोष्ठी और बोध नाम वाली रचनाओं की प्रामाणिकता के विषय में विवाद है। फिर भी मछींद्र गोरषबोध को अधिक लोग प्रामाणिक मानते हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार गोष्ठियों को ही बोध भी कहते हैं।[1] गोरखबानी की गोरष गणेश गुष्टि, महादेव गोरष गुष्टि, सिस्ट पुराण, चौबीस सिद्धि, बत्तीस लछन अष्टरचक्र नामक रचनाओं में गद्यप्रयोग भी मिलता है जिसमें तुकों का भी सहारा लिया गया है। संगीत की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि गोरक्षनाथ के ये पद कभी गाए भी जाते रहे होंगे। उनके पद राम रामग्री, राग असावरी, राग रामगरी के अन्तर्गत संकलित मिलते हैं। राग रामग्री और रामगरी तो एक ही हैं। इन रागों का उल्लेख आश्चर्यचर्याचय के चर्यापदों के साथ भी मिलता है।

इस विवेचन से कुछ निष्कर्ष हाथ लगते हैं। शुद्ध काव्य की दृष्टि से गोरक्षनाथ की रचनाओं की परीक्षा से निराशा हाथ लगती है। अतः उनकी परीक्षा केवल रहस्यवादी रचना के निकष पर की जानी चाहिए जिसमें रहस्यज्ञान और रहस्यानुभूति के प्रकाशन की प्रधानता रहती है, अभिव्यक्ति कौशल की नहीं। रहस्यवादी प्रतीकशैली का विनियोजन तो आवश्यक है ही जो गोरखनाथ की रचनाओं में मिलता है। अंतस्साधना के समर्थक और प्रचारक की रचनाओं की परीक्षा बाह्याडंबर के आधार पर करने से निराशा ही हाथ लगेगी और रचना के साथ भी अन्याय होगा।

●

1. *संत काव्य, भूमिका,* पृ० 45-46.

परिशिष्ट—1

गोरखवाणी

सबदी

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अजोचर ऐसा॥
गगन-सिषर महि बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा॥1॥
अदेषि देषिबा देषि बिचारिबा अदिसिटि राषिबा चीया॥
पाताल की गंगा ब्रह्मंड चढ़ाइबा, तहाँ बिमल-बिमल जल पीया॥2॥
इहाँ ही आछै इहाँ ही अलोप। इहाँ ही रचिलै तीनि त्रिलोक॥
आछै संगै रहै जुवा। ता कारणि अनन्त सिधा जोगेस्वर हूवा॥3॥
वेद कतेब न षाँणी बाँणी। सब ढँकी तलि आँणी॥
गगन सिषर महि सबद प्रकास्या। तहँ बूझै अलष बिनाँणीं॥4॥
अलष बिनाँणीं दोइ दीपक रचिलै तीन भवन इक जोती।
तास बिचारत त्रिभवन सूझै चुणिल्यौ माँणिक मोती॥5॥
वेदे न सास्त्रे कतेबे न कुराँणे पुस्तके न बंच्या जाई॥
ते पद जाँनाँ बिरला जोगी और दुनी सब धंधे लाई॥6॥
हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग॥
हसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ करि राषि आपनाँ चीत॥7॥
हसिबा षेलिबा धरिबा ध्याँन। अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियाँन॥
हसै षेले न करै मन भंग। ते निहचल सदा नाथ के संग॥8॥
सबदहि ताला सबदहि कूँची, सबदहि सबद जगाया॥
सबदहि सबद सूँ परचा हूआ, सबदहिं सबद समाया॥9॥
गगन मँडल मैं ऊँधा कूवा, तहाँ अमृत का बासा॥
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा॥10॥
गगने न गोपंत तेजे न सोषंत पवने न पेलंत बाई॥
मही भारे न भाजंत उदके न डूबन्त कहौ तौ को पतियाई॥11॥
नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ करि राषहु चीया॥
काम क्रोध अहंकार निबारौ तौ सबै दिसंतर कीया॥12॥
थोड़ा बोलै थोड़ा षाइ तिस घटि पवना रहै समाइ॥
गगन मंडल में अनहद बाजै प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै॥13॥

अति अहार यंद्री बल करै नासै ग्याँन मैथुन चित धरै॥
ब्यापै न्यंद्रा झंपै काल ताके हिरदै सदा जंजाल॥ 14॥
धूतारा ते जे धूतै आप, भिष्या भोजन नहीं संताप॥
अहूठ पटण मैं भिष्या करै, ते अवधू सिव पुरी संचरै॥ 15॥
यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्त का जीव॥
यहु मन लै जे उनमन रहै। तौ तिनि लोक की बाताँ कहै॥ 16॥
अवधू नव घाटी रोकि लै बाट। बाई बणिजै चौसठि हाट॥
काया पलटै अबिचल बिध। छाया बिबरजित निपजै सिध॥ 17॥
अवधू दंम कौ गहिबा उनमनि रहिबा, ज्यूँ बाजबा अनहद तूरं॥
गगन मंडल मैं तेज चमकै, चंद नहीं तहाँ सूरं॥ 18॥
सास उसास बाइकौ भषिबा, रोकि लेहु नव द्वारं॥
छठै छमासि काया पलटिबा, तब उनमँनी जोग अपारं॥ 19॥
अवधू प्रथम नाड़ी नाद झमकै, तेजंग नाड़ी पवनं॥
सीतंग नाड़ी ब्यंद का बासा, कोई जोगी जानत गवनं॥ 20॥
मन लै रहिणाँ भेद न कहिणाँ, बोलिबा अमृत बाँणी॥
आगिला अगनी होइबा अवधू, तौ आपण होइबा पाँणी॥ 21॥
उनमनि रहिबा भेद न कहिबा, पीयबा नींझर पाँणीं॥
लंका छाड़ि पलंका जाइबा, तब गुरमुष लेबा बाँणी॥ 22॥
प्यंडे होइ तौ मरै न कोई, ब्रह्मंडे देषै सब लोई॥
प्यंड ब्रह्मंड निरंतर बास, भणंत गोरष मछ्यंद्र का दास॥ 23॥
उत्तरषंड जाइबा सुंनिफल खाइबा, ब्रह्म अगनि पहरिबा चीरं॥
नीझर झरणैं अमृत पीया, यूँ मन हूवा थीरं॥ 24॥
नग्री सोभंत बहु जल मूल बिरषा सभा सोभंत पंडिता पुरषा॥
राजा सोभंत दल प्रवांणी, यूँ सिधा सोभंत सुधि-बुधि की वाँणी॥ 25॥
गोरष कहै सुणहु रे अवधू जग मैं ऐसैं षैं रहणाँ॥
आँषैं देखिबा काँनैं सुणिबा मुष थैं कछू न कहणाँ॥ 26॥
नाथ कहै तुम आपा राषौ, हठ करि बाद न करणाँ॥
यहु जुग है कांटे की बाड़ी, देषि देषि पग धरणाँ॥ 27॥
दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा, सुरति लुकाइबा काँनं॥
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तह रहि गया पद निरबाँनं॥ 28॥
अरध उरध बिच धरी उठाई, मधि सुँनि मैं बैठा जाई॥
मतवाला की संगति आई, कथंत गोरषनाथ परमगति पाई॥ 29॥

गोरष बोलै सुणि रे अवधू पंचौं पसर निवारी॥
अपणी आत्माँ आप बिचारी, तब सोवौ पान पसारी॥ 30॥
षोडस नाड़ी चंद्र प्रकास्या द्वादस नाड़ी भाँनं॥
सहँसु नाड़ी प्राँण का मेला, जहाँ असंष कला सिव थाँनं॥ 31॥
अवधू ईड़ा मारग चंद्र भणीजै, प्यंगुला मारग भाँमं॥
सुषमनाँ मारग बाँणीं बोलिये त्रिय मूल अस्थाँनं॥ 32॥
संन्यासी सोइ करै सर्बनास गगन मंडल महि माँडै आस॥
अनहद सूँ मन उनमन रहै, सो संन्यासी अगम की कहै॥ 33॥
कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि बिन थोथी॥
पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई खाया पंडित के हाथि रहि गई पोथी॥ 34॥
कहणि सुहेली रहणि दुहेली बिन षायाँ गुड़ मींठा॥
खाई हींग कपूर बषांणं गोरष कहै सब झूठा॥ 35॥
मूरिष सभा न बैसिबा अवधू पंडित सौ न करिबा बादं॥
राजा संग्रांमे झूझ न करबा हेलै न षोइबा नादं॥ 36॥
कोई न्यंदै कोई व्यंदै कोई करै हमारी आसा॥
गोरष कहै सुणौं रे अवधू यहु पंथ षरा उदासा॥ 37॥
यंद्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा। गोरष कहै ते पर्तषि चूहड़ा॥
काछ का जती मुष का सती। सो सतपुरुष उतमो कथी॥ 38॥
अधिक तत्त ते गुरू बोलिये हींण तत्त ते चेला॥
मन माँनै तौ संगि रमौ नहीं तौ रमौ अकेला॥ 39॥
आकास तत सदा सिब जाँण। तसि अभिअंतरि पद निरबाँण॥
प्यंडे परचाँनै गुरमुषि जोइ। बाहुडि आबागमन न होइ॥ 40॥

पद

: 1 :

(राग असावरी)

तुझि परि वारी हो अणघड़ीया देवा।
घड़ी मूरति कूँ सब कोई सेवै, ताहि न जाँणै भेवा॥ टेक॥
तू अबिनासी आदू कहीए, मोहि भरोसा पड़ीया।
सब संसार घड़्या है तेरा, तू किनही नहि घड़ीया॥ 1॥
दस औतार औतिरिया तिरिया, बै पणि राम न होई।
कमाई अपणी उनहूँ पाइ, करता औरै कोई॥ 2॥

तू पूरण ब्रह्म पुरष प्रिथमी का, सूरति मूरति सारा।
श्रवणाँ सुण्याँ न नैनाँ देष्या, तेरा घड़णैं हारा॥ 3॥
तूतौ आप, आपतै हूवा, तूँ देष्याँ उजियारा।
गोरष कहै गुरू कै सबदाँ तूँ ही घड़नै हारा॥ 4॥

: 2 :

(राग रामग्री)

छाँटै तजौ गुरू छाँटै तजौ तजौ लोभ मोह माया।
आत्माँ परचै राषौ गुरुदेव सुन्दर काया॥ टेक॥
कान्हीं पाव भेटीला गुरु, बिद्यानग्रै सैं।
ताथैं मैं पाइला गुरू, तुम्हारा उपदेसैं॥ 1॥
एतैं कछू कथीला गुरु, सर्वैं भैला भोलै।
सर्ब रस षोईला गुरु बाघँनी चै षोलै॥ 2॥
नाचत गोरषनाथ घूघरी, चे वातैं।
सबैं कमाई षोई गुरू बाघनीं चै राचैं॥ 3॥
रस-कुस बहि गईला, रहि गई छोई।
भणत मछिंद्रनाथ पूता, जोग न होई॥ 4॥
रस-कुस बहि गईला रहि गईला सारं।
बदंत गोरषनाथ गुर जोग अपारं॥ 5॥
आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता।
षटपदी भणींलै गोरष अवधूता॥ 6॥

: 3 :

(राग रामग्री)

गुरदेव स्यंभ देव सरीर भीतरिये।
आत्माँ उत्तिम देव ताही की न जाँणौ सेव।
आँन देव पूजि पूजि इमहि मरिये॥ टेक॥
नव द्वारे नवे नाथ, तृवेंणों जगन्नाथ, दसवें द्वारि केदारं॥ 1॥
जोग, जुगति सार तौ भौ तिरिये पारं।
कथंत गोरषनाथ विचारं॥ 2॥

: 4 :

(राग रामग्री)

तत बणिजील्यौ तत बणिजी ल्यौ, ज्यूँ मेरा मन पतियाई ॥ टेक॥

सहज गोरषनाथ बणिज कराई, पंच बलद नौ गाई।
सहज सुभावै वाषर ल्याई, मोरे मन उड़ियाँनी आई॥ 1॥
सुरहट घाट अम्हे बणिजारा, सुँनि हमारा पसारा।
लेण न जाणौं देण न जाँणौ, एद्वा बणज हमारा॥ 2॥
भणंत गोरषनाथ मछिंद्र का पूता, एद्वा बणिज ना अरथी।
करणीं अपणीं पार उतरणां, बचने लेणां साथीं॥ 3॥

: 5 :

(राग रामग्री)

माँहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि भोगी, जोगणि संग न छाडै।
मानसरोवर मनसा झूलँती आवै, गगन मंडल मठ माँडै रे॥ टेक॥
कौंण अस्थाँनि कि तोरा सासू नैं सुसरा, कौंण अस्थाँन क तोरा बासा।
कौंण अस्थाँन-क तू नै जोगणि भेटी, कहाँ मिल्या घर बासा॥ 1॥
नाभ अस्थानँ-क मेरा सासू नैं सुसरा, ब्रह्म अस्थाँन-क मोरा बासा।
इला-प्यंगुला जोगण भेंटी सुषमन मिल्या घर बासा॥ 2॥
काम क्रोध बाली चूँनाँ कीधा, कंद्रप कीया कपूरं।
मन पवन, दो काथ सुपारी, उनमनी तिलक सींदूरं॥ 3॥
ग्याँन गुरू दोऊ तूबा अम्हारै, मनसा चेतनि डाँडी।
उनमनीं ताँती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्णाँ षाँडी॥ 4॥
एणैं सतगुरि अम्हे परणाँब्या, अबला बाल कुवाँरी।
मछिंद्र प्रसाद श्री गोरष बोल्या, माया नाँ भौ टारी॥ 5॥

: 6 :

(राग रामग्री)

तत बेली तो तत बेली लो, अवधू गोरषनाथ जाँणीं। टेक॥
डाल न मूल पहुप नहीं छाया, बिरधि करै बिन पाँणी॥ टेक॥
काया कुंजर तेरी बाड़ी अवधू, सत गुर बेलि रुपाँणी।
पुरिष पाँणती करै धणियाँणौ नीकै बालि घरि आँणी॥ 1॥
मूल एद्वा जेद्वा ससिहर अवधू, पाँन एद्वा जेद्वा भाँणं।
फल एद्वा जेद्वा पूनिम चंदा, जोउ जोउ जाँण सुजाँणं॥ 2॥
बेलडियाँ दौ लागी अवधू, गगन पहूँती, झाला।
जिम जिम बेलीं दाझबा लागी, तब मेल्है कूपल डाला॥ 3॥
काटत बेली कूँपल मेल्ही सींचतड़ाँ कुमलाये।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, नित नवेलड़ी थाये॥ 4॥

: 7 :

(राग रामग्री)

गोरष लो गोपाल लो, गगन गाइ दुहि पीवै लो।
मही बिरोलि अँमी रस पीजै, अनभै लागा जीजै लो॥ टेक॥
ममिता बिनाँ माइ मुइ, पिता बिनाँ मूवा छोरू लो।
जाति बिहुँनाँ लाल ग्वालिया, अहनिस चारै गोरू लो॥ 1॥
अनहद सबदैं संष बुलाया, काल महादल दलिया लो।
काया कै अंतरि गगन मंडल मैं, सहजै स्वामी मिलिया लो॥ 2॥
ऐसी गावत्री घर बारि हमारै, गगन मंडल मैं लाधी लो।
इहिं लागि रह्या परिवार हमारा, लेइ निरंतरि बाँधी लो॥ 3॥
कानाँ पूछाँ सींग बिबरजित, बर्न बिबरजित गाई लो।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, तहाँ रहै ल्यो लाई लो॥ 4॥

: 8 :

अवधू ऐसा ग्याँन बिचारी, ता मैं झिलमिलि जोति उजाली॥ टेक॥
जराँ जोग तहाँ रोग न ब्यापै, ऐसा परषि गुर करनाँ।
तन मन सूँ जे परचा नाँहीं, तौ काहे को पचि मरनाँ॥ 1॥
काल न मिट्या जंजाल न छुट्या, तप करि हूवा न सूरा।
कुल का नास करै मति कोई, जै गुर मिलै न पूरा॥ 2॥
सप्त धातु का काया पींजरा, ता माँहि जुगति बिन सूवा।
सतगुरु मिलै त ऊबरै, नहीं तौ परलै हूवा॥ 3॥
कंद्रप रूप, काया का मंडण, अंबिरथा काँइ उलीचौ।
गोरष कहै सुणौं रे भौंदू, अरंड अमी कत सीचौ॥ 4॥

: 9 :

(राग रामग्री)

आऊँ नहीं जाऊँ निरंजन नाथ की दुहाई।
प्यंड ब्रह्मंड षोजंता, अम्हे सब सिधि पाई॥ टेक॥
काया गढ़ भींतरि नव लष खाई।
दसवैं द्वारि अवधू ताली लाई॥ 1॥
काया गढ़ भींतरि देव देहुरा कासी।
सहज सुभाइ मिले अबिनासी॥ 2॥
बदत गोरषनाथ सुणौ न लोई।
काया गढ़ जीतैगा बिरला कोई॥ 3॥

: 10 :

(राग रामग्री)

पवनाँ रे तू जासी कौनैं बाटी।
जोगी अजपा जपै त्रिवेणीं कै घाटी॥ टेक॥
चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करिलै बाटी।
मंनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन की घाटी॥ 1॥
अरधै उरधै लाइलै कूची, थिर होवै मन तहाँ थाकीले पवनां।
दसवाँ द्वार चीन्हिले, छूटै आवा गवना॥ 2॥
भणत गोरषनाथ मछिंद्र न पूता, जाति हमारी तेली।
पीड़ी गोटा काढ़ि लीया; पवन षलि दीया ठेली॥ 3॥

: 11 :

(राग रामग्री)

ईकीस ब्रह्मंड भाठी चिगावै, पीवत सदा मतिवालं।
मनसा कलालिनि भरि भरि देवै आछा आछा मद नाँ प्यालं॥ टेक॥
अमृत दाषी भाठी भरिया, ता मधैं गुड़ झकोल्या।
मन महुआ तन धाहुवा, बनासपति अठारै मोल्याँ॥ 1॥
भ्रमर गुफा मैं मन थरि ध्यानैं, बैस्या आसण बाली।
चेतनि रावल यह भरि छाक्या, जुग गुग लागो ताली॥ 2॥
तृकुटी संगम कूपा भरिया, मद नीपज्या अपारं।
कुसमल होता ते झड़ि पड़िया, रहि गया तहाँ तत सारं॥ 3॥
एद्‌वा मद श्री गोरष केवट्या, बदंत मछींद्र ना पूता।
जिनि कैवट्या तिनि भरि भरि पीया, अमर भया अवधूता॥ 4॥

: 12 :

(राग रामग्री)

ऐसा जाप जपौ मन लाई, सोहं सोहं अजपा गाई॥ टेक॥
आसण दिठ करि धरौ धियानं, अहनिस सुमिरौ ब्रह्म गियानं।
जाग्रत न्यंद्रा सुलप अहार, काम क्रोध अहंकार निवारं॥ 1॥
नासा अग्र निजु ज्यौ बाई, इड़ा प्यंगुला मधि समाई॥ 2॥
छ सै सहंस इकीसौं जाप, अनहद उपजै आपहि आप।
बंक नालि मैं ऊगै सूर, रोम रोम धुनि बाजै तूर॥ 3॥
उलटै कमल सहँस्त्रदल बास, भ्रमर गुफा महि जोति प्रकास।
सुणि मथुरा सिव गोरष कहै, परम तत ते साधू लहै॥ 4॥

: 13 :

(राग रामग्री)

जीव सीव ना संगै बासा, ना बधि षाइबा रे रुध्र मासा॥ टेक॥
घाव न घातिबा हंस गोतं, बदंत गोरषनाथ निहारि पोतं॥ 1॥
मारिबा रे नरा मन द्रोही, जाके बप बरण नहीं मास लोही॥ 2॥
सब जग ग्रासिया देव दाणं, सो मन मारीबा रे गहि गुरु ग्याँन बाणं॥ 3॥
बसू क्या हतिये रे प्यंड धारी, मारिये पंच भू मृघला जे चरै बुधि बाड़ी॥
जोग का मूल है दया दांनं, भणत गोरषनाथ ये ब्रह्म ग्याँनं॥ 4॥

: 14 :

(राग असावरी)

गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला।
गुरु बिन ग्याँन न पायला रे भाईला॥ टेक॥
दूधैं धोया कोइला उजला न होइला।
कागा कंठै पहुप माल हंसला न भैला॥ 1॥
अभाजै सी रोटली कागा ले जाइला।
पूछौ म्हारा गुरू नै कहाँ वैसि षाइला॥ 2॥
उत्तर दिसि आविला, पछिम दिस जाइला।
पूछौ म्हारा सतगुरु नै, तिहाँ बैसि षाइला॥ 3॥
चीटी केरा नेत्र मैं, गज्येंद्र समाइला।
गावडी के मुष मैं बाघला बिवाइला॥ 4॥
बारे बरसैं बंझ ब्याई, हाथ पाव टूटा।
बदंत गोरषनाथ मछिंद्र ना पूता॥ 5॥

: 15 :

(राग असावरी)

भणंत गोरषनाथ काया गढ़ लेबा,।
काया गढ़ लेबा जुगे जुगी जीबा ॥ टेक॥
काया गढ़ भींतरि नौ लष षाई, जंत्र फिरै गढ़ लिया न जाई॥ 1॥
ऊँचे नीचे परबत झिलमिलि षाई, कोठड़ी का पाँणी पूरण गढ़ जाई॥ 2॥
इहाँ नहीं उहाँ नहीं त्रिकुटी मंझारी, सहज सुँनि मैं रहनि हमारी॥ 3॥
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता, कायागढ़ जीतिले गोरष अवधूता॥ 4॥

: 16 :

(राग असावरी)

बाँधौ बाँधौ बछरा पीओ पीओ षीर। कलि अजरावर होइ सरीर॥ टेक॥
आकास की धेन बछा जाया। ता धेन कै पूछ न पाया॥ 1॥
बारह बछा सोलह गाई। धेन दुहावत रैनि बिहाई॥ 2॥
अचरा न चरै धेन न षाई। पंच ग्वालियाँ कौ मारण धाई॥ 3॥
याही धेन का दूध जु मींठा, पीवै गोरषनाथ गगन बईठा॥ 4॥

परिशिष्ट—2

तिब्बती परम्परा में गोरक्षनाथ और अन्य नाथसिद्ध

तिब्बती स्रोत से नाथसिद्धों के सम्बन्ध में प्राप्त अनेक सूचनाओं को यदि एकत्रित किया जाय तो उनसे जन्म, गुरु, देश, काल, चमत्कार, सिद्धियों और शिष्यों के साथ ही समकालीन राजाओं का भी पता चलता है। अनेक सूचनाएँ भारतीय स्रोतों की सूचनाओं के अविरुद्ध हैं। तिब्बत में भी इनकी पूजा होती थी अथवा इन्हें सम्मान प्राप्त था, इसका भी पता चलता है। इन नाथसिद्धों में मत्स्येंद्र, गोरक्ष, जालंधर, कान्हुपा, चौरंगी, भर्तृहरि और गोपीचन्द्र के विवरण विशेष रूप से मिलते हैं। सुलभ तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं को नीचे एकत्रित किया जा रहा है।

मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ

1. मीन कुक्कुट के शिष्य थे। वे पूर्वी भारत के मछुआ थे। जब ये गंभीर चिंतन में लीन थे, तभी अपना संतुलन खो बैठे और नदी में गिर पड़े। इन्हें मछली खींच ले गई और इन्हें निगल गई। उस समय कर्म पर गंभीर चिंतन (अथवा समाधि) में लीन रहने के कारण इनकी मृत्यु नहीं हुई। रोहित नाम की नदी जिसे तिब्बती में gtsan-po कहते हैं, कामरूप में बहती थी। उसमें एक छोटी पहाड़ी थी जिसे उमा गिरि कहते थे। जिस समय वहाँ देवेश्वर (महादेव) बड़े उत्साह से उमा को उपदेश दे रहे थे, उस समय वह मछली वहाँ तैर रही थी। मत्स्योदर में विद्यमान मछुए ने उस उपदेश को सुना, उस पर चिंतन किया और उससे लाभान्वित हुआ। एक मछुए ने उस मछली को पकड़ा और उसे मार डाला। उसमें से एक व्यक्ति निकला। इसके पूर्व ये एक राजा के रूप में मरे थे। तेरह वर्ष बीते ही थे कि इन्हें पहले एक पुत्र उत्पन्न हुआ। शेष 12 वर्ष इन्होंने मत्स्योदर में बिताया। फिर पुत्र और पिता दोनों सिद्ध चर्पटी के पास गए, उपदेश की याचना की और ध्यान किया। दोनों ने सिद्धि प्राप्त की। पिता सिद्ध मीन के रूप में विख्यात हुए और पुत्र सिद्ध मच्छींद्र के रूप में विख्यात हुए। सिद्ध मीन के शिष्य थे—हलि (एक किसान), माली (एक बागवान), ताम्बुली (दंतरंजक)। मच्छींद्र के शिष्य थे—चौरंगी और गोरक्षनाथ।[1]

2. मीनपा नाम के एक मछुए को एक मछली समुद्र में बहुत दूर तक खींच ले गई। समुद्र में एक दूसरे मत्स्य ने उसे निगीर्ण कर लिया। सौभाग्य से मीनपा महामत्स्य

1. *मिस्टिक टेल्स ऑव लामा,* तारानाथ, पृ० 69 तथा आगे।

के उदर में सुरक्षित रहे। जब महामत्स्य एक बेड़े के नीचे तैर रहा था कि उसी समय शिव बेड़े पर बैठे अपनी पत्नी उमा को धर्मोपदेश कर रहे थे जिसे मत्स्य के उदर में सुरक्षित मीनपा ने सुन लिया। शिव ने मीनपा का हाल जानकर उन्हें आशीर्वाद दिया।

बारह वर्षों बाद अपने उदर में मीनपा को सुरक्षित रखने वाला मत्स्य एक मछुए द्वारा पकड़ा गया। मछुए ने अपने अविश्वसनीय शिकार के उदर में अपने भाग्य खुलने की आशा की; किन्तु जब उसने उसे खोला तब उसने उसमें एक व्यक्ति को ध्यान करते पाया। मत्स्य के उदर से उदित मछुए ने धीरे-धीरे अपनी सच्ची प्रतिभा-शक्ति का विकास किया और अंततः परमोच्च सत्य का साक्षात्कार करने में समर्थ हुआ। ये ही प्रसिद्ध मीनपा हुए। पाँच सौ वर्षों बाद इन्होंने निर्वाण में प्रवेश किया।[1]

3. मीन ने अपने को महेश्वरदेव (शिव ? गोरक्ष=महेश्वरानन्द ?) की शरण में डाल दिया और उनसे निम्नतर सिद्धियाँ प्राप्त कीं। गोरक्ष की स्तुति कर उन्होंने प्राणायाम के उच्चतम साधनों को प्राप्त किया।[2]

गोरक्षनाथ अथवा गोरक्षपा

1. कदली क्षेत्र में गोरक्ष का कृष्णाचारी से संवाद हुआ। वहाँ कृष्णाचारी ने लोगों को संबोधित किया—'जागो, जागो, कृष्णाचारी के सिद्ध शिष्य बनने का यही समय है।' यद्यपि वहाँ बहुत लोगों ने शिष्यत्व ग्रहण किया और सिद्धि प्राप्त की; किन्तु गोरक्ष ने पहले ही सिद्धि प्राप्त कर ली थी। संवाद में कृष्णाचारी ने अपने गुरु जालंधरि की स्थिति का वर्णन किया।[3]

2. तारानाथ ने उस उपदेशात्मक स्फुरणों का वर्णन किया जिनका सम्बन्ध 12 संप्रदायों के योगियों से है। गोरक्ष महासिद्ध थे। मीन ने उनसे उपदेश ग्रहण किए थे और प्राणायाम की साधना सीखी थी। . . . गुरु बुद्धगुप्त जिस प्रकार और बहुत से सिद्धों से मिले थे, उसी प्रकार गोरक्ष से भी। उनके पास गोरक्ष के अनन्त उपदेशों का सच्चा भंडार था। गोरक्ष का अनुसरण करनेवाले तीन शिष्य थे—तीर्थनाथ, कालनाथ और ब्रह्मनाथ।[4]

3. सौतेली माँ के कहने पर राजा ने राजकुमार के हाथ-पैर कटवा दिए और उसे सड़क के किनारे डलवा दिया। मच्छींद्र ने वहाँ आकर उसके पालन-पोषण का भार अपने ऊपर लेकर अपने गोपालक शिष्य को आदेश दिया कि वह 12 वर्षों तक राजकुमार को भोजन कराए। गोरक्ष ने गुरु के आदेश का पालन किया।[5]

---

1. *टिबेट हाउस म्यूज़ियम,* पृ० 29.
2. *मि० टे० ला० ता०,* पृ० 69.
3. *वही,* पृ० 32 तथा आगे।
4. *मि० टे० ला० ता०,* पृ० 69.
5. *वही,* पृ० 75-76.

4. सिद्ध गोरक्ष वही गोपालक थे जिन्होंने चौरंगी को बारह वर्षों तक भोजन कराया था। इन्होंने मच्छींद्र से योगोपदेश प्राप्त किया था। सभी बाह्य कर्त्तव्यों को करने के बाद इन्होंने सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं। तदुपरांत गोरक्ष ने सोचा कि अपनी आध्यात्मिक सिद्धियों और उपलब्धियों का लाभ दूसरों को भी देना चाहिए, साथ ही दूसरों को उपदेश देना चाहिए और उनकी रक्षा भी करनी चाहिए। इन्होंने निश्चय किया कि स्वर्ग जाने के पूर्व दस लाख व्यक्तियों की रक्षा करूँगा। इस प्रकार इन्होंने असंख्य लोगों को मुक्ति प्रदान की। इस व्यक्ति का पूरा इतिहास नहीं लिखा गया। उनके पक्के बारह शिष्य थे।[1]

5. सिद्ध कर्णरीपा मेवाड़ देश के राजा थे। उनकी पत्नी पिंगला का जब देहान्त हो गया तो राजा श्मशान में उसके शव के पास खड़ा होकर 'हा पिंगला, हा पिंगला चिल्लाने लगा। लगभग 20 वर्षों बाद वहाँ गोरक्ष आए। उन्होंने अपना मिट्टी का पात्र अचानक वहाँ गिरा दिया। उसके फूट जाने पर गोरक्ष वहाँ रोने लगे और हा डीबी, हा डीबी' चिल्लाने लगे। राजा ने डीबी के लिए गोरक्ष को रोता हुआ देखकर उन्हें मूर्ख कहा। गोरक्ष ने कहा कि तुम भी बड़े मूर्ख हो जो जल कर राख हो जानेवाली पिंगला के लिए रो रहे हो। गुरु को पहचान कर कर्णरीपा ने गोरक्ष का शिष्यत्व ग्रहण किया।[2]

6. श्रीमद् धर्मकीर्ति (600 ई०)-कालीन कथाओं का वर्णन करते हुए तारानाथ ने शंकराचार्यादि से बौद्धों के पराजय का उल्लेख कर बताया कि उस समय देवश्रम नामक आचार्य धर्मपाल के (एक) शिष्य ने चंद्रकीर्ति का खंडन करने की सोचकर माध्यमिकवृत्ति सीताभ्युदय की रचना की। दक्षिण प्रदेश में कुछ तैर्थिकों से शास्त्रार्थ करने पर आचार्य विजयी हुए और राजा शालवाहन को बुद्ध शासन (इन्हें शातवाहन् या शातकर्णी भी कहते हैं। ये नागार्जुन के मित्र थे) में दीक्षित किया। उसने अनेक मंदिरों और स्तूपों का निर्माण कराया (तथा) धार्मिक संस्था भी स्थापित कराई। इस राजा के समय सिद्ध गोरक्ष का प्रादुर्भाव हुआ।[3]

7. गोरक्ष एक शुद्धात्मा गोसेवक थे। एक बार इन्होंने एक गुरु का अनुसरण किया जिनका नाम अजिन्त था और इन्होंने क्रूर विमाता द्वारा दंडित एक राजकुमार की 12 वर्षों तक सेवा-सुश्रूषा की। इससे प्रसन्न होकर गुरु ने इन्हें तांत्रिक सिद्धान्त की शिक्षा दी। इन्होंने सिद्धि प्राप्त की और बहुत से मनुष्यों को मोक्ष प्रदान करने में समर्थ हुए।[4]

---

1. *मि० टे० ला० ता०*, पृ० 77.
2. *वही*, पृ० 77-78।
3. *भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास (अनु०)-मूल लेखक—लामा तारानाथ*, पृ० 94.
4. *टि० हा० म्यू०*, पृ० 29-30.

8. गोरक्षनाथ की मूर्तियों की तुमलांग तथा अन्य सिक्किम के मंदिरों में उपबब्धि पूर्णतया एक गलती है। इस तरह की कोई भी मूर्ति ज्ञात नहीं है। इनसे जो नाम अभीप्सित है, वह है—"Guru Rin bo-ch'e"।[1]

जालंधरि और कृष्णाचारी, भर्तृहरि और गोविचन्द्र

1. कृष्णाचारिन् या कालाचारित (Nag-po-spyod-pa) तांत्रिक महासिद्धों में एक थे, जो तिब्बत में पूजित हैं।[2]

2. जालंधरि ने कृष्णपाद को दीक्षा दी। कृष्णाचारी के बहुत से शिष्य योगी थे। उन्होंने कदली क्षेत्र में कहा—जागो, जागो, कृष्णाचारी के सिद्ध शिष्य बनने का यही समय है। बहुत से लोगों ने वह सिद्धि प्राप्त की। आचार्य कृष्णपाद ने वहाँ आकर गोरक्ष से संवाद किया। बातचीत में गोरक्ष के उत्तर में आचार्य ने कहा—मेरे गुरु जालंधर थे; किन्तु 12 वर्ष बीत गए, जब से मेरे गुरु जालंधरि जमीन के नीचे एक भूगर्भ में बंद कर दिए गए। इसके बाद आचार्य खुद वहाँ चार गुने शत सहस्र मीमांसकों से घिर कर पूर्व की ओर गए और शत्रुतावश गोपीचन्द्र के राजद्वार पर बैठ गए। वहाँ संगीत बंद हो गया, घोड़ों और हाथियों ने खाना बंद कर दिया, छोटे बच्चों ने दूध पीना बंद कर दिया। तब राजा ने पहचाना कि यह सब आचार्य की शक्ति के कारण हो रहा है। उनसे प्रभावित होकर उसने भिक्षा में (पर्याप्त द्रव्य) व्यय किया और आचार्य को तथा उनके अनुयायियों को भोज पर निमंत्रित किया। आचार्य ने कहा—मेरे पास शत सहस्र के चार गुने व्यक्ति हैं। तुम्हारे लिए इन्हें संतुष्ट कर पाना संभव नहीं है। राजा ने कहा—जब मैं लगातार बहुत से दस हजार सैनिकों को खिला सकता हूँ तो आचार्य और उनके अनुयायियों को क्यों नहीं खिला सकता। आचार्य ने कहा—मेरे दो शिष्य हैं महिल और भदलि। पहले तुम इन दोनों को भरपेट खिला दो। इसका पालन कर राजा ने पहले पाँच सौ आदमियों के लिए चावल पकवाया। दोनों शिष्य के सामने सारा चावल कमंडलुओं में उलट दिया गया किन्तु फिर भी वे कमंडलु नहीं भरे। तब राजा ने आचार्य के पास जाकर प्रार्थना की—मैं मृत्यु से मुक्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ। तब आचार्य ने सभी सामग्रियाँ मंडल के लिए स्वीकार कीं। राजा का अभिषेक किया। उन्होंने उसे वही उपदेश दिया, जो हाड़ी ने उसे दिया था। राजा ने कहा—मैंने यह सब सुना है। इसके बाद उसने सारी कथा कह सुनाई। इस पर आचार्य ने कहा—तुम मृत्यु से मुक्ति की सिद्धि कैसे प्राप्त कर सकते हो, जबकि वे गुरु थे। सिद्ध से अभिशाप मिलेगा, इस भय से राजा ने उपाय पूछा। ताँबे के साथ अष्टधातु की राजा की तीन मूर्तियाँ बनवाई गईं। तब

1. *द बुद्धिज़्म आॅव टिबेट ऑर लामाइज़्म, वैडेल,* पृ० 292. *सम्बन्द्ध संदर्भ द्रष्टव्य—कैंपबेल–ज० ए० सो० बें०, 1849, 1.323, 2.195; सर आर० टेम्पल, जर्न०,* पृ० *212; बुद्धिज़्म–सर मोनियर विलियम्स,* पृ० 490–491.
2. *बु० टि० ला०, वैडेल,* पृ० 378.

कृष्णाचारी और उनके शिष्यों ने सारे गर्द-गुबार, मिट्टी आदि को हटाया और छिद्र के पास राजा की एक मूर्ति को ले आए और सिद्ध हाडी के पैरों के पास रख दिया। गुरु ने पूछा—तुम कौन हो? उत्तर मिला—मैं राजा गोपीचंद्र हूँ। गुरु ने कहा—तुम भेड़िए के लिए शव हो, राख हो जाओ। इसके बाद मूर्ति गिरी और राख हो गई। (दूसरी मूर्ति की भी यही दशा हुई)। तब राजा और उसके अनुयायियों का हृदय टूट गया। फिर राजा के पास आचार्य (कृष्णाचारी) आए और गुरु से क्षमा माँगने के लिए कहा। फिर सिद्ध जालंधरि ने कहा—मेरे शिष्य काह्न, तुम इसे अपना शिष्य बनाओ। 6 मास के गणचक्र के बाद जालंधरि गोपीचंद्र को दोहगीतियों की शिक्षा दी और (इस प्रकार गोपीचंद्र) एक महत्तर योगी हो गए। राजा भर्तृहरि गोपीचन्द्र के चाचा थे।[1]

3. राजा गोविचन्द्र आदि के काल की कथाओं का वर्णन करते हुए लामा तारानाथ ने बताया कि मालवा के किसी अविच्छेद राजवंश में राजा भर्तृहरि का आविर्भाव हुआ। उस राजा की एक भगिनी को विमलचंद्र से ब्याह दिया गया, जिससे गोविचन्द्र पैदा हुआ। धर्मकीर्ति के निधन के कुछ समय बाद, उसके राज्याभिषेक का समय निकट आया। इन दोनों राजाओं को सिद्ध जालंधरिपा और आचार्य कृष्णाचारिन् के द्वारा विनीत कर सिद्धि मिलने का वर्णन अन्यत्र उपलब्ध है।[2] तत्पश्चात् गोविचन्द्र के चचेरे भाई ललितचंद्र ने राज्य किया। कृष्णाचारिन् ने अपने जीवन के उत्तरार्द्धकाल में (उसको) विनीत किया और राजा तथा मंत्री ने सिद्धि प्राप्त की। इस प्रकार ललितचंद्र का आविर्भाव चंद्रवंशीय राजाओं के अंत में हुआ।[3]

4. राजा गोपालकालीन कथाओं का वर्णन करते हुए तारानाथ ने बताया कि मध्यप्रदेश और पूर्वी सीमा के पुंड्रवर्धन के पास किसी क्षत्रिय कुल की एक रूपवती कन्या का एक वृक्षदेवता से संसर्ग स्थापित हुआ। कोई एक सुलक्षणान्वित शिशु उत्पन्न हुआ। कुछ बड़ा होने पर उसने उक्त देवता के निवासस्थान के पास मिट्टी की खुदाई की तो उसे एक देदीप्यमान मणिरत्न प्राप्त हुआ। उसने वह मणिरत्न एक आचार्य को भेंट कर उनसे अभिषेक ग्रहण किया और देवी 'चुंदा' की भावना करने की शिक्षा प्राप्त कर साधना की। (वह) इष्ट (देव) के चिह्नस्वरूप एक छोटी सी काष्ठनिर्मित गदा गुप्त रूप से रखता था। देवी द्वारा आशीर्वाद पाकर, खसरपण विहार के आर्य द्वारा पूर्व दिशा में जाने का निर्देश पाकर, मंगल देश चल पड़ा, जहाँ राजा के अभाव में अनेक वर्षों तक प्रजा दुःखी रही। . . . एक प्रभावशालिनी, क्रूर नागिन थी जो राजा गोविचन्द्र की भी रानी कहलाती थी (तथा) ललितचंद्र की भी। (वह) पहले राजा ऋद्धिमान की रानी बनी थी। जो वहाँ के राजा के रूप में नियुक्त होता था, वह नागिन

1. *मि० टे० ला० ता०*, पृ० 32-36.
2. *बौ० ध० इ०, तारानाथ*, पृ० 105.
3. *वही*, पृ० 106.

उसी रात को उसे खा जाती थी। (अंततः उस वृक्षदेवता के पुत्र ने, जो बाद में गोपाल (765 ई०) नाम से प्रसिद्ध हुआ, उस नागिन को मार डाला और फिर लोगों द्वारा राजा के रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया गया)।[1]

5. मंत्रयान की उत्पत्ति का संक्षिप्त विवेचन करते हुए बताया कि मनुष्य लोक में महायान सूत्रों के साथ प्रायः तंत्रों की भी उत्पत्ति हुई थी। अधिकतर अनुत्तरयोगतंत्र तो सिद्धाचार्यों द्वारा क्रमशः लाए गए। उदाहरण के लिए, श्री सरह (769-809 ई०) के द्वारा बुद्धकपाल लाया गया, लूइपा (769-809 ई०) द्वारा योगिनी संचर्या आदि लाई गई, कंबल और सरोरुहवज्र द्वारा हेवज्र लाया गया, कृष्णाचारिन् द्वारा संपुटतिलक लाया गया . . .।[2]

6. जालंधरपा नगरदोत ग्राम के ब्राह्मण थे। ये जब भी भौतिक इंद्रियग्राह्य जगत् की प्रकृति पर विचार करते तो विषण्ण हो जाते। अतः परिवर्तन के लिए इन्होंने घर छोड़ दिया तो श्मशान के एक पेड़ के नीचे बैठ गए। वहाँ इन्होंने थोड़ी शांति का अनुभव किया। तदुपरान्त इन्होंने एक डाकिनी को यह कहते हुए सुना—'वत्स! चित्त में शुद्ध विचार रखो।' इसे सुनकर ये बहुत प्रसन्न हुए और उसके पुनः प्रकट होने तक उसी प्रार्थना करते रहे। उसने इन्हें हेवज्रतंत्र में दीक्षित किया। उसने इन्हें प्रत्यक्ष साक्षात्कार की गुप्त विधि की भी शिक्षा दी। कहा—'भावना करो कि तुम सभी इंद्रियग्राह्य पदार्थों का अपने काय, वाक् और चित्त में आकर्षण कर रहे हो। तदुपरान्त इन तीनों की धारणा तुम अपनी इडा, पिंगला और मध्यगता सुषुम्ना नाम की तीनों आध्यात्मिक नाड़ियों में करो। फिर तुम अपने मस्तक के मुक्त आकाश में खुलनेवाली सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से अपने सभी विचार-प्रत्ययों को निर्मल करो। तब ध्यान करो।' इन्हें (इस विधि से) सिद्धि प्राप्त करने में सात वर्ष लगे। इन्होंने इस धर्म सिद्धान्त की शिक्षा बहुत से प्राणियों को दी और अंत में अपने 700 अनुयायियों के साथ निर्वाण में प्रवेश किया।[3]

7. कनपा, सोमपुरी विहार के एक भिक्षु थे। इन्होंने गुरु जालंधरपा से हेवज्र-सिद्धान्त प्राप्त किया। यद्यपि इन्होंने ध्यान के 12 वर्षों बाद अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कीं तथापि इनके अभिमान और औद्धत्य ने इनके विकास को बाधित कर दिया। बाद में इनकी रक्षा करनेवाली डाकिनी ने इन्हें शीर्षच्छेदन की पद्धति बतलाई। क्रमशः इन्होंने शिला के ऊपर स्वपाद चिह्नांकन, वायुसंतरण, शवासान, सदैव डमरुक-छत्र धारण की शक्ति प्राप्त की। इन्होंने अपने क्षणिक पदार्थों का परित्याग कर निर्वाण में प्रवेश किया।[4]

---

1. *भा० बौ० ध० इ०,* पृ० 108-109.
2. *वही,* पृ० 145-146.
3. *टि० हा० म्यू०,* पृ० 39.
4. *वही,* पृ० 31.

चौरंगी

मत्स्येंद्र के शिष्य चौरंगी एक राजा के पुत्र थे। एक दिन जब राजा दूसरे देश को गया तब राजा की दूसरी पत्नी ने सुंदर राजकुमार को कामावेग से प्रेम किया। वह हमेशा राजकुमार की प्रतीक्षा करती; किन्तु जब उसने रानी की इच्छा की पूर्ति नहीं की तब वह क्रुद्ध हो उठी और जैसे ही राजा लौटा, उसने अपने कपड़े फाड़ डाले, अपने शरीर पर राख डाल ली और इस तरह लेट गई जैसे उसके शरीर से सारा खून निकल गया हो। तब राजा ने पूछा—तुम्हारे साथ किसने क्या किया है? उसने कहा—यह राजा के पुत्र द्वारा किया गया। वह मेरे पास अपनी इच्छापूर्ति के लिए आया और जैसे मैंने उसकी इच्छापूर्ति नहीं की, उसने मेरी यह दशा कर दी। तब राजा ने अपने निरपराध पुत्र के विषय में बिना जाँच किए ही, उसके हाथ-पैर कटवा कर उसे चलती सड़क पर डलवा दिया। मच्छींद्र वहाँ आए। जैसे ही राजकुमार ने अपनी कथा सुनाई, मच्छींद्र ने कहा—यदि मैं बारह वर्षों तक तुम्हें भोजन दूँ तो क्या तुम बारह वर्षों तक का लंबा ध्यान करोगे? जैसे ही राजकुमार ने स्वीकार किया, मच्छींद्र ने अपने साथ के गोपालक शिष्य को बारह वर्षों तक राजकुमार को भोजन कराने का आदेश दिया। उसने वैसा ही किया। बारह वर्ष बीत जाने पर रात में बहुत से व्यापारी सड़क पर आए। चौरंगी ने पूछा कि वे लोग कौन हैं? यह सोचकर कि यह राजा का कर-संग्राहक होगा, अपने को कोयले का व्यापारी बताया। तब चौरंगी ने कहा—सब कोयला हो जायगा। जब वे व्यापारी बाजार में आए और अपनी सामग्री निकाली तो सब कोयला हो गया। तब उन लोगों ने इधर-उधर पूछा कि यह क्या हो गया, तब उन लोगों ने यह समझा कि यह चौरंगी की वाणी का चमत्कार है। सभी व्यापारी वहाँ आए और चौरंगी से क्षमा-याचना की तथा उन्हें भिक्षा दी। तब चौरंगी ने कहा—सब पूर्ववत् हो जाय। व्यापारियों ने घर जाने के पूर्व देखा कि उनके सामान पूर्ववत् हो गए। तब उन लोगों ने समझा कि यह सब आचार्य (चौरंगी) की कृपा से हुआ। उन लोगों ने अपने जीवन के लिए भेंट-स्वरूप कुछ देना चाहा; किन्तु आचार्य ने लौटा दिया। फिर उन्होंने कहा—ये सभी अंग भी पूर्ववत् हो जायँ। और वे हो गए। बाद में प्राणियों के सभी कल्याण-कार्य करते हुए भ्रमण करते हुए वे स्वर्ग गए।[1]

कर्णरीपा

सिद्ध कर्णरीपा का जहाँ तक सम्बन्ध है, वे मेवाड़ देश के राजा थे। कुछ साल बीतने पर उन्हें एक सुन्दर पत्नी मिली जिसका नाम पिंगला था। वह राजा के हृदय को बहुत प्रिय थी। उसकी परीक्षा लेने के लिए वे एक बार अकेले ही जंगल चले गए और यह प्रचारित कर दिया कि राजा को एक चीते ने खा डाला। इस प्रकार उसका देहान्त हो गया। रानी पिंगला शोक में मर गई और उसका शव श्मशान लाया गया।

1. *मि० टे० ला० ता०*, पृ० 75–77.

राजा शहर लौटकर नहीं गया बल्कि रानी के शव के पास खड़ा होकर 'हा पिंगला, हा पिंगला' चिल्लाने लगा। (गोरक्ष के प्रकरण में उद्धृत अंश के अनुसार) इसी समय गोरक्ष आए और उन्होंने राजा से कहा—तुम पिंगला के लिए रोना छोड़ दो; क्योंकि वह अब राख हो गई। तब राजा ने आचार्य गोरक्ष को पहचाना और उनसे अपना शिष्य बनाने की प्रार्थना की। आचार्य ने राजपाट छोड़ने के लिए कहा और राजा ने सब-कुछ त्याग कर शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।[1] एक समय आचार्य ने आदेश दिया कि उन्हें मांस तथा अन्य उत्तेजक पदार्थों की भूख लगी है। जब शिष्य (कर्णरीपा) बाजार में शराब और मांस खरीदने के लिए गए तो एक औरत ने मांस के छह टुकड़े और मदिरा की छह सुराहियाँ दिखाईं। मूल्य के रूप में दाहिनी आँख माँगी और कहा कोई दूसरा मूल्य नहीं लूँगी। फिर शिष्य ने अपने आचार्य को भेंट देने के लिए अपनी दाहिनी आँख निकाल कर औरत को दे दी और दोनों सामग्रियाँ लाकर आचार्य को दे दीं। पूछने पर उसने सारा किस्सा आचार्य को सुना दिया। आचार्य ने बाईं आँख की भी माँग की, जो शिष्य द्वारा दे दी गई। फिर आचार्य (गोरक्ष) ने उसे वरदान दिया और उसने 3 वर्षों में पुनः अपनी आँखें प्राप्त कर लीं। इसी अवधि में ये महासिद्ध हो गए। इन्हें वैरागीनाथ भी कहते हैं।[2]

इन सूचनाओं का विश्लेषण कर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मीन और मत्स्येंद्र दो सिद्ध थे। तिब्बती स्रोत भी यह संकेत करते हैं कि मीनपाद ने महादेव से सीधे उपदेश प्राप्त किया था। वे किसी मानव-गुरु के शिष्य नहीं थे, जैसा कहा जाता है कि जालंधरि ही आदिनाथ थे और उन्हीं से मत्स्येंद्र ने दीक्षा ली थी। बाद में मीन और मत्स्येंद्र (पिता और पुत्र) ने चर्पटीनाथ से उपदेश ग्रहण किया। मच्छींद्र के शिष्यों में चौरंगी और गोरक्ष के नाम प्रसिद्ध हैं, जिससे अन्य स्रोतों की सूचनाओं की पुष्टि होती है। मीन और मत्स्येंद्र के जीवन की कथाओं को लामा तारानाथ ने बौद्ध विचारों से रंजित कर प्रस्तुत किया है। मत्स्येंद्रोद्धार की कथा का एक भिन्न रूप इसमें दिखाई पड़ता है कि मीन ने गोरक्ष से प्राणयाम की उच्चतम साधनाओं को ग्रहण किया।

कृष्णपाद और गोरक्षनाथ के सम्प्रदायों की प्रतिद्वंद्विता का एक संकेत हमें तिब्बती सूत्रों से भी प्राप्त होता है। बंगीय साहित्य में प्रचलन सिद्ध हाडिपा की कथा की पुष्टि तिब्बती स्रोत से भी होती है। बौद्धों के कुछ आचार्यों की भी भेंट गोरक्षनाथ से हुई थी। इस सूत्र से गोरक्ष के तीन नए शिष्यों के तीन नाम मिलते हैं—तीर्थनाथ, कालनाथ और ब्रह्मनाथ। गोरक्ष द्वारा संगठित द्वादश पंथों की ओर भी संकेत तिब्बती सूत्रों से होता है। उन पंथों के प्रधान व्यक्तियों अथवा सिद्धों को ही गोरक्ष के 12

1. *मि० टे० ला० ता०*, पृ० 77-78.
2. वही, पृ० 77-79.

शिष्यों के रूप में बताया गया है। कर्णरीपा को वैरागनाथ और भर्तृहरि भी कहा जाता है। उद्धृत कथा से गोरक्ष के व्यक्तित्व में साभिप्राय विनोदात्मकता की विशेषता दिखाई पड़ती है। ये नागार्जुन के मित्र शालिवाहन के समकालीन थे। निश्चय ही ये नागार्जुन तांत्रिक नागार्जुन थे, जिनका समय लगभग 9वीं शताब्दी माना जाता है।

गोविचन्द्र अथवा गोपीचन्द्र और हाडी सिद्ध के विषय में बंगीय साहित्य में प्रचलित कथा की पुष्टि तिब्बती सूत्रों से होती है। कृष्णाचारी के शिष्य महिल और भदलि (भदोपा) तो थे ही, गोपीचन्द्र भी थे, इसका संकेत उद्धृत कथा से मिलता है। इन्हीं कथाओं में एक स्थान पर भर्तृहरि को गोपीचन्द्र का चाचा कहा गया है और दूसरे स्थान पर उन्हें मामा (अर्थात् भर्तृहरि की विमलचन्द्र को ब्याही हुई बहन का पुत्र=भर्तृहरि का भांजा) कहा गया है। चन्द्रवंशी राजाओं का क्रम इस प्रकार था— विमलचन्द्र, गोविचन्द्र, ललितचन्द्र। एक नागिन रूपा क्रूर रानी गोविचन्द्र और ललितचन्द्र दोनों की क्रमशः रानी बनी और जो संभवतः ललितचन्द्र की भी हत्या कराकर बाद में शासन करती रही जिसे पालवंशी कुमार गोपाल (765 ई०) ने मार डाला और पालवंश की प्रतिष्ठा की।

मंत्रयान की उत्पत्ति से सम्बन्धित जो संकेत प्राप्त होते हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि बौद्ध साधना में बुद्धकपाल की साधना सरह ने प्रचलित की जबकि उन्होंने कंबलांबरपाद के योग से हेवज्रसाधन को प्रचरित किया। कृष्णाचार्य सम्पुटतिलक लाए। सरह और कंबलांबरपाद की बौद्ध परम्परा में जालंधरपाद और कृष्णाचार्य की क्या स्थिति है और बौद्ध कापालिक साधना से उनका क्या सम्बन्ध है, इसका विवरण चौथे परिशिष्ट में दिया गया है। जालंधर ने श्मशानसाधना की थी और उसी प्रकार कृष्णाचारी ने भी, इसका संकेत हमें तिब्बती सूत्रों में मिलता है। जालंधरि ने सरह और कम्बलांबर द्वारा प्रवर्तित हेवज्रसाधन में दीक्षा ली थी, इसका भी पता लगता है। इस साधना में प्राणायाम के मुख्याधारवाली हठयोगी साधना का महत्त्व था। कृष्णपाद ने भी जालंधर से हेवज्र सिद्धान्त की शिक्षा प्राप्त की थी। कृष्णपाद के व्यक्तित्व की दो विशेषताएँ कथा से स्पष्ट होती हैं कि वे अभिमानी और उद्धत थे। तिब्बती स्रोत से उनके जो अनेक चित्र मिलते हैं; उनसे उनकी श्मशान-साधना और डमरुक-छत्र धारण की विशेषताएँ प्रकट होती हैं। शैव कापालिक साधना के साथ इस साधना का क्या सम्बन्ध था, इसका विचार भी आगे किया गया है।

परिशिष्ट—3

गोरक्षशिष्य मल्लिकानाथ और उनकी परम्परा

नाथ सम्प्रदाय का राजवंशों से सम्बन्ध रहा है, इसकी पुष्टि भारतीय और भोट दोनों स्रोतों से होती है। नाथसिद्धों का जो परिचय तिब्बती स्रोतों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है, उससे स्पष्ट है कि चौरंगीनाथ, भर्तृहरि, गोपीचंद्र, जालंधरि आदि का सम्बन्ध राजवंशो से था। राजा रसालू आदि की कथा प्रसिद्ध है। मल्लिकानाथ भी संभवत: किसी राजवंश से सम्बद्ध क्षत्रिय योद्धा थे और उड़ीसा के निवासी थे। मल्लिकानाथ का जो परिचय 'नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन' में प्रकाशित किया गया है, उससे प्रमाणित होता है कि उड़ीसा का भंज राजवंश नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित था अथवा उसे इस सम्प्रदाय के महायोगियों का आशीर्वाद प्राप्त था। 'मल्लिकामकरंद' नामक ताड़पत्रीय हस्तलेख से ज्ञात होता है कि नीवारदेशीय बिबुधेन्द्र मल्ल नाम के एक क्षत्रिय योद्धा थे। किसी समय मृगया में उन्होंने समाधिस्थ कापालिक गोरक्षनाथ का दर्शन किया। नमस्कार करने पर, आशीर्वाद न मिलने के कारण बिबुधेन्द्र मल्ल ने गोरक्ष को दम्भी समझ, क्रुद्ध होकर कापालिक गोरक्षनाथ के मस्तक पर खंग से प्रहार किया। जटाजूट से टकरा कर खंग के टूट जाने पर बिबुधेन्द्र को अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ और वे संसार को त्याग कर गोरक्ष के शिष्य बने। उन्होंने दीक्षा प्राप्त कर कालीकुल और ताराकुल की सिद्धि प्राप्त की। सिद्धि प्राप्ति के बाद बिबुधेन्द्र मल्ल विश्वनाथ के नाम से ख्यात हुए। इनका गुप्त नाम 'स्वानन्द' था। इन्होंने गुरु के ही आदेश से त्रिपुरा की उपासना के लिए उड्डीयान की यात्रा की थी और कौलों के साथ विभिन्न चक्रार्चनों में त्रिपुरा देवी की उपासना में लीन रहने के बाद उड्डीयानादि पर सिद्धिलाभ किया। चक्रार्चन में इन्होंने अपनी उत्तरसाधिका के रूप में एक ब्रह्मवादिनी ब्राह्मण-कन्या का वरण किया था। इस कन्या से ही इनका चक्र में शैव विवाह भी हुआ। उड्डीयान के सिद्धों के क्रमानुसार इन्होंने अपनी सिद्धा भैरवी का नाम मल्लिका रखा और तत्पश्चात् ही ये मल्लिकानाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके प्रमुख शिष्य वारुणीनाथ थे। महानिर्वाण के दिन उन्होंने वारुणीनाथ को मृत्युपरांत शरीर को अरण्य में गाड़ कर उसके ऊपर शिवलिंग स्थापित करने का आदेश दिया। तदनुसार ही वारुणीनाथ ने किया तथा पास में ही उन्होंने मल्लिकानाथ के स्वहस्तार्चित शिवलिंग को भी प्रतिष्ठित कर दिया। गोरक्ष आकाशमार्ग से उड्डीयान आये थे तथा मल्लिकानाथ ने उनका दर्शन किया था।

सिद्धा भैरवी मल्लिका मल्लिकानाथ के इहलोक त्याग के बहुत दिनों बाद तक जीवित रहीं। ये कालिका मंत्र में दीक्षित थीं और पागलों जैसी रहती थीं। इस स्थान को दंडमुक्ति कहा गया है। मल्लिकामकरंद में मीननाथ और गोरक्षनाथ का भी कुछ विवरण उपलब्ध है। वारुणीनाथ के शिष्य विमलनाथ थे।

मल्लिकामकरंद नामक ग्रंथ के रचयिता विमलनाथ सिद्ध थे और इसकी रचना उन्होंने अपने गुरु के निर्देश से की थी। इसका उपदेश स्वयं गुरु वारुणीनाथ से ही इन्हें मिला था। उपर्युक्त विवरण का मूलाधार यही ग्रंथ है। इसकी एक प्रति स्व० श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव के पैतृक पुस्तकालय में सुरक्षित थी। इस ग्रंथ से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :-

1. गोरक्षनाथ का कापालिक रूप भी प्रख्यात था।
2. ताराकुल और कालीकुल की भी दीक्षा गोरक्षनाथ के द्वारा दी गई। इससे उनकी तांत्रिकता सिद्ध होती है।
3. नाथों के द्वारा कापालिक मत भी प्रवर्तित किया गया था, इसकी पुष्टि होती है।
4. गोरक्षनाथ का कौलों से भी सम्बन्ध था तथापि ये मुख्य रूप से शैव ही थे।
5. इस हस्तलेख के आधार पर देश के पूर्वी भाग में प्रवर्तित एवं विकसित होनेवाली परंपरा का भी निर्देश किया जा सकता है—
   मत्स्येंद्रनाथ→अथवा→मीननाथ→गोरक्षनाथ→मल्लिकानाथ→वारुणीनाथ →विमलनाथ।

'मल्लिका गोरक्ष संवाद' नामक एक भिन्न हस्तलेख से यह प्रमाण मिलता है कि मल्लिकानाथ गोरक्षनाथ के शिष्य थे और इस ग्रंथ में मल्लिकानाथ की जिज्ञासा पर गोरक्षनाथ ने जो उपदेश दिया था, उसे उन्होंने मत्स्येंद्रनाथ से प्राप्त किया था। बंगला भाषा और लिपि से स्पष्टत: इस हस्तलेख का मूल भी बंगीय ही निश्चित होता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरक्षसिद्धांतसंग्रह से जिन सिद्धों के नाम का उल्लेख किया है, वे हैं—उदयनाथ, एकनाथ, काणेरी, कूर्मनाथ, गोपीचंद्रनाथ, चर्पट, दंडनाथ, मीन, मालीपाव, भवनार्जि, संतोषनाथ, सत्यनाथ, हालिपा (नाथ संप्रदाय, पृ० 33-36)। डॉ० द्विवेदी ने मल्लिकानाथ पर विचार-विमर्श करते समय यह संकेत किया कि इनके मालीपाव से अभिन्न होने की संभावना है। मालीपाव का इस समय कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

गोरक्षनाथ ने उक्त संवाद ग्रंथ में मल्लिकानाथ को जो उपदेश दिया था, उसमें निम्नलिखित विषय थे—

पिंड में आत्मा की स्थिरता, जन्म-मृत्यु से अतीत होना, शरीर की अचलता, सप्तवार योग, घटयोग, पवनसाधन, मन-पवन-साधन, सप्तखंडज्ञान, सप्तवार, सप्तभूमि, योगांग, भोगांग, धारणा, कालजय, मायाजय, कायानगरविजय, अविनाशी

पिंड, रसरक्षा, कालसिद्धि, नाड़ी (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना) साधन, दस पवन, सप्तांग योग। इस ग्रंथ के अनुसार गोरक्ष ने वारानुसार साधन पर विशेष बल दिया था। (द्र० गोरखबानी में 'सप्तवार' और 'सप्तवार नवग्रह' रचनाएँ)। सप्त संख्या भी रचनाकार को विशेष प्रिय है (जैसे सिद्धसिद्धांतपद्धति में 'पाँच' संख्या की महिमा है)। इसमें त्रयों की भी महिमा है, जैसे—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गंगा, यमुना, सरस्वती, उदयाचल, अस्ताचल, शून्याचल। स्पष्ट ही इनका साधना से सम्बन्ध है। कालजय की दृष्टि से चंद्र-सूर्य-साधन की व्याख्या भी दी सकती है। चंद्र का इड़ा से, सूर्य का पिंगला से तथा अग्नि का सुषुम्ना से सम्बन्ध है। इसी प्रकार साधन (अमृतसाधन) की दृष्टि से उदयचंद्र (अमृत) में अस्त सूर्य (अमृत शोषक) में तथा शून्यपद अग्नि या सुषुम्ना (द्वैतविवर्जित स्थान) में है। यह भी कहा गया है कि सात वारों में से तीन वारों पर चंद्र का और चार पर सूर्य का प्रभाव है। गोरक्ष ने वारानुसार साधन का बार- बार उपदेश दिया है।

परिशिष्ट—4

जालंधर और कानुफा का कापालिक सम्प्रदाय और 'बामारग'

गोरक्षनाथ और अन्य नाथसिद्धों का तिब्बती स्रोत से प्राप्त परिचय परिशिष्ट-1 में प्रस्तुत किया गया है। इसमें जालंधरिपा और कानिपा का भी परिचय सम्मिलित है। बौद्धसिद्धों की परंपराओं[1] का उल्लेख डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने किया है जिनमें से एक में इन दोनों सिद्धों की वंशपरंपरा का पता चलता है—

सरह→नागार्जुन→शवरीपा→वज्रघंटापा→कच्छपा→जालंधरिपा→कृष्णपाद→ गुह्यपा→विजयपा→तैलोपा→नारोपा।

विभिन्न सूचनाओं की परीक्षा करने पर यह प्रकट होता है कि जालंधरपाद के तीन भिन्न-भिन्न व्यक्ति गुरु थे—आचार्य कंबल, आदिनाथ शिव तथा घंटापाद के शिष्य कूर्मपाद। उक्त स्रोत से घंटापाद के शिष्य कच्छपा थे जिन्होंने जालंधरिपा को दीक्षा दी थी। अर्थ की दृष्टि से कच्छपा और कूर्मपा एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। काजी दवासम दुप के चक्रसंबरतंत्र की भूमिका के आधार पर डॉ० भट्टाचार्य ने जो परंपरा प्रस्तुत की है, उससे जालंधर और कृष्णपाद का गुरु-शिष्यत्व भी प्रमाणित होता है। राहुलजी ने सस्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं (1091-1279 ई०) की ग्रंथावली 'स-स्क्य-ब्कं-बुम्' तथा कुछ भारतीय स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं का समायोग कर वंशवृक्ष सम्बन्धी जो सामग्री प्रस्तुत की है, उसके आधार पर जालंधरिपा की शिष्यपरंपरा इस प्रकार निर्दिष्ट की जा सकती है—

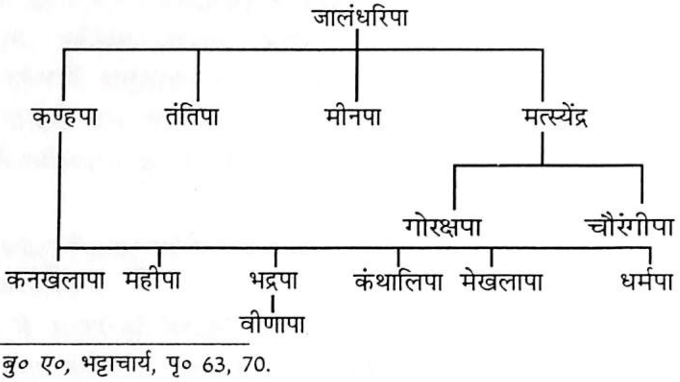

1. *इं० बु० ए०*, भट्टाचार्य, पृ० 63, 70.

यदि नाथपंथी और तिब्बती दोनों स्रोतों का सामंजस्य किया जाय तो उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

जालंधरिपा→कण्हपा, तंतिपा, गोपीचंद्र, भर्तृहरि, बुद्धज्ञानपाद, छोटे विरूप, मीन, मत्स्येंद्र।

मत्स्येंद→गोरक्ष, चौरंगीपा।

कण्हपा→गुह्यपा, कनखलापा, महीपा, भद्रपा, कंथालिपा, मेखलापा, धर्मपा।

गुह्यपा→विजयपा→तैलोपा→नारोपा।

भद्रपा→वीणापा।

सरहपाद और कंबलांबरपाद ने संयुक्त रूप से हेवज्रसाधन का समारंभ किया था और पृथक् रूप से भी। प्रथम परिशिष्ट से इस पर प्रकाश पड़ता है। कृष्णपाद के चर्यापदों से उनके कापालिक होने का प्रमाण मिलता है। हेवज्रतंत्र में हेरुक के कापालिक रूप की साधना का विस्तार है। कृष्णपाद के कापालिक होने का उल्लेख मिलने से यह संकेतित होता है कि बौद्धों में भी कापालिक तत्त्व विद्यमान थे। सरोरुहपाद और कंबलांबरपाद द्वारा उपदिष्ट हेवज्रतंत्र की परंपरा में जालंधरपाद और कृष्णपाद की अवस्थिति अति महत्वपूर्ण है। जालंधरपाद ने श्मशान में जाकर श्री हेरुक के मंडल में मुक्त प्रवेश प्राप्त किया और चार डाकिनियों से अभिषेक प्राप्त कर महामुद्रा सिद्धि प्राप्त की। तांत्रिक धर्मकीर्ति और जालंधरपाद दोनों ही समकालीन (9वीं ई० शताब्दी—देवपालकालीन) थे तथा दोनों ही हेवज्रतंत्र से संबद्ध थे। जालंधरपाद ने सरहपाद के हेवज्रसाधन सम्बन्धी एक ग्रंथ पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम था 'शुद्धिवज्रप्रदीप'। कृष्णपाद ने भी हेवज्रतंत्र पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम था 'योगरत्नमाला' अथवा 'हेवज्रपंजिका'। कृष्णपाद द्वारा अपने को कापालिक घोषित किए जाने पर[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अनुमान किया है कि शैव कापालिक संप्रदाय की तरह ही बौद्धों का भी कापालिक सम्प्रदाय था जिसका अनुसरण जालंधरपाद और कृष्णपाद ने किया था; किन्तु बौद्ध कापालिक सम्प्रदाय का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। इसलिए शैव कापालिकों की विशेषताओं के आधार पर उन्होंने बौद्ध कापालिक सम्प्रदाय का अनुमान किया है।[2]

डॉ० द्विवेदी ने भवभूति के मालतीमाधव के आधार पर बताया है कि कापालिक मनुष्यबलि किया करते थे। उनका मत षट्चक्र और नाड़िकानिचय के कायायोग से संबद्ध था।[3] सौदामिनी नाम की एक बौद्ध भिक्षुणी श्रीपर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी। उस समय तांत्रिक पीठ के रूप में प्रसिद्ध उस पर्वत पर शैव, शाक्त और बौद्ध

1. *चर्यागीति कोष, सं० डॉ० प्रबोधचंद्र बागची तथा श्री शांति भिक्षु शास्त्री,* पृ० 38.
2. *ना० सं०,* पृ० 82.
3. *वही,* पृ० 5–6.

साधनाएँ पास ही पास फल-फूल रही थीं। बौद्धों के सम्बन्ध में यह बात इसलिए भी संगत मालूम पड़ती है कि यह श्रीशैल वज्रयान का उत्पत्तिस्थान भी माना जाता है।[1] द्विवेदीजी ने यह भी बताया है कि साधन-माला के साधनों में हेरुक की जो साधना बताई गई है तथा हेरुक का जो स्वरूप बताया गया है, वह बहुत कुछ नटराज शिव से मिलता है।[2] उनकी विशेषताएँ हैं—नरचर्म्मधारण, कपालमालाधारण, प्रकाशित ऊर्द्ध्व पिंगल केश, आँतों से संग्रथित मुण्डमालाधारण, नरास्थिरचित, आभरणधारण, रक्तपरिपूर्ण, कपालधारण, भस्मोद्धूलित विग्रह, शव के ऊपर अर्द्ध पर्यंकासन आदि। इसके साथ यह भी बताया गया है कि श्री हेरुक का शीर्षभाग अक्षोभ्यांकित है तथा वे महामांस का भक्षण करते हैं। इस साधना के लिए श्मशान प्रवेश भी निर्दिष्ट है। वे कर्तृकपाल धारण करनेवाली नैरात्मा से आलिंगित रहते हैं।[3] डॉ० द्विवेदी ने मालतीमाधव, प्रबोधचंद्रोदय, कर्पूरमंजरी और दातड़ीपाद के श्लोक (चर्या० सं० 11 की टीका) के आधार पर शैव-बौद्ध कापालिकों का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है,[4] उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक बाह्य वेश और बाह्याचार का सम्बन्ध है, बौद्ध एवं शैव कापालिकों में कोई विशेष भेद नहीं है।

इलियट ने शंकरदिग्विजय तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर, कापालिक, कालामुख और महाव्रती लोगों को एक मानते हुए तथा कापालिकों का लक्षण बताते हुए कहा है कि ये कपाल धारण करते थे, शवों के मांस का भक्षण करते थे तथा अघोरियों के अग्रयायी थे।[5] रामानुज और यामुनाचार्य दोनों ने कापालिकों से संबंधित जिन श्लोकों को उद्धृत किया है, उनसे यह स्पष्ट होता है कि कापालिक छह मुद्रिकाओं के तत्त्वज्ञ होते थे और परम मुद्रा के साधन में विशारद होते थे। वे भगासनस्थ रूप में अपना ध्यान करते थे।[6] म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज ने कापालिकों के कुछ सिद्धान्तों को भी स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि कापालिक मत में परमेश्वर को अद्वैत तत्त्व ही माना गया है। जब संहारभैरव अन्यान्य खंड भैरवमूर्तियों को आत्मलीन करके प्रलय के अन्त में अपने आपमें विराजते हैं, तब कोई दूसरी सत्ता नहीं रह जाती। वस्तुतः सृष्टिदशा में भी जगत् स्वगतभेदयुक्त होते हुए भी ईश्वर के साथ अभेदरूपेण संबद्ध रहता है। ईश्वर नित्य युगल रूप में प्रकाशमान है शक्त्यालिंगित शिव या उमामहेश्वरमूर्ति कापालिकों के उपास्य देव हैं। कभी-कभी अर्द्धनारीश्वर रूप का भी प्राधान्य पाया जाता है। जगत् के माता-पिता

1. *ना० सं०*, पृ० 82.
2. *वही*, पृ० 84.
3. *साधनमाला, सं० डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, वा० 2*, पृ० 468-476, साधन सं० 241-245.
4. *ना० सं०*, पृ० 84-85, 86-88.
5. *हिंदुइज़्म ऐंड बुद्धिज़्म* वा० 2, पृ० 203.
6. *शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया, डॉ० पाठक*, पृ० 20 *तथा पादटिप्पणी।*

नित्य सम्पृक्त वाक् और अर्थ के समान नित्य युक्त हैं। अन्यान्य तांत्रिकों के समान कापालिक भी इस मूर्ति की श्रेष्ठता स्वीकार करते है।... कापालिक वामाचारी होते हुए भी परमेश्वर को शिवशक्त्यात्मक मानते हैं—केवल शिवात्मक नहीं।... कापालिक सिद्धान्त अनेक अंशों में अद्वैतवाद का केवल प्रकारभेद है।[1]

इस प्रकार शैव और बौद्ध स्रोतों से प्राप्त विविध सूचनाओं के आधार पर कापालिकों की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं—

1. चिताभस्म, कपाल, अस्थिमालिका, जटा आदि का धारण।
2. महामांस, शवमांस, मद्य, नररक्त आदि का भोजन-पान।
3. मुद्रा के साथ नित्य विहार।
4. शक्ति से नित्य परिणद्ध रूप में उपास्य की कल्पना।
5. अद्वयभाव (उपास्य-उपासक तथा शिव-शक्ति, दोनों दृष्टियों से)।
6. श्मशान साधन, शवासन।
7. नरकपाल का पात्र के रूप में प्रयोग।
8. पंचमकारों से उपास्य की पूजा।
9. चक्र-नाड़ी आदि की साधना।

इन लक्षणों और विशेषताओं को सांप्रदायिक लक्षण और विशेषताओं के रूप में यदि स्वीकार किया जाय तो बौद्ध कापालिकों के भी ये लक्षण स्वीकार किए जा सकते हैं। सांप्रदायिक दृष्टि से सरहपाद, जालंधरपाद और कृष्णपाद का स्थाननिर्णय करने के लिये ये उपर्युक्त लक्षण पर्याप्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं। एक सम्बन्ध में दो-एक बातों पर और ध्यान दिया जा सकता है। तांत्रिक साधना में ही, प्रायः सर्वत्र, जहाँ साधनागत अवस्थाओं का विभाजन मिलता है, अधिकारभेद का सिद्धान्त स्वीकृत है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि व्यक्ति, रुचि, संस्कार, योग्यता और साधनसंपत्ति साधक के साधनोपयुक्त अधिकार के निर्णय में परमावश्क तत्व हैं। तदनुसार ही साधक के साध्य और साधन का भी निर्णय स्वाभाविक है। इस सिद्धान्त का प्रसार विविधरूपात्मक और विविधपक्षीय है। साध्य के अनुकूल ही साधक वेश-विन्यास, क्रिया-कलाप, आचार, भाव आदि का व्यवहार एवं प्रयोग करता है। इस क्रम के पारंपरिक हो जाने पर, एक आम्नाय अथवा साधनक्रम अथवा उपयान अथवा उपसंप्रदाय का निश्चय करना हो तो उसके उपास्य, उपासनापद्धति, वेश आदि का विचार लाभकर हो सकता है। ठीक इसी पद्धति से सरहपाद, जालंधरपाद और कृष्णपाद के कापालिक आम्नाय का विचार किया जाना चाहिए।

सरहपाद के हेवज्रसाधन की परंपरा में हेवज्रतंत्र और उसकी कृष्णाचार्य द्वारा रचित योगरत्नमाला (हेवज्रपंजिका) का विशेष महत्त्व है। सरहपाद और कंबलपाद ने

1. *भा० सं० सा० (1), कविराज,* पृ० 218-219.

ही हेवज्रतंत्र का प्रकाशन किया था।[1] तारानाथ ने सरहपाद रचित बुद्धकपालतंत्र नाम के एक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है।[2] हेवज्रतंत्र में हेवज्र के स्वरूप, साधन, साधक, मुद्रा, साधनस्थल आदि का विस्तार से विवेचन है। हेवज्र उसके उपास्य हैं। वे कपालों की माला धारण करते हैं, वीर हैं तथा सदैव नैरात्मा से आश्लिष्ट रहते हैं। उनका वर्ण नीला है और वे अरुणाभा से युक्त हैं। उनके नेत्र बंधूकपुष्प से लाल हैं। पिंगल वर्ण के ऊर्ध्वोत्थित केश हैं। वे पाँच मुद्राओं से अलंकृत हैं। वे चक्री, कुंडल, कंठी धारण किए हुए हैं। वे हाथ में सोने का आभूषण धारण किए हुए हैं। मेखला भी पहने हुए हैं। क्रोध से भरी हुई उनकी दृष्टि है। वे सोलह वर्ष के हैं और व्याघ्रचर्म पहने हुए हैं। उनके हाथों में वज्रकपाल, खट्वांग और कृष्णवज्र हैं। अष्ययोगिनियों से परिवृत होकर वे नाथ श्मशान में क्रीड़ा करते हैं। वे चतुर्भुज हैं। उनकी प्रथम वामभुजा में देवताओं और असुरों के रक्त से पूर्ण नरकपाल है। प्रथम दक्षिण भुजा में वज्र है। शेष दोनों भुजाओं में प्रज्ञा भगवद्रूपिणी, वज्रवाराही आलिंगित रूप में है।[3] ठीक इस रूप में महामुद्रा और मुद्रा का भी वर्णन मिलता है जिसे प्रज्ञास्वभावा कहा गया है। हेवज्रतंत्र में मुद्रा का भी हेवज्रानुरूप बहुत विस्तार से वर्णन है।[4] यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् का जैसा रूप है, वैसा ही प्रज्ञा का भी है।[5] इसी प्रकार वीर साधक का भी वर्णन है जिसमें वह अस्थिमालिकादि धारण करता है। इस साधक अथवा भावक को कानों में दिव्य कुंडल, मस्तक में चक्री, हाथों में दो रुचक, कटि में मेखला, पैरों में नूपुर, बाहुमूल में केयूर तथा ग्रीवा में हड्डियों की माला धारण करनी चाहिए उसका परिधान व्याघ्रचर्म है। उसे पंचामृत ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार के हेरुकयोग के पुरुष को पंचवर्णों में विहार करना चाहिए। उसे पाँचों वर्णों को एक मानना चाहिए। उसे वृक्ष के नीचे, श्मशान में, देवी के मंदिर में अथवा विजन प्रांतर में से किसी भी स्थान में मुद्रा के साथ उक्त चर्या करनी चाहिए।[6] इसी प्रकार की कापालिक साधना के और भी अनेक संदर्भ हेवज्रतंत्र में मिलते हैं।[7]

उक्त लक्षणों और विशेषताओं को कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं में स्पष्टतया देखा जा सकता है जिनसे उनके कापालिकत्व की सिद्धि होती है। कृष्णपाद ने अपने

---

1. *दि हेवज्रतंत्र, ए क्रिटिकल स्टडी, डी० एल० स्नेलग्रोव, पा० 1, इंट्रो०,* पृ० 12.
2. *स्ट० बु० क० इं०,* पृ० 385.
3. *दि हेवज्रतंत्र, पार्ट 2, मूल 2.4.3,* पृ० 76; *वही, मूल* 1.3.13-16, पृ० 12-14; *वही, मूल* 1.3.17, पृ० 14.
4. *वही, मूल* 1.6.8-9, 1.8.16-20, 1.8.20-21.
5. *वही, मूल,* 2.3.16-18.
6. *वही, पार्ट* 2, *मूल,* 1.6.2-5, 1.6.6.
7. *वही,* पार्ट 2, मूल, 1.2.20-29, 1.7.18, 2.3.49, 2.5.51, 1.11.10-15, 2.10.14, 1.113.20 ; पार्ट 1, *इंट्रो०,* पृ० 22-46.

चर्यापदों में आलि–कालि–साधन का उल्लेख किया है। वे आसवपान से मत्त होकर विलास करते हैं। नगर के बाहर निवास करनेवाली डोम्बी के संगम का वे दृढ़ निश्चय व्यक्त करते हैं और इस प्रकार वे अपने को निर्घृण एवं नग्न कापालिक योगी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वह डोम्बी भी चतुष्षष्ठिदलकमल (बौद्ध मतानुसार निर्माणचक्र—नीचे से प्रथम) पर नृत्य करती है। उसी के लिए वे अस्थिमालिका धारण करते हैं। इस साधना से अनाहत डमरू वीरनाद में निनादित होता है और कापालिक योगी काण्हपाद आचार में प्रविष्ट होते हैं। इस समय के वेशविधान के अनुसार वे घंटा, नूपुर, कुंडल, छार या भस्म, मोतियों का हार धारण करते हैं। इनका डोंबी के साथ साधनात्मक विवाह होता है। जब वे इसके लिए प्रयाण करते हैं तो मर्दल, कांस्यताल आदि की ध्वनि होती है। जय–जय का दुंदुभि शब्द उच्छलित होता है। विवाहोपरान्त इस डोंबी के साथ सुरतप्रसंग में रात–दिन बीतते जाते हैं। इस प्रकार रजनी प्रभात के रूप में बदल जाती है। सहजोन्मत्त कृष्णपाद क्षण भर के लिये भी डोंबी का साथ नहीं छोड़ते।[1]

कृष्णपाद के चर्यापदों के उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने को नग्न कापालिक योगी घोषित करते हैं और कापालिक योगी के घंटा, नूपुर, कुंडल, अस्थिमालिका आदि चिह्नों को भी धारण करते हैं। वे मद्यपान करते हैं, डोंबी के साथ विवाह कर उसके साथ मैथुन में उन्मत्त होकर विलास करते हैं। इसमें नृत्य, गीत, वाद्यादि की समायोजना भी वे करते हैं। इस प्रकार कापालिक योगी के प्रायः सभी लक्षण कृष्णपाद पर घटित होते हैं यद्यपि वे श्मशान और कपाल का उल्लेख नहीं करते। इनमें से अनेक लक्षणों अथवा तत्त्वों की पुष्टि कृष्णपाद के दोहाकोष और उनकी शिष्या मेखला द्वारा लिखी संस्कृत टीका से भी हो जाती है।[2] कृष्णपाद के चर्यापदों के उक्त उल्लेखों से कृष्णपाद के कापालिकत्व का पूरा रूप प्रकट हो जाता है जबकि दोहाकोष और उसकी टीका से उसके केवल मैथुन तत्त्व का ही परिचय मिलता है। यह मैथुन भी अनेक स्थलों पर दिव्याचारपरक अर्थ में प्रयुक्त दिखाई पड़ता है। हेवज्रतंत्र में हेवज्र अथवा हेरुक के लिए प्रयुक्त 'नाथ' और 'वीर' शब्दों का इन रचनाओं में भी अनेक बार दर्शन होता है।

ऊपर भारतीय साहित्य में प्राप्त जिन कापालिक संदर्भों की चर्चा की गई है, वे बहुत प्राचीन हैं और उनमें से अनेक प्रथम ईस्वी शताब्दी के हैं। ललितविस्तर (बौद्ध महायान ग्रंथ, नवीं शताब्दी के पूर्व अथवा लगभग 5वीं ई० श०) से ज्ञात होता है कि कपालधारण विधर्मियों द्वारा शोधन कर्म के रूप में स्वीकार किया जाता था। ऐसे लोगों

---

1. *चर्यागीतिकोष,* पृ० 23, *चर्यापद सं० 7,* पृ० 30. *च०* 9, पृ० 33, *च०* 10, *पृ०* 38, *च०* 11, पृ० 64, *च०* 19.
2. *दोहाकोष, डॉ० बागची,* पृ० 151–152, *कृष्णपादस्य दोहाकोष,* दो० *सं०* 6, पृ०162–163, दो० 28, पृ० 164, दो० 31–32.

को वहाँ धर्म-संमूढ़ कहा गया है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि लगभग 5वीं ई० शताब्दी के पूर्व तक बौद्ध साधना में कापालिक तत्त्वों को मान्यता नहीं मिली थी। अत: पूर्वागत शैव कापालिक तत्त्वों का बौद्ध धर्म में ग्रहण 5 वीं से लेकर सरहकाल (लगभग 8वीं ई० श०) के बीच के काल में किसी समय माना जा सकता है जिसे शास्त्रीय स्वीकृति सरह और कंबलांबर ने अपने ग्रंथों से दी और यह क्रम जालंधरपाद, कृष्णपाद आदि के द्वारा प्रवर्द्धित होता रहा; किन्तु कुछ ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जिनके आधार पर बौद्धों और शैव कापालिकों के प्राचीनतर सम्बन्ध की सिद्धि होती है। यह सर्वप्रसिद्ध है कि असंग का तांत्रिक बौद्ध मत के प्रवर्तन, प्रचार और प्रसार में महत्वपूर्ण स्थान है। उनके गुरु मैत्रेयनाथ के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बात कही जाती है। डॉ० तुची ने यह संकेत किया है कि चतुर्थ शताब्दी के लगभग हरिवर्मन के तत्त्वसिद्धिशास्त्र नामक ग्रंथ में नवसौम (संभवत: एक तांत्रिक कापालिक सम्प्रदाय) का संदर्भ मिलता है, जो षोडश वर्गों का विश्वासी था। इन षोडश वर्गों का उल्लेख मैत्रेयनाथ के मध्यान्तानुगमशास्त्र में मिलता है। इस सूची में ओषधियों, मंत्रों, नक्षत्रों, देवताओं आदि की अंतर्गणना है। डॉ० तुची का निष्कर्ष है कि हरिवर्मन के काल में तांत्रिक सिद्धान्तों और साधनों का प्रचलन था और इससे यह भी संकेत होता है कि बौद्धों का शैवों (कापालिकों) से घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह शैव सम्प्रदाय संभवत: सोमसिद्धान्त था।[2] इससे यह प्रमाणित होता है कि लगभग चौथी शताब्दी में ही शैव कापालिक प्रभाव और तत्त्व बौद्ध साधन एवं दर्शन में विद्यमान थे किन्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, इस कापालिक प्रभाव को सर्वत्र बौद्ध मान्यता नहीं मिली थी।

इस प्रकार शैव कापालिक संदर्भ बौद्ध कापालिक संदर्भों से बहुत प्राचीन हैं। इस सम्बन्ध में 'हेवज्र' अथवा 'हेरुक' के लिए 'वीर' और 'नाथ' के प्रयोग भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस साधना का सम्बन्ध वामाचार से था, इसे सभी स्वीकार करते हैं। वीराचार के अन्तर्गत गृहीत इस साधना के साधक को बौद्ध तांत्रिक समुदाय में 'वीर' विशेषण दिया जाता है। किंबहुना, उपास्य हेवज्र अथवा हेरुक को भी 'वीर' कहा गया है। हेवज्र और हेरुक को 'नाथ' भी कहा गया है, जिसका सीधा सम्बन्ध शैव परंपरा से है, जबकि यह बौद्ध परंपरा में भी प्रचलित था। इसका निष्कर्ष यह है कि बौद्ध तांत्रिक सम्प्रदाय में कापालिक आम्नाय का उदय शैव कापालिक मत का प्रसार है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि बौद्ध कापालिक आम्नाय एवं साधना का उदय शैव-बौद्ध वामाचारी तत्त्वों के सम्मिश्रण का फल है जिसका प्रामाणिक एवं प्रकाशित रूप हमें सरहपाद (8वीं शताब्दी) के समय से मिलने लगता है। सरहपाद, जालंधरपाद और कृष्णपाद इस आम्नाय के विशेष प्रचारक एवं पोषक प्रतीत होते हैं।

1. *शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया, डॉ० पाठक,* पृ० 20 *तथा पादटिप्पणी।*
2. *स्ट० बु० क० इं०,* पृ० 318.

गोरक्षनाथ द्वारा संगठित साढ़े बारह संप्रदायों में से (जिनका विवेचन पहले किया जा चुका है) 'बामारग' नाम का सम्प्रदाय आधे सम्प्रदाय के रूप में स्वीकृत है।[1] यह सम्प्रदाय कान्हुपा का ही सम्प्रदाय था। जालंधरपाद कृष्णपाद के गुरु थे तथा मत्स्येंद्रनाथ के गुरुभाई थे। इनका सम्प्रदाय बौद्धों और शैवों, दोनों में मान्य रहा। कापालिक मार्ग शैवों में वाममार्ग है। अतः उसे संशुद्ध कर आधे सम्प्रदाय के रूप में गोरक्षनाथ ने अंतर्भुक्त होने की स्वीकृति दी; क्योंकि यह मूलतः शैव प्रभाव से युक्त रहा। इस प्रकार जालंधरिपाद और कृष्णपाद का कापालिक सम्प्रदाय तांत्रिक बौद्धों और शैव नाथों का संधिस्थल है, यद्यपि उसके दार्शनिक मूलाधार बौद्ध ही हैं। कृष्णपाद की अपभ्रंश रचनाओं में, विशेषकर चर्यापदों में प्राप्त कापालिक तत्त्वों का दर्शन पहले ही किया जा चुका है।

नाथों और कापालिकों के सम्बन्ध के विषय में भी यहाँ कुछ कहना समीचीन होगा। डॉ० फर्कुहर की दृष्टि में नाथ और कापालिक परस्पर घनिष्ठरूपेण संबद्ध हैं। उन्होंने इन दोनों की समता की ओर संकेत किया है।[2] श्री घुरे नाथों को प्राचीन पाशुपत कापालिक संन्यासियों का विकसित रूप मानते हैं।[3] नाथपंथियों में 'घेरंड संहिता' हठयोग का एक मान्य ग्रंथ है। इसमें योग की शिक्षा एक चंड कापालिक नाम के व्यक्ति को दी गई है।[4] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कापालिक लोग योगसाधन करते थे तथा नाथों के समान ही कापालिक लोग भी हठयोग की शिक्षा लेते थे। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में स्पष्टतः कहा गया है कि 'हम लोगों का मत कापालिक नहीं है, तथापि कापालिक मत भी नाथ (शिव) के द्वारा प्रकटीकृत है। अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य को, इस ग्रंथ में, कापालिक के द्वारा पराजित कराकर उनसे अवधूत मत ग्रहण कराया गया है और इस प्रकार उनके मत का खंडन किया गया है।'[5]

इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि नाथ सम्प्रदाय में अंतर्भुक्त साढ़े बारह पंथों में 'बामारग' प्राचीन शैव कापालिक सम्प्रदाय के प्रभाव से उद्‌भूत तांत्रिक बौद्ध कापालिक आम्नाय का अवशेष है। गोरक्षनाथादि विविध नाथसिद्धों से संबंधित कथाओं से यह ज्ञात होता है कि जालंधरपाद और कृष्णपाद का गोरक्षनाथ से साधनात्मक संघर्ष अथवा प्रतिद्वंद्विता थी। हठयोग में, गोरक्षनाथ की हिन्दी वाणी में भी, वीराचारप्रधान साधना के कुछ साधन अवश्य हैं। उदाहरणतः लोग वज्रोली, सहजोली आदि साधनाओं की ओर संकेत करते हैं। सारी सामग्री देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जालंधर

1. *नाथ सम्प्रदाय, द्विवेदी,* पृ० 82 (सन् 1950).
2. *ऐन आउटलाइन ऑव द रेलिजस लिटरेचर ऑव इंडिया, डॉ० जे० एन० फर्कुहर,* पृ० 251-254.
3. *दि इंडियन साधुज़, श्री घुरे,* पृ० 52, 59, 63, 78, 87, 128-132, 145.
4. *वही,* पृ० 150.
5. *गो० सि० सं०*, पृ० 17-19.

और कान्हुपा की साधना वामाचार एवं वीरभावप्रधान थी जो पंचमकार साधन से समन्वित वज्रयान-सहजयान के सर्वथा अविरुद्ध रही होगी; किन्तु जैसे-जैसे गोरक्षनाथ का वर्चस्व बढ़ा होगा और मत्स्येंद्र के वामाचारप्रधान एवं शक्तिसाधना से समन्वित योगिनी कौल मत का पराभव हुआ होगा और विमला देवी तथा उनके आई पंथ ने गोरक्षनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया होगा, तभी जालंधर और कान्हुआ का कापालिक वाममार्गी सम्प्रदाय भी, स्वयं अपने में मूल शैव कापालिक संप्रदाय के विविध तत्त्वों एवं प्रभावों को लिये हुए गोरक्ष द्वारा पुनः संगठित सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गया होगा और इस प्रकार जालंधरपाद और कृष्णपाद हठयोगी नाथसिद्धों में गिन लिये गए होंगे, किन्तु कुछ वामाचारी साधनों से संबद्ध होने के कारण, आचार वैभिन्य के कारण, इनका सम्प्रदाय आधे सम्प्रदाय के रूप में ही स्वीकार किया गया होगा। इसी के परिणामस्वरूप वज्रोली, सहजोली जैसी साधनाएँ भी नाथ साधन में रह गई होंगी।

परिशिष्ट—5

सन्दर्भ- ग्रन्थ

अमरौघशासनम्, सं० पं० मुकुंदराम शास्त्री, काश्मीर सिरीज़ ऑव टेक्स्ट्स ऐंड स्टडीज़, बाम्बे, 1918.

आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, डॉ० शशिभूषण दासगुप्त, युनिवर्सिटी ऑव कलकटा, 1946.

आल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस (जर्नल), 1950.

इंट्रोडक्शन टु तंत्रशास्त्र, सर जॉन उडरफ, गणेश ऐंड कंपनी, मद्रास-17, 1952.

इंडियन साधुज़, जी० एस० घुरे, द पॉपुलर बुक डिपो, लैमिंगटन रोड, बंबई-1953.

इन्साइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, जेम्स हेस्टिंग्स, एडिनबरा, वा० 12, 1921.

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, काश्यां रामघट्टस्य बाबू शिवप्रसाद राघोराम सर्वहितैषी कंपनी द्वारा प्रस्तुत, सन् 1938.

ऐन आउटलाइन ऑव द रेलिजस लिटरेचर ऑव इंडिया, डॉ० जे० एन० फर्कुहर, लंडन, 1920.

ऐन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज़्म, डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, हंफ्री मिलफोर्ड, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1932.

औरंगजेब, सर जदुनाथ सरकार, प्रका० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बंबई, 1950.

कबीर, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रका० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बंबई, 1950.

कबीर ग्रंथावली, सं० श्यामसुंदर दास, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण, सं० 2008.

कबीर साहित्य की परख, पं० परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग, सं० 2011.

कर्पूरादिस्तोत्र, तांत्रिक टेक्स्ट्स, वा० 9, सं० आर्थर एवेलेन, लुजक ऐंड कंपनी, लंडन, 1922.

काश्मीर शैविज़्म, जगदीशचंद्र चटर्जी, पार्ट-1, द काश्मीर सिरीज़ ऑव टेक्स्ट्स ऐंड स्टडीज़, श्रीनगर, काश्मीर, 1914.

कास्ट ऐंड क्लास इन इंडिया, जी० एस० घुरे, फिलॉसाफिकल लाइब्रेरी, न्यूयॉर्क, 1952.

कौलज्ञाननिर्णय, एडिटेड बाइ डॉ० प्रबोधचंद्र बागची, कलकटा संस्कृत सिरीज़, 1934.

गंगा पुरातत्त्वांक, 1933, गंगा कार्यालय, कृष्णगढ़, सुलतानगंज, भागलपुर, बिहार।

गोरख-दर्शन, ले० अक्षयकुमार बनर्जी, सं० डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, अनु० श्यामबिहारी स्वरूप, प्रका० दिग्विजयनाथ न्यास, गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर, 2028.

गोरखनाथ ऐंड कानफटा योगीज़, जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स, जी० एम० सी० ए० पब्लिशिंग हाउस, 5 रसेल स्ट्रीट, कलकटा, हंफ्री मिलफोर्ड, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंडन, 1938.

गोरक्षनाथ और उनका युग, डॉ० रांगेय राघव,आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली-6, 1963.

गोरखबानी, सं० और टीकाकार डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2003 वि०।

गोरक्ष-पद्धति, पं० महीधर शर्मा कृत भाषानुवाद सहित, खेमराज श्रीकृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई-4, सन् 1954.

गोरक्षशब्दनिरुक्तिः, गोरक्षग्रंथमाला, 82वाँ पुष्प, योगप्रचारिणी महासभा, गोरक्ष-टीला, काशी।

गोरक्षसंहिता, श्री गोरक्षविरचिता, इंद्रजी शर्मा द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद, सं० 1950.

गोरक्षसिद्धांतसंग्रह, सं० गोपीनाथ कविराज, गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, 1925, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, नं० 18, पार्ट 1.

घेरंड संहिता, भाषा-टीकासहित, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बंबई, सं० 2013.

चर्यागीतिकोष, सं० डॉ० प्रबोधचंद्र बागची तथा शांतिभिक्षु शास्त्री, 1956, विश्वभारती, शांतिनिकेतन।

टिबेट हाउस म्यूजियम, कैटलाग इनागुरल एक्जिबिशन, 1965, 16, जोरबाग, न्यू डेल्ही, इंडिया।

तंत्रालोक, अभिनवगुप्त, प्रथमो भागः, सं० मुकुंदराम शास्त्री, काश्मीर सिरीज़ ऑव टेक्स्ट्स एंड स्टडीज़, श्रीनगर, 1918.

तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, नागेंद्रनाथ उपाध्याय, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, 1958.

दि इंडियन साधुज़, श्री जी० एस० घुरे, दि पॉपुलर बुक्स डिपो० लैमिंग्टन रोड, बॉम्बे–7, 1953.

दि कल्चरल हेरिटेज ऑव इंडिया, वा० 2 में डॉ० वी० वी० रमण शास्त्री का लेख।

दि फिलॉसफी ऑव दि उपनिषद्, डायसन।

दि बुद्धिज़्म ऑव टिबेट आर लामाइज़्म, एल० ए० वेडेल, सेकेंड एडिशन, न्यू इंप्रेशन, हेफर, कैंब्रिज, 1971.

दि रेलिजंस ऑव इंडिया, ए० बार्थ, ट्रांसलेशन बाइ रेव० जे० वुड, लंडन, ट्रब्नर ऐंड कं०, लडगेट हिल, 1882.

दि ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, पार्ट 1, 1926, कलकटा युनिवर्सिटी प्रेस।

दि सिख रेलिजन, मैक्स आर्थर मकालिक (6 खंड), वा० 1, 3, 4, 5, 6, ऑक्सफोर्ड, 1909.

दि हेवज्रतंत्र : ए क्रिटिकल स्टडी, डी० एल० स्वेलग्रोव, पार्ट 1–2, न्यूयॉर्क, 1964.

दोहाकोष, सं० डॉ० प्रबोधचंद्र बागची, कलकटा, 1938.

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग 1, अंक 4, 1999; भाग 11, सं० 4, माघ 1987 वि०।

नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० नागेंद्रनाथ उपाध्याय, प्रका० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1965.

नाथ पंथ, डॉ० शांतिप्रसाद चंदोला, प्रका० भगवती चंदोला, नेपाली कोठी, वरुणापुल, वाराणसी, 1975.

नाथ योग, श्री अक्षयकुमार बनर्जी, पब्लिशर–दिग्विजयनाथ ट्रस्ट, गोरखपुर।

नाथ संप्रदाय, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 1950.

नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली, डॉ० कल्याणी मल्लिक, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1950.

नाथसिद्धों की बानियाँ, प्रधान संपादक रुद्र काशिकेय, सं० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, सं० 2014.

पातंजल योगदर्शन, गीताप्रेस संस्करण, चौदहवाँ संस्करण, सं० 2007.

पुरातत्त्व निबंधावली, राहुल सांकृत्यायन, इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1937.

फिलॉसफी ऑव हिंदू साधना, श्री नलिनीकांत ब्रह्म।

बौद्ध गान ओ दोहा, सं० म० म० डॉ० हरप्रसाद शास्त्री, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, द्वितीय मुद्रण (संस्करण), भाद्र, बंगाब्द 1358.

भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, लामा तारानाथ विरचित, अनुवादक रिगज़िन लुंडुप लामा, काशीप्रसाद जायसवाल, शोध संस्थान, पटना, 1971.

भारतीय दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, काशी, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण, 1954 तथा सातवाँ संस्करण, 1966.

भारतीय संस्कृति और साधना, म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज, प्रका०— बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, भाग 1, 1963, भाग 2, 1964.

महंत दिग्विजयनाथ स्मृति ग्रंथ, प्रधान सं० डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, गोरक्षनाथ मंदिर, गोरखपुर, 1972.

महार्थमंजरी, गोरक्षटिल्ला, वाराणसी से योगप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रथम आवृत्ति।

महार्थमंजरी, सं० पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी:, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, सं० 2029.

मिश्रबंधु विनोद, मिश्रबंधु, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण।

मिस्टिक टेल्स ऑव लामा तारानाथ, डॉ० भूपेंद्रनाथ दत्त, रामकृष्ण वेदांतमठ, 19 बी, राजा राजकृष्ण स्ट्रीट, कलकटा-6, 1957.

योगप्रवाह, डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, संपा० संपूर्णानंद, प्रका०—श्री काशी विद्यापीठ, बनारस, सं० 2003, प्रथम संस्करण।

योगबीजम्, गोरक्षविरचित, योगप्रचारिणी सभा, गोरक्षटिल्ला, काशी, 2008, प्रथमवृत्ति।

योगिसंप्रदायाविष्कृति, चंद्रनाथ योगी, अहमदाबाद, 1924.

राजगुरु योगिवंश, श्री सुरेशचंद्रनाथ मजुमदार, प्रकाशक—श्री प्रमथनाथ, राणाघाट, नदीया, अग्रहायण, 1351 (बंगाब्द), तृतीय संस्करण।

रामानंद की हिन्दी रचनाएँ, प्रधान संपा० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० स्व० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं०2012 वि०।

वर्णरत्नाकर, ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य प्रणीत, एडिटेड बाइ सुनीतिकुमार चटर्जी एंड बबुआ मिश्र, पब्लिश्ड बाइ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल, कलकटा, 1940.

विश्वभारती पत्रिका, खंड 9, अंक 1-4, 1968-69; वर्ष-7, अंक-2.

वैष्णाविज़्म, शैविज़्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, सर आर० जी० भंडारकर, स्ट्रेसबर्ग, 1913.

शनिवारेर चिठि, आश्विन, 1351 बंगाब्द।

शैव कल्ट्स इन नॉर्दर्न इंडिया, डॉ० वी० एस० पाठक, प्राप्तिस्थान-मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1960.

शैव मत, डॉ० यदुवंशी, प्रका०—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1955.

श्वेताश्वतरोपनिषद्, सटीक, सभाष्य, गीताप्रेस,गोरखपुर, सं० 2009.

संस्कृत भवन स्टडीज़, वा० 2, गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, वाराणसी।

सर्वदर्शनसंग्रह, श्रीमन्माधवाचार्यप्रणीत:, आन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि:, सं० 51, ख्रिस्ताब्दा:, 1906.

सर्वदर्शनसंग्रह, सं० एवं टीकाकार प्रो० उमाशंकर शर्मा, चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी, 1964.

साधनमाला (1, 2), संपा० डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, वा० 1-1925, वा० 2-1928, बड़ौदा।

सिद्ध साहित्य, डॉ० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद, 1955.

सिद्धसिद्धांतपद्धति, सं० कडव: शंभु शर्मा,अनुवादक: योगी नरहरिनाथ: शास्त्री, प्रका०— पीर चंद्रनाथ योगी (सैंधव), राजा योगीश्वर मठ विट्ठल (मैसूर राज्य), सं० 2021.

सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑव नाथयोगीज़, सं० श्रीमती कल्याणी मल्लिक, पूना ओरियंटस बुक हाउस, पूना, 1954.

सिद्धसिद्धांतसंग्रह, गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, सं० 13, बनारस, 1925.

सूर-पूर्व ब्रजभाषा और साहित्य, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1964.

हठयोगप्रदीपिका, स्वात्माराम योगीन्द्र विरचिता, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बंबई, सं० 2009, शाके 1874.

हिन्दी को मराठी संतों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा, प्रका०— बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्. पटना, मार्च 1957.

हिन्दी विश्वकोश, सं० नगेंद्रनाथ बसु, प्रका०— नगेंद्रनाथ बसु, विश्वनाथ बसु, 9, विश्वकोष लेन, बागबाजार, कलकत्ता, द्वितीय भाग, 1917, तृतीय भाग, 1919.

हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्रवर्द्धित संस्करण, 2003.

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, प्रका०—रामनारायण लाल, प्रयाग, 1965.

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, सं० डॉ० राजबली पाण्डेय, नागरीप्रचारिणी सभा, सं० 2014.

हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी, डॉ० सुरेंद्रनाथ दासगुप्त, खंड 2, 1952, कैंब्रिज।

हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी : ईस्टर्न एंड वेस्टर्न, सं० डॉ० राधाकृष्णन्, वा० 1, लंडन जॉर्ज एलेन एंड अनविन लि०, 1952.

हिंदुइज़्म ऐंड बुद्धिज़्म (ए हिस्टॉरिकल स्केच), सर चार्ल्स इलियट, इन थ्री वाल्यूम्स, लंडन, वा० 3, 1954.

●

अनुक्रमणिका

अ

अंतस्साधना–38, 136, 162।
अकाल संन्यास–56, 92।
अकुल–83, 87।
अकुलवीरतंत्र–21, 83, 87–89।
अक्षय ब्रह्म–93
अक्षोभ्य–203।
अगम जप–156।
अगोचर जप–159।
अग्नि–157, 200
अग्नि–चक्र–160;–योग–139
–साधन–149
अघोर–78; –घंट–69;शिव–71।
अघोरी–77. 86, 203।
अचलनाथ–30।
अचिंति, अर्जित–16, 20, 191।
अजपा गायत्री–113, 129, 157।
अजपा जाप–127, 129, 139, 149
157, 164।
अजैपाल–51–52।
अज्ञान–145।
अतिवर्णाश्रमी–56–57, 59,64,
95।
अतिश–25।
अतीत शून्य–163।
अतींद्रिय प्रत्यक्ष– 170, 175।
अत्याश्रम–59।
अद्वयवज–24, 27,–28, 76।
अद्वयसिद्धि–36।
अद्वयावस्था–124।
अद्वैत–73, 107, 118–119, 128, 141,
157, 161, 203, 208।
अद्वैतपरिवर्ती–1–2।
अद्वैतवाद–170, 204।
अद्वैतवादी–75, 107, 116, 118–
119, 149।
अद्वैतानंद–171।
अद्वैतोपरि–117।
अध:शक्ति–130; निकुंचन–106,
111।
अधिकार–109; भेद–173, 204;
–भेदवाद–36, 93, 132, 139, 144,
163, 173।
अधिकारि विभाग– 110।
अध्यात्म–140।
अनंग–30; –वज्र–27।
अनाहत– 160; –डमरू–206; नाद
–109, 157, 159, 171।
अनुत्तरयोग–194।
अपभ्रंश–33,39, 43, 167, 169,
205, 208; साहित्य–37।
अपर–114।
अपरंपरा शक्ति–106।

अत्याश्रमी–57, 64, 131।

अथर्ववेद–92।

अथर्वशिरस्–67–77।

अद्वय–124; –भाव–36; 204, –योग–141; स्थिति–86।

अभ्रक–128।

अमनस्क–44, 102, 128, 161।

अमरता–40, 128।

अमर वारुणी–162, 176।

अमरी–166।

अमरोली, अमरौली–41, 133, 139, 153–154

अमरौधप्रबोध–34, 44–45, 89,

अमरौधशासनम्–44, 47, 72, 96, 102–106,, 110, 112, 133, 153।

अमृत–40, 81, 111, 139, 157–159, 164, 172, 200; –कला–158; –वाणी–176; –साधन–111–112, 128, 162 164।

अमृता षोडषी कला–112।

अरुणाचलनाथ–30।

अरुंधती–176।

अर्द्धत्र्यंबक–74।

अर्द्धनारीश्वर–203।

अलंबुषा–113।

अल्लाम, आलाम–13, 98।

अवतार–8, 89, 96।

अवधूत–76, 108–109, 122, 131, 162; –गीता–44, 46, 102–103; –नाथयोगी–62;

अपरा– 106, 114।

अभिनवगुप्त–25, 72–73, 74, 85, 89, 99, 121–122।

अभिषेक–202।

अभिसमयविभंग–25।

अष्टांग योग–151, 154।

असंग–207।

अहंकार–115।

अहिंसा–133, 139, 152, 163।

आ

आई पंथ–83, 85, 209।

आईपंथी– 83, 87।

आकाश–111–112, 127, 147; –चक्र–130।

आगम–68–70, 73, 75–76, 85–86, 121।

आगमी सिद्ध–10।

आचार–36, 107, 139–141, 163, 173–174।

आजीवक–80, 86।

आज्ञा, आज्ञाचक्र–112–113, 143, 150, 159।

आठ परीक्षा–132।

आत्म–11; –अनात्म–40; –ज्ञान–148; 150, तत्त्व–110; –बोध–140;–भाव–150; –साधन–139।

आत्मा–123, 130, 146, 148, 161, 170, 172, 199।

आदिनाथ–13, 29–33, 38,88, 127, 201।

-मत-5-6, 208;-योगिक्षण-
105; -योगी-108; -संप्रदाय-
5, 132।
अवधूती-27-28, 38।
अवलि मीर-51।
अवलोकन पिंड-115।
अवलोकितेशवर-22, 25।
अवैदिक-74, 78-79, 86।
अष्ट-चक्र-159; -परीक्षा-143-
144; -मुद्रा-159; -योगिनी-
205।
आश्चर्यचर्याचय-178।
आश्रम-54, 57, 64, 107।
आसन-37, 105, 107-113, 121,
126, 133, 157-158, 164।
आस्तिक-156;-ता-155।

इ

इंद्रभूति-27।
इच्छा-मृत्यु-125, 156, 162-164;
-शक्ति-118।
इड़ा-113, 157, 194, 199-
200।
इलियट-203।
इस्लाम-59, 166, 168;-धर्म-65।
इस्लामी धर्मशास्त्र-59।

ई

ईशान-77।
ईश्वर-3, 107, 115, 117, 122,
156, 203; -पूजा-156;-प्रत्यभिज्ञा-
99; -वाद-156; वादी-
39।
ईश्वरी-176।
आदित्यनाथ-38।
आदेश-109।
आद्य पिंड-105, 115।
आधार-130; -चक्र-113, 160।
आन्द-11, 111, 115, 131;
-लहरी-75।
आमर्दक- 73।
आरंभ-140, 144।
आर्यदेवपाद-17।
आलि-205।

ऋ

ऋजुविमर्शिनी-110।
ऋद्धिमान-194।

ए

एकनाथ-199।

ओ

ओंकार-77, 127, 143;-साधन-
124, 127, 129, 139।
ओषधि-11।

औ

औघड़-77।
औरंगजेब-59।

क

कंकचंडेश्वर-13, 98।
कंठचक्र-130, 161;-स्थचक्र-
130।
कंतालिपा, कंथडि, कंथालिपा-12-13
30, 34, 98-99, 202।
कंबल, कंबलांबर-15, 17, 107, 194,

उ
उच्चाटन–154।
उड़ीपान–198; बंध–113, 129, 159।
उत्तर साधिका–198।
उदय–30।
उदयनाथ–199।
उन्मनी–128, 139, 156, 161, 164।
उपनिषद्–78, 174।
उपादान–118, 156।
उपाय–41।
उलटवाँसी–172, 174, 176।
उलटी चर्चा–176।
ऊ
ऊर्ध्व-रेतस्–133; -शक्ति–130; -शक्तिनिपात–106, 111।
कपालि, कपालिपा, कपाली–13, 15-16, 18–19, 98,201।
कपिल–9।
कबीर–3, 58।
कमरि–17।
कमल–16, 156, -कुळिस साधना-36–37।
कमलासन–113।
करंटक–98।
करनारिनाथ–30।
करनी–138–139, 150।
कर्णमुद्रा–63।
कर्पूरमंजरी–203।
कपूरादिस्तोत्र–174।
कर्मकांड–148।
197, 201, 204, 207।
कणेरीनाथ, कर्णरीपा, काणेरी–12-13, 15–16, 50, 52, 09, 191 195–196, 199।
कथना–142, 149, 150।
कण्हपा, कनपा, कानपा, कानिफा, कान्हुपा–11–12, 15–16, 18-21, 25–26, 29–34, 51-52, 82, 84, 96, 189, 194, 201–202, 207।
कदली-क्षेत्र–192; -राज्य–24।
कनखल, कनखलापा–16,34,201-202।
कनफटा, कानफटा–4-6, 58–59, 77, 97;-योगी–60-61।
कपाल–203-206; -कुंडला–69; -भाति–158।
कारुक–70।
कारुणिक सिद्धांती–67।
कार्पटिक–97।
काल–1, 115;-नाथ–190, 196; -मुख–108;-विजय–38।
कालाचरित–192।
कालमन–67, 70, 73, 85।
कालामुख–70, 77, 93–94, 203।
कमल–205।
कालिका मंत्र–198।
काली–11; -कुल–198–199।
काश्मीर–74; -शैव–68, 72–73, 85; -शैव मत–104, 110, 120, 171, 174; -शैव दर्शन–114; -शैवागम–110।

कर्मवाद–156।
कला–118, 157–158; –धार–105।
कश्यप–62।
कांतलि–16।
काजी दवासम दुप–210।
कादि–11।
कान्हकन–15।
कापालि–9।
कापालिक–55, 67–70, 72–73, 76–78, 82–83, 93, 98, 108, 198–199, 202–204, 206–208; –संन्यासी–86; –साधना –84; –सिद्धान्त–204।
काफर बोध–51।
काम–2, 40, 156; –रूप–24; 81; –शक्ति–171।
कामरि–15–16।
कायविजय–148; –सिद्धि–81, 112, 125, 139, 147–149, 152, 155, 159, 162–164।
काया–योग–202; –शोधन–139; –साधन–40, 145–146।
कूजी–16।
कूर्म–11; –नाथ –199;पाद–201; –पुराण–77।
कृच्छ्राचार–39, 155।
कृपा–131–132।
कृष्ण, कृष्णपाद, कृष्णाचारी–4, 18. 20, 25, 27, 39, 83, 85–86, 96, 99, 190, 192–194, 197, 201, 204–205, 208–
काश्मीरीय माहेश्वर मत–85।
कुंडल–109, 130।
कुंडलिनी–111–112, 121–122, 127, 129–130, 132, 143–144, 147, 161, 172, 176; –जागरण–139, 159, 164; –प्रबोध–159; –योग–127, 129, 132;–साधन–139, 160।
कुंडली–106, 113–115, 123, 176; –साधना–111।
कुंभक–113, 128, 157।
कुकुरिपा–20।
कुलानंदतंत्रम्–22।
कुक्कुट–189।
कुमार–11।
कुमारिल भट्ट–66, 93।
कुमारी–16।
कुरान–139, 145।
कुल–23, 82, 86; –अकुल–114; –कुंडलिनी–174।
कुलाकुल सामरस्य–106।
कुलानंद–89।
कुडू–113।
गहनी, गहिनी, गहनाधि, गहनेश, गैनी–11–12, 30, 33, 51, 78, 86।
गांधारी–113।
गुंडरीपाद–17।
गुजराती–167, 169।
गुरु–3, 6,8, 106–107, 110. 131–132, 139, 142–145, 148–149, 163, 178, 191; –कुल–144; –कुलसंतान–107;

209।
केशव काश्मीरी-67।
कोरंटक-13।
कोरी-64
कौल-22, 24, 78, 82, 86-87, 122-123. 198-199; -ज्ञान-81; -ज्ञाननिर्णय -21-22, 44, 46, 82, 86-89, 99, 103; -मत-24, 87; -मार्ग-22, 74, 86; -योगिनी मत-24; -साधना-24।
कौलावलि निर्णय-112।
कौलावली तंत्र-88।
क्रमस्तोत्र-99।
क्षणभंगवाद-110।
क्षपणक-108।

ख

खंड-98; -कापालिक-13।
खड़ी बोली-165,167, 169।
खेचुरी मुद्रा-113, 139, 162।

ग

गंगा-157-158।
गगन-129, 160, 176; -मंडल-147, 160; -शिखर-145-147।
गजकर्णनाथ-30।
गणेशनाथ-30।
गरीबनाथ-51-52।
गर्भपिंड-115।
गर्भोलिपिंड-105।
44, 46, 92, 102-103; -चिकित्सा-44, 102; ज्ञान-45-46, 103; नाथी-4-6, 58-59, -कृपा-124-125; -महिमा-108; -मुख-139; 150, 156; -वाद-139; -शब्द-139; -शिष्यवाद-37, 93, 132-133, 139, 163।
गुह्यपा-201-202।
गुह्यसमाजतंत्र-36-37, 39।
गूगा चौहान-98।
गृहस्थ-57, 62-63, 108; -योगी-64-64; -आश्रमी-62।
गोपाल-193-194, 197।
गोपीचंद्र-29-31, 33-34, 50-52, 90, 95, 98-99, 166, 186, 192-193, 197-199-202।
गोरख उपनिषद् -50, 92, 137।
गोरख गणेश गुष्ठि-120।
गोरख, गोरक्षनाथ, गोरक्षपा-4,6,8, 10-13, 15-16, 18-19, 21, 23-24, 26-27, 29-34, 42, 45, 47-52, 55, 57, 59-60, 69, 71-78, 81-84, 85-91, 94-101, 103-104, 108-111, 113-116, 118, 120-122, 125, 127-141, 143-179, 189-192, 195-196, 198-202, 207-209; -कला-45-46; -कल्प-44, 46, 102-103; -कौमुद्री-44, 102; -गीता
घेरंड-77; -संहित-76, 126, 131, 176, 208।
घोडा, घोडाचोली-13, 52,98।

69-69, 72, 85, 122; -पंचय-44, 102; -पद्धति-44-46, 102-103, 112, 131, 133, 153; -पुर-60; -पिष्टिका-45-46, 103; -बानी-49-49, 135, 137, 140, 155, 159, 161-162, 164, 166, 169, 178, 199; -मत-57, 127, 131, 149-150; -योग-148, 151-152, 158; -शतक-43, 47, 101, 103-104, 112, 121; -शतक टिप्पण-46, 103; शतक टीका-46, 103; -संप्रदाय-119; -सहस्त्रनाम-45-46; 103; -साधन-132,152; -संहिता- 44, 46-47, 102-105, 112-113, 126-127, 129-131, 133, 153; -सिद्धांत-118; -सिद्धांत-संग्रह-44-45, 47, 57, 90, 102, 104, 116, 122, 124, 131-132, 143, 156, 199, 208।

गोरक्षावतार-90।

गोविंद-4; -नाटक-9।

गोविंदचंद्र-99, 192-194, 197, -चंद्रेर गान-99।

गोविंद भगवत्पादाचार्य-9।

ग्यारह रुद्र-62।

ग्रंथि-111, 143, 161; -षोडश-112।

घ

घंटापाद-201।

घट-106, 140-141; -योग-199।

च

चंडकापालिक-76, 208।

चंडाली-23।

चंद्र-112।

चंद्रकीर्ति-191; -नाथ-52, 82।

चक्र-37, 111-113, 121, 123, 127, 130-132, 136, 140,158-160, 164, 170, 204; -संवरतंत्र-201; -साधना-36।

चक्रार्चन-198।

चटिल, चाटिल्ल-15,17।

चतुरशीत्यासन-43,45-46, 101, 103।

चतुर्थाश्रमी-59।

चतुष्षष्ठिदलकमल-206।

चरपट, चरपटी, चरवटी, चर्वटि-9-13, 15-16, 18-19, 29-33, 47, 50-52, 98, 189, 196, 199; -मंजरी-47।

चर्यापद-43, 167, 175, 178, 202, 206, 208; -चार-तत्त्व-144; -शून्य-144।

चित्-116; -शक्ति-115, 118-119, 124।

चितासन-121।

चित्त-36, 38, 112, 127, 149; -चक्र-140; -मार्ग-37-38;-स्थैर्य-139।

चुणकरनाथ-52।

चौरंगी-12-13, 16, 29-32, 34, 50-51, 78, 86, 88, 189,

घरबारी-63।
चौरासी सिद्ध-7, 12-13, 15, 20-21,25, 28, 31-32, 35, 88।
चौसठ संधि-159।

छ

छत्तीस तत्त्व-115, 143।
छत्तीस लक्षण-132. 144।

ज

जगत्-38, 115-118।
जन्मांतरवाद-155।
जप-107, 129, 149, 151, 156-157, 164; -माला-156।
जफर जोगी-59।
जागरण-171।
जालंधर, जालंधरनाथ, जालंधरपाद, जालंधरिपा-8, 11-12, 16-17-18 20-21, 26-27, 29-35, 38-39, 50-52, 57, 78, 83-87, 89, 96, 99, 113, 189-190, 192-194, 197-198, 201-202, 204, 207-208; -बंध-129, 209।
जीव-128-129, 142, 146, 152; -शक्ति-143, 147।
जीवन्मुक्त-9-10, 123।
जीवन्मुक्ति-9, 81, 110, 123-125, 128, 155, 161-162; -पद-111; -योग-123; -जीवन्मृत्यु-139।
जीवात्मशक्ति-144, 171।
जीवात्मा-9, 127, 131, 147, 159, 174।
जुगी-64; -जाति-62। 191, 195, 198, 201-202।
ज्योतिर्ध्यान-128।
ज्ञान-1,11, 107, 142, 144-146, 148- 151, 154; -कारिका-44, 89; -चक्र- 150,160; -देव-51-52; प्रकाशशतक-46, 103; -भैरव-107; -युक्त योग-148; रहित योग-125; -शतक-43; 46, शक्ति 112; -शतक-43; 46, 101, 103; -हीन योग-150।
ज्ञानसंबंध-10।
ज्ञानाग्नि-157।
ज्ञानामृत-43, 45-46, 101-103; -योग-44, 102।
ज्ञानी-145, 149-150।
ज्ञानेश्वर-23, 75।

ट

टिंटिणी, टेंटण, टेंटस-13, 15, 17।
टोंगपा-16।

ड

डाकिनी-194, 202।
डेंगिपा, डेंगी-16, 21।
डोंबिपा, डोंबीपा-17, 21, 23, 205-206।
डोंबी हेरुक-27।

त

तंतिपा, तंते-16-17, 21, 32, 34, 201-202।
तंत्र-37, 66, 79, 86, 89, 121; 123, 130, 154, 173-174, -दर्शन-47, 104; -महार्णव-122; -वटधानिका-110।

जसस क्राइस्ट-99।
जैन-42, 54-55, 64, 66, 75, 79, 84, 86।
जोगी जाति-58-60, 63, 76-77।
तप-107, 149, 151, 155; -सिद्ध -11।
तमिल शैव-68, 85।
तर्क-107, 131, 171, 175।
तांत्रिक-36, 66, 69, 78, 81, 86, 93, 110, 121, 129, 133, 143, 170, 173, 202, 204, 207-208; -बौद्धमत-28; -बौद्ध कापालिक आम्नाय-208।
ताओधर्मी भोग-10।
ताड़कपाद-17।
तारा-11; -कुल-189, 199।
तारानाथ (लामा)-190-191। 193, 196, 204।
तालुचक्र-130।
तिब्बत-25, 189।
तिब्बती-189, 196-197-198, 201-202; -सूची-18, 25, 35।
तीर्थनाथ-190, 196।
तीन लक्ष्य-105, 113, 125।
तुमलांग-192।
तुरीया, तुर्या-128; -बंध-159।
तेजोध्यान-128।
तेंजुर-26।
तैलोपा-27, 201-202।
त्रिक-74; -मत-118।
तंत्रालोक-21, 25, 70-71, 73, 89, 121-122।
तत्त्व-128; -मसि-107; -विज्ञान-114; -संहिता-106; -सिद्धि-शास्त्र-207।
दश-द्वार-105; -वायु-105,113।
दशमद्वार-112, 148, 158, 160।
दशांग यम-नियम-163।
दातड़ीपाद-203।
दारिक, दारिपा-15-17,21,25, 27।
दिव्य-देह-80; साधक-123।
दिव्याचार-37, 174, 206!
दिव्यौध-11-12।
दीक्षा-4-5, 8, 18, 63, 91,93, 107, 142-143, 163, 192,-परंपरा-17।
दीपंकर; श्रीज्ञान-25, 27-28।
दृष्टिचक्र-160।
देवपाल-26, 99, 202।
देवलनाथ-52।
देवश्रम-191।
दोहा-43, 175; -कोष-206; -गीति-193।
द्वैत-118-119,141, 157; -अद्वैत -116; -वादी-118, 149।
द्वैताद्वैत-73; -विलक्षणवाद-118-119; -विलक्षणवादी-116, 118; -विवर्जित 117, 128, 141-142, 156, 163; -विवर्जितवाद-149।

त्रिकुटी-160।
त्रिपुरा-198।
त्रिवेणी-148, 176।
त्र्यंबक-73, 75, 85।

द

दंडनाथ-199।
दक्षिणाचार-75, 77, 78।
दत्तात्रेय-11, 51।
दयानाथ-95-96।
दर्शन-4-5, 78।
दर्शनी-4-6।
दशनामी-75-76, 79।
131, 133, 150-151, 161,
164; -योगी-125।

न

नभोमुद्रा-129।
नरकपाल-205।
नव-चक्र-125, 130; -द्वार-113, 125, 158-159; -नाथ-7, 11-12, 21, 28, 31-32, 34, 47, 72, 78, 88, 92-93, 109, 122, 148; -नारायण- 33; -सौम-207।
नाग-नाथ-11, 30, 33; -बेलि-16; -भट्ट-110।
नागार्जुन-16-17, 27, 30, 51-52, 66, 191, 196, 201।
नाड़ी-5, 37, 105-111, 121, 129, 132, 157-158, 161,170, 161, 170, 194, 199, 202, 204; -ज्ञानप्रदीपिका-44, 102; -शोधन -113, 129, 164; -साधना-

ध

धर्मकीर्ति-191, 193, 202।
धर्मनाथ-91।
धर्मनाथी-5।
धर्मपा, धर्मपाद, धामपा-16-18, 21, 32, 34, 201-202।
धर्मपाल-27, 191।
धर्म-महासुख -38; -शास्त्र-59।
धारणा-10 5, 113, 127, 129, 159, 161, 164, 199।
ध्यान-11, 37, 105, 107, 110-111, 113, 127-128, 130,
नाथयोगी-12, 24, 26, 39, 41-43, 50, 52, 57, 62, 64-65, 80, 94, 97, 99, 101, 104, 116, 121-122, 124-125, 135, 150, 152, 168,
170।
नाथ संप्रदाय-1, 4, 6, 10, 12, 16, 28, 38, 47-48, 61, 68-69, 72, 76-77, 79-80, 83, 85, 87, 100, 109, 144, 154, 173, 175, 198, 208।
नाथ सिद्ध-7-8, 15, 18, 20, 35-36, 38, 40, 43, 47-48, 50-51, 57, 64, 80, 117-118, 134, 137, 148, 175, 189, 198, 201, 208-209।
नाद-2, 111, 129, 144, 146, 150, 160, 171; -कुल-144; परंपरा-91; -बिंदुसाधन-158; -ब्रह्म-127।

36, 111, 132, 139, 158।
124, नाथ–1–7, 11, 13, 15, 17, 23, 40, 61–62, 66, 68, 72, 77, 79–80, 85–86, 107, 116–117, 122–125, 128, 131–132, 139, 142, 125–147, 149–150, 164, 176, 199, 206–208; –दर्शन–116; –धर्म–65; –पंथ–4, 6, 32, 39, 58, 170; –पंथी–5–6, 43–44, 47–48, 52, 59–60, 62, 64, 76–77, 79, 89, 100, 203; –मत–39–42, 47, 57, 63, 76, 79, 81–82, 86, 96, 112, 119–120, 123, 139; –मार्ग–84, 100, 116, 118, 153; –योग–121, 140, 146।
निर्गुण–117, 127, 130, 152 161, 163; –ध्यान– 127; –वादी–169।
निमार्णचक्र–206।
निर्वाण–37–38, 41, 190; –चक्र–130; –समाधि–142।
निवृत्तिनाथ–51।
निष्कल शिव–131।
निष्पति–140, 144।
नैरात्मा–40, 203, 205; –योगिनी –37।
नैरामणि दारिका–37।
नौ नाड़ी– 154।

प

पंच पाशुपत–78।
पंचमाश्रमी–57, 59, 64।
पंचाग्नि–136।
नादानुसंधान–126, 128, 132, 139, 155, 159, 164।
नाभिचक्र–130।
नारोपा–27–28, 202।
निगुरा–140, 142, 144, 163।
निजतत्त्व–127।
निजा–106, 114।
नित्यानाथ–13, 98।
नित्याह्निक तिलक–83।
नियम–105, 113, 140, 155–156।
निरंजन–3, 13, 30, 90, 98, 48, 101, 134।
निराकार–1, 117, 127, 143, 145, 147, 152, 159, 161।
परशिव–118।
परशुराम कल्पसूत्र–11।
परा–106, 114।
परामर्श–110।
परामुक्त–123।
परामुक्ति–111।
परिचय– 140, 144।
परीक्षा– 93।
पवन–112, 140, 160, 199, –ज्ञानी–149।
पशु–74, 131, 157; –पति–67।
पश्चिम– 160; –द्वार–157, 160।
पश्वाचार–36, 174।
पांचरात्रिक–108।
पातंजल–योग–37, 113, 151।
पा पंथ–84–85, 87।
पारख, परीक्षक–144।

पंचामृत-205।
पंतजलि-10, 67, 79, 81।
पति-74।
पद्मवज्र-27।
पद्मसंभव-23।
पद्मासन-158।
परपिंड-106।
परबत सिद्ध-50-53।
परमपद-108, 124-125, 128, 130-131, 142-143, 145-147, 149-150, 157, 162-163।
परमशिव-114, 116, 119,
परमहंस-56-57।
परमात्मा-106, 112, 114, 119, 131-132, 146-147, 156, 170, 174।
परमाद्वैतभाव-127, 161।
परमेश्वर-106-107, 110, 118, 132, 203।
परवर्ती उपनिषद्-79।
139-140, 148, 152, 163, 176; -वर्णन-132; -विचार-105; -शक्ति-171; -संवित्ति-105, 132; -सिद्धि-124-125, 133, 163-164।
पिंडाधार-105-106।
पिंडोत्पत्ति-105।
पितृकुल-144।
पुण्यानंद-122।
पुरुषकार-139-140।
पुरुष-प्रकृति-41।
पूरण भगत-98, 100।
पारद-9; -सिद्ध-80।
पावनाथ-84।
पाश-74,131; -विमोचन-143।
पाशुपत-53, 55, 57, 64, 67-70, 72-76, 85, 93-94, 108, 208; -दर्शन-73; -मत-67, 71, 74-75, 123, -शैव-68, 77,100, 121।
पिंगला-98, 113, 157, 191, 194-196, 199-200; -मत-70।
पिंड-37, 105-106, 109, 111, 115, 118, 123, 131-132, 140, 146-149, 152, 162-163, 171, 199; -ज्ञान-125,132, 139-140, 146-148, 150; -ज्ञानी योगी -147; -पद परमपद समरसीकरण-105-106; -ब्रह्मांड-127; -ब्रह्मांड-127; -ब्रह्मांडवाद-36-37, 113-114, 116, 118, 132-133,
प्राणायाम-105, 113, 121, 127-129, 133, 139, 141, 151, 157-159, 164, 190, 197।
प्रातिभ-ज्ञान-175; -शक्ति-190।

ब

बंकनाल-157-158।
बंध-39, 121, 126, 129, 140, 157-159, 163।
बजरी-166।
बत्तीस-तत्त्व-143; -लक्षण-132, 143-144।

पूषा–113।
पृथिवी, पृथ्वी–127, 143, 147; –नाथ–52।
पौराणिक शैली–171।
प्रकृति–108, 115, 119, 131।
प्रकाश–11।
प्रज्ञा–36, 40–41, 205।
प्रज्ञाकर मति–36।
प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि–36।
प्रज्ञोपाय साधना–37।
प्रणव–113, 171; –साधन–174।
प्रतिसारण–111।
प्रतीक–171, 173, 175–176, 179।
प्रत्यभिज्ञा– 67, 73–74, 106।
प्रत्याहार–105, 113, 129, 139, 159, 164।
प्रभुदेव–13, 98।
प्रलय–114।
प्रसर–108, 117।
प्रसार–124।
प्राकृत पिंड–115।
प्राण–107, 111, 113, 115, 121, 125, 128–129, 140, 150, 153–154, 157–158; –तोषिणी–93; –संकली–139–140, 148, 177।
197, 202–204, 207–208; –कापालिक–84, 204; –कापालिक साधना–197; तंत्रयान–36; –संन्यासी–93; –सहजिया–2, 17, 40; –सिद्ध–8, 15, 17, 19–21,
बदनी–142, 149–150।
बप्पा–98।
बस्ति–158।
बहत्तरकोठी–154।
बहुदेववाद–37।
बाउल–40।
बाबा फरीद–98।
बाबा रतन हाजी–137।
बामारग–84–85, 207–208।
बारह पंथ–85।
बालगुंदाई–50, 52।
बालनाथ–50, 52।
बाह्याचार–3, 133; –विरोध–22।
बाह्याडंबर–138, 164; –विरोध–37।
बिंदु–2, 81, 91, 111–112, 128–129, 133, 139, 142, 149, 152–154, 159; –कुल–144; –नाथ–13, 61–62, 98।
बिबुधेंद्र मल्ल–198।
बुद्ध कपाल–194, 197; –तंत्र–205।
बुद्धगुप्त–190।
बुद्ध ज्ञानपद–202।
बुद्ध–24, 38–39, 53–55, 59, 64, 66–67, 75, 79, 84, 86, 93, 107, 157, 191, 196–129; –विजय–159, 164; –शुद्धि –127।
भैरव–3, 13, 70, 88, 98, 117, 122, 203।
भैरवी–117, 198।

25, 35–39, 41, 43, 51, 88, 170, 175, 178, 201; –सिद्ध साहित्य–36, 173, 175।
ब्रह्म–कुंड–160; –ग्रंथि–143–144, 160; –चक्र–130।
ब्रह्मद्वार–130।
ब्रह्मनाड़ी–176।
ब्रह्मरंध–113, 130, 148, 158–160, 162, 176।
ब्रह्मांड–37, 105, 109, 115 118, 123, 132, 140, 146–147, 152, 160, 163, 171, 176; –ज्ञान–150; –शक्ति–171।
ब्रह्माग्नि–157।

भ

भँवरगुफा, भ्रमरगुफा–160, 161।
भक्त–174–175।
भक्ति–67, 107, 170; –भक्तिकाल–35; –रस–177।
भदलि, भदेपा–17, 192, 197।
भद्र, भदेपा, भद्रपा–7, 15–16, 19, 34, 201–202।
भरथरी, भर्तृहरि–11–12, 29–31, 33, 47, 50–51, 57, 89, 98–99, 166, 189, 192–193, 197–198, 202।
भवनार्जि–199।
भवभूति–202।
भागवत–83, 108।
भादेपा–16–17।
भारतीय रहस्यवाद–170।
भोग–74–75, 153; –मोक्ष–73, 86।
भ्रूचक्र, भ्रूमध्यमचक्र–130।

म

मंडल–36, 202।
मंत्र–36–39, 123, 129, 141, 154; –यान–197; –योग–121, 125।
मंथान भैरव–13, 31, 98।
मकार–36।
मछंदर, मच्छंद, मच्छींद्र, मत्स्येंद्र–8 10–13, 15–20, 22–27, 29, 31–33, 35, 41–42, 44–45, 47, 49–52, 57, 72–75, 77–78, 81–83, 85–86, 88–89, 91–92, 95, 98–101, 110, 121, 135, 175, 189–191, 195–196, 199, 201–202, 208, –गोरख–बोध–49, 160, 163, 178।
मणिपूरचक्र–160।
मत्स्येंद्रद्वार–83, 94।
मद्य–38–39, 111, 155, 204।
मध्यशक्ति–130; –प्रबोधन–106, 111।
मन–123, 125, 140, 150, 152, 155, 158, 160–161, 172; –पवन साधन–139, 149, 171, 199।
मनिहारी योगी–57।
मनोन्मनी–128, 160–161।
मयनामती–26, 90, 100।
मल्लिका गोरक्ष संवाद–199।

भास्करराय–122, 130।
भूत–जप– 127, 129; –लय–127,
महाकाल योगशास्त्र कल्पद्रुम–92।
महाकुंडलिनी–147, 171।
महामांस–203–204।
महामुद्रा–113, 129, 202, 205।
महायान–36–37, 43।
महार्थमंजरी–44–47, 96, 102–105, 122, 133।
महाव्रत–70।
महाव्रती–68, 108, 203।
महासारणा–111।
महासुख–36, 38, 40; –वाद–37।
महिल–192, 197।
महीधरपाद, महीपा–17, 34, 201–202।
महेश्वर–11, 77, 111–112, 190।
महेश्वरानंद–72, 109–110, 122, 190।
मांस–111, 152, 155, 202।
माया–3, 115, 118, 139, 142, 152, 156, 171–172, 199; –वाद–118–119, 170।
माहेश्वर–67, 75; –मत–73–74, 86,; –संन्यासी–55; संप्रदाय–69–72।
मीन, मीननाथ, मीनपा–11–13, 15–22, 24–25, 29, 32–34, 43, 50, 88, 99, 113, 189–190, 196, 198–199, 201–202।
मुंडासन–121।
मल्लिकानाथ–91, 98, 198–199।
मल्लिकामकरंद–98, 198–199।
मूलाधार–127, 129, 143, 147, 157, 161, 172, 176।
मेखला, मेखलापा, मेषल–16, 34, 63, 201–202, 206।
मैथुन–36, 139, 174, 206।
मैत्रेयनाथ–207।
मोक्ष–1–2, 37, 74, 125, 128।

य

यम–105, 140, 154; –नियम–151–152, 157, 163।
यमुना–157–158।
यशस्विनी–113।
युगनद्ध–36–37।
योग–36–37, 72, 74, 89, 107, 113, 121, 123, 125, 139, 142, 145–146, 148–149, 151–153, 155, 157–158, 163, 170–172, 208; –चिंता-मणि–43, 101; –ज्ञान–107, 133; –परक–रहस्यवाद–171, –बीज–44, 46, 102–103, 123, 125–126, 148; –महिमा–43, 45–46, 101, 103; –मार्ग–5, 83, 106–107; –मार्त्तंड–43–45, 89, 101–102, 130; –युक्त ज्ञान–107, 125, 133–145, 147–148, 150, 163–164, 170; –रहितज्ञान–125।
योगरत्नमाला–202, 204।
योगविषय–44–45, 88।

मुक्ति–38, 123, 162।
मुद्रा–36. 39–40, 107–108, 110, 121, 126, 129, 133, 136, 140, 157, 159, 164, 203–205।
मुसलमान–58, 139; –योगी–58।
मूल–कंद–111; –चक्र–140; –बंध–129, 159।
पद्धति–44. 102; –हीन ज्ञान–150।
योगाग्नि–139; –प्रज्वलन–158।
योगाचार–37।
योगिनी–40; –कौल–4, 23, 42, 81, 83, 87, 208–209।
योगि–भेद–139।
योगिनी संचर्या–194।
योगिसंप्रदायाविष्कृति–33, 57, 81–82, 88–90।
योगी–3–5, 48, 50, 52, 56, 59, 61–64, 80, 83, 105, 108–109, 111, 121–122, 130–132, 134, 140, 142, 144–146, 148, 150–152, 154–155, 161,–162, 169–170, 206; –जाति–60–61; –मत–6, 25; –संप्रदाय–6, 63।
योनि–121; मुद्रा– 129।

र

रज–115, 161; –की– 23।
रत्नाकरजोपमकथा–38।
रमणवज्र–20।
योगशास्त्र–10, 45–46, 80, 103, 141, 154, 156।
योग संप्रदाय–5, 6; –साधना–77, 119, 121–122, 133, 141–142, 148–149, 151, 154, 170, 208; –सिद्धांत पद्धति–43, 45–46; 101–103; –सिद्धांतसंग्रह–45, –सिद्धासन 133, 141, 150, 161, 163,–164।
रामानुज–66–67, 97, 203।
रावल–5, 83, 166; –शाखा–83।
रुद्र–3, 62, 67, 78, 107, 122; –ज ब्राह्मण–61; –यामल तंत्र–44, 101।
रेचक–113।
रेवण–11, 30, 33, 51।

ल

लकुल–77।
लकुशीश–71, 73, 85; –पाशुपत–76।
लक्ष्मण, लक्ष्मणनाथ–50–52।
लक्ष्मीकरा–27, 36।
लय–107–108,118, 128, 141, 161, 163; –योग–121, 125, 127–129, 132, 159, 164।
ललित–चंद्र–193–194, 197; –वज्र–27; –विस्तर–206; –स्वच्छंद–106।
लवलिसिलूक ग्रंथ–51।
ललितासहस्त्रनाम–130।

रस-9-10, 38, 128; -साधन-9, 139, 159, 162, 164; -सिद्ध-10, 80।
रसायन-80; -मत-80; -शास्त्र-79।
रसालू-98, 198।
रसेश्वर-68, 82, 85-86; -दर्शन-9; -मत- 80-81, 83; -वादी-9-10, 72; -सिद्ध-8-9, 11, 19।
रहनी-138-139, 154, 171।
रहस्य-ज्ञान-178; -वाद-170, 172; -वादी-170-171, 175, 178, -वादी काव्य-दृष्टि-170।
रहस्यानुभूति-172, 178।
राजयोग-36, 121, 125, 128,
वर्णरत्नाकर-14, 18, 28, 31, 51, 88-89; -की सूची-19।
वर्णाश्रम-56, 59-60, 63-64, 74, 79, 95।
वसुगुप्त-73-74, 85।
वह्नियोग-130।
वाम-दक्षिण-साधना-37।
वाममार्ग-208।
वाममार्गी-69, 81-82, 84, 209।
वामाचार-77, 93, 207-208।
वामाचारी- 75, 78, 209।
वारुणी-नाथ-198-199; -पान-139, 149; -साधन-162।
विपरीतकरण-139, 149, 159-161, 164।
विमलनाथ-198-199।
विमर्श-11, 117।
लाकुलीश-67, 69, 77, 85-86, 94; -पाशुपत-70-72, 83।
लालनाथ योगी-137।
लिंगायत-93-94; -संप्रदाय-70।
लुइपा, लुईपा, लोहितपाद-16-17, 20, 22-25, 27, 35, 194।

व

वज्र-36-37, 205; -कपाल-205; -ध्यान-36; -यान-36, 38-39, 43, 153, 208; -यानी-83, 99, 153; -योग-36; -वाराही-205।
वज्रोली-41, 128, 133, 139, 153-154, 159, 208-209।
वेदांत-123, 148, 154, 156।
वेध-121, 126, 129, 140, 157।
वैदिक-69-70, 76-78, 86; -कर्मकांड-79; -धर्म-66; -प्रतीक-173; -साधना-173।
वैरागी-76; -नाथ-196।
वैराट पुराण-44, 48, 101, 134।
वैष्णव-42, 55, 66, 76-77, 79, 86, 108।
व्योमपंचक-105, 113।

श

शंकर. शंकराचार्य-54, 56, 59, 62, 66-67, 72, 75-76, 78, 86, 94, 100, 119, 191, 208; -दिग्विजय-70, 100, 203।
शंख-107; -सारणा-111।
शंखिनी-113।

विमलादेवी–83, 87, 137, 209।
विमलानंदनाथ–93।
विमुक्तिमंजरी–32।
विरुआपाद, विंरूपा, विरूपाक्ष–8, 13, 15–16, 31, 202।
विवेकमार्त्तण्ड–43, 45–46, 48, 101, 103, 134।
विशुद्धचक्र, विशुद्धाख्य–113, 160।
विश्वनाथ–198।
विशेश्वर संतान–107।
विषनाड़ी–157।
विषमी संधि–160।
विष्णु–3–4, 11, 67, 75, 97, 107, 122, 172; –सहस्त्रनाम–44, 101।शांकर –अद्वैत–107; अद्वैतवाद–116, 118; –मत–149; –मायावाद–118।
वीर–205–207; –भाव–208; –शैव–68, 85; –शैव दर्शन–73।
वीराचार–36, 174, 207–208।
वीराचारी–42।
वेद–79, 86, 127, 139, 145, 148, 156, 173; –बाह्य–79; –विरोध–74, 82।
शारदातिलक–71, 123, 155, 163।
शास्त्र–107, 131, 139, 145, 156, 175।
शिव–1, 3, 69, 75, 78, 97, 104, 108, 115–116, 118–119, 121, 131, 147, 152, 157, 174, 176, 190, 201, 203–204।
शिवगोत्रीय–61–62।
शिवशक्ति–41, 75, 86, 114;
शंभुनाथ–73, 85।
शक्ति–1, 37, 41, 81, 105–106, 108, 113–116, 118–119, 121, 131, 152, 157, 161, 176, 203–204, 208; –चालन मुद्रा–113; –धर–152; –पात– 108, 123; –संगमतंत्र–44, 48, 101, 122, 134।
शबरपाद–15, 17, 21, 27, 201।
शब्द–107, 139, 152, 156, 160, 178; –ब्रह्म–111, 129, 138।
शव–203।
शवासन–121, 204।
शाक्त–10, 41–42, 55, 75, 77, 79, 82–84, 86–87, 121–122, 149, 166, 202; –प्रमोद–92–93।
शाबरानंद–13, 15–16, 88।
श्रीनाथ–45, 93; –सूत्र–44. 102।
श्रीपर्वत–84, 202।
श्वास–स155, 157, 170।
श्वेताश्वतर–उपनिषद्–56, 67।

ष

षट्कर्म–133, 157–158।
षट्चक्र–113, 129, 132, 150 160–161, 164, 202; –निरूपण–129, 139, 158–160; –भेद–127; –साधन– 132।

-वादी-119, 139, 141, 157।
शिवसंतान-64।
शिवावतार-69, 72, 110।
शिष्य-132, 142-144।
शुद्धिवज्रप्रदीप-202।
शून्य-114, 144, 160, 163, 176; -ज्ञान-40; -ता-36-37, 40-41; -द्वार-160; -पद- 200; -पदवी-176; -मंडल-162।
शून्याशून्य-128, 161।
शैव-6,41-42, 55, 66-67, 70, 73, 79, 82, 84, 86-87, 89, 121-122, 149, 153, 174-175, 199, 203-204, 208; -कापालिक-83-84, 197, 202, 207, 209; -दर्शन-73-74, 94; -मत-66-70. 74, 76, 104, 116; -योगी-62; -विवाह-198; -संन्यासी-57, 62, 69, 75, 78, 86; -संप्रदाय-68, 75, 85, 93; -सिद्धांत-68, 70-71, 85।
शैवागम-47, 72-73, 104; -वादी-36।
श्मशान-202-206; -साधना-197।
श्यामारहस्य-88-89।
श्रीकंठ-3, 71, 73-74, 85, 122।
सबदी-4, 8, 50, 134, 136-138, 168-169, 178।
सबर-15-19।
समरस-36, 119, 124, 128,
षडंग-126; -योग- 113, 128, 131, 151, 159, 161, 163-164।
षडर्धशास्त्र-74।
षोडशनित्यातंत्र-122, 131।
षोडशाधार-113, 125।
षोडशी-127; -साधना-127।

स

संकोच-108, 117, 124।
संघट्टकरण-128।
संत-35,48, 60, 139, 168, 178; -साहित्य-176।
संतोषनाथ-199।
संधा भाषा-173-175।
संन्यास-56-59।
संन्यासी-4, 55, 57, 61-63, 67, 75-77, 91, 108 :
संपुट तिलक-194, 197।
संयम-107, 138-141, 149, 151, 155, 158, 163।
सत्यनाथ-199।
सगुण-127, 130; -ध्यान-127; -शिव-114, 116, 127।
सगुरा-140, 144।
सतवंती जी-50-52।
सद्गुरु -2, 109, 124; -मुख-107।
सदाशिव-3, 107, 115, 117, 122।
सधुक्कड़ी भाषा-43, 165-169।
साकार-156; -नाथ-2, 117; -पिंड-115।
साखी-137, 167-168, 178।
सादि-11।

132, 146, 164।
समरसीकरण-106, 124-125, 128, 131, 146-148, 164।
समशून्य-163।
समाधि-37, 105, 113, 123-125, 128, 131, 133, 150-151, 157, 161-164; -भाषा-174; -योग-142, 163।
सरस्वती-157, 176।
सरह-15-16, 20, 27, 194, 197, 201-202,204, 207।
सस्क्य-ब्कं-वुम-201।
सस्क्य विहार-15, 28, 30, 32-33, 35, 88, 89, 201; -सूती-15।
सहज-22-23, 37, 107, 138-139, 145, 163,164, 206 -ज्ञान-107; -यान-36-37, 39, 153, 208; -यानी-43; -योगिनी चिंता-27, 153; -रस-38; -रहनी- 95; - शून्य-163; -समाधि-111; 116, 163, -साधना-23-24, 36, 133, -सिद्धि-132-133; -सुंदरी-40; -सुख-38।
सहजा-128, 161, -मृत रस-38; -वस्था-163।
सहजिया-40; -संप्रदाय-25; -सिद्ध -37।
सहजोली-41, 128, 133, 153-154, 159, 208-209।
सहस्रदलकमल, पद्म-113, 130।
सहस्रार-127, 129-130, 145-
साधनमाला-203।
साधनात्मक विवाह-206।
सामरस्य-111, 116, 119, 124, 157।
सारणा-111।
सिद्ध-3-4, 6, 8,10-11, 15, 17, 81, 107, 131, 169, 196, 198-199, 201; -काया-111, 146, 148; -कौल-73; -कौल-मत-24, 80; -कौल मार्ग-5, 81; -कौल संप्रदाय-85, -देह-80, 123-125, 128, 142, 163-164; -मत-5-6, 78 82, 94, 109, 117, 123, -मार्ग-154, -योगिनी कौल मार्ग-85; -योगी-108, 123; -योगीश्वर-86; -योगेश्वरी मत -78; -संकेत-176।
सिद्धसिद्धांतपद्धति-43, 45-48, 78, 89, 101-104, 111, 114, 115, 120, 126-127, 130-134, 137, 140, 151, 161।
सिद्धसिद्धांत संग्रह-41, 44,47, 102, 104, 114, 154।
सिद्ध हड़ताली-51।
सिद्धांत पद्धति-46, 102-103।
सिद्धामृत मार्ग-81, 85।
सिद्धासन-113।
सिद्धि-10, 36, 40, 136, 141, 154, 163, 189-191; -पाद-13, 98; -बुद्ध-13 31, 98।
सिद्धौघ-11-12।

148, 157, 160, 176।
सांख्य-114; दश4न-119; -मत-41; -योग-104।
सुकुल हंस जी-50-52।
सुरति-62, 160।
सुषुम्ना-113, 130, 157, 194, 200; -सुंदरी-163।
सूक्ष्मचक्र-160।
सूक्ष्मा-106; -अहंता-114।
सूर्य-112; -चंद्रसाधन-81; -नाड़िका-112।
सृष्टि-2, 3, 8, 37-38, 115. 152, 203; -स्थिति लय-1।
सोम-नाडिका-112; -पुरी विहार-194; -रस-176; -रसपान-81; -सिद्धांत-207।
सोमेश्वर-9।
सोलह आधार-105।
सोह-156-157।
स्तंभन-154।
स्थूल-ध्यान-128; -वेद-156।
स्पंद मत-67।
स्वच्छंद तंत्र-72।
स्वपिंड-106
स्वर योग-139।
स्व-संवेदन-106; -संवेद्य-106 131, 139।
स्वात्माराम-126।
स्वाधिष्ठान-113, 130।
स्वानंद-198।

ह

हंकार-128।
सिसृच्छा-114-118।
सिस्ट पुराण-135।
सीलनाथ-33।
हठ-141, 157, -योगी-1 36, 38, 44, 76-77, 80, 102, 113, 121, 125-126, 128, 132-133, 138-139, 142, 150-151, 157, 163-164, 171, 208; -योगप्रदीपिका-15-16, 19, 30-31, 33, 35, 46, 88-89, 98, 104, 126, 128, 133, 150-151, 153, 155, 161, 176।
हठयोगी-16-17, 19, 24,110, 209; साधना-197।
हठसंहिता-44, 102।
हणवंत जी-50-52।
हरिभद्र सूरि-70।
हरिवर्मन-207।
हस्तिजिह्वा-113।
हाडिपा, हाडी,हालीपा-8, 19, 33, 192-193, 196-197।
हादि-11
हिन्दू रहस्यवाद-171।
हृदयचक्र-130।
हेरुक-202-203, 206-207; -योग-205।
हेवज्र-194. 197, 205-207; -तंत्र-194, 202-206; -पंजिका, -202, 204; -साधना-202, 204, -सिद्धांत-194।
होम-152, 155, 157।

बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

हिन्दी के आदिकालीन साहित्य और भक्तिकालीन साहित्य की भूमिका प्रस्तुत करनेवाली बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं का अध्ययन केवल हिन्दी ही नहीं सम्पूर्ण समकालीन साहित्य, किंबहुना तत्कालीन समग्र धर्मदार्शनिक एवं साधनात्मक जीवन के अध्ययन के लिए उपयोगी है; क्योंकि तंत्रदर्शन एवं साधना का अति व्यापक एवं गम्भीर प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इसी दृष्टि से बहुत पहले 1958 में तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य की रचना की गई थी।

यह ग्रन्थ उस अध्ययन के एक पक्ष का विस्तार है। बहुत पहले आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'नाथ सम्प्रदाय' में जालंधर पाद और कान्हुपा के कापालिक साधन और 'बामारग' की चर्चा नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में ही की थी। दूसरे उस समय बौद्धों के कापालिक साधन और दर्शन से सम्बन्धित किसी शास्त्रीय ग्रन्थ की सहायता नहीं ली गई थी। अत: बौद्धों के कापालिक तत्त्वों, साधनों, दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा भी नहीं हो पाई। यहाँ तक कि श्री स्नेलग्रोव ने हेवज्रतंत्र और उसकी टीका हेवज्रपंजिका का सम्पादन करके भी उसके कापालिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन नहीं किया। और न एक पृथक् बौद्ध साधनाधारा के रूप में इसे प्रस्तुत ही किया।

यह ग्रन्थ बौद्ध साधना और साहित्य के अनेक अछूते, विस्मृत, तिरस्कृत और महत्त्वपूर्ण सूत्रों को एकत्रित कर उनका व्यवस्थापन करते हुए बौद्धों के कापालिकतत्त्व का स्वरूप प्रस्तुत करता है। सामान्यतया केवल शैवों में ही कापालिकों की स्थिति माननेवालों को इस ग्रन्थ से नया प्रकाश, नई सूचनाएँ एवं भारतीय कापालिक साधना का एक नया स्वरूप देख़ने को मिलेगा। कापालिक साधना के विषय में फैली अनेक भ्रांतियों का निराकरण भी होगा, इसमें सन्देह नहीं।

ISBN : 978-81-7124-684-7 पृष्ठ : 296 मूल्य : 300.00 रुपये

अध्यात्म, योग एवं जीवन-चरित

प्रमुख ग्रन्थ

काशी के विद्यारत्न संन्यासी	*पं० बलदेव उपाध्याय*
श्री श्री सिद्धिमाता	*राजबाला देवी*
योगिराज तैलंग स्वामी	*विश्वनाथ मुखर्जी*
ब्रह्मर्षि देवराहा-दर्शन	*डॉ० अर्जुन तिवारी*
प्रकाश-पथ का यात्री *(एक सिद्ध योगी की आत्मकथा)*	*योगेश्वर*
अघोर पंथ और संत कीनाराम	*डॉ० सुशीला मिश्र*
शिवस्वरूप बाबा हैड़ाखान	*सद्‌गुरुप्रसाद श्रीवास्तव*
करुणामूर्ति बुद्ध	*डॉ० गुणवन्त शाह*
महामानव महावीर	*डॉ० गुणवन्त शाह*
बाबा नीब करौरी के अलौकिक प्रसंग	*बच्चन सिंह*
नीब करौरी के बाबा	*डॉ० बदरीनाथ कपूर*
सोमबारी महाराज *(उत्तराखण्ड की अनन्य विभूति)*	*हरिश्चन्द्र मिश्र*
सन्त रैदास	*श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला*
रैदास परिचई	*डॉ० शुकदेव सिंह*
संत रज्जब	*डॉ० नन्दकिशोर पाण्डेय*
समर्थ रामदास	*ना०वि० सप्रे*
स्वामी दयानन्द जीवनगाथा	*डॉ० भवानीलाल भारतीय*
तथागत (आत्मकथात्मक उपन्यास)	*डॉ० बाबूराम त्रिपाठी*
मनीषी की लोकयात्रा (म०म०पं० गोपीनाथ कविराजका जीवन-दर्शन)	*डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह*
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन	*नन्दलाल गुप्त*
पुराण पुरुष योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी	*सत्यचरण लाहिड़ी*
कौन हैं ये श्यामाचरण	*अशोककुमार चट्टोपाध्याय*
महात्मा बनादास : जीवन और साहित्य	*डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह*
भारत के महान योगी (14 भाग : 7 ज़िल्द)	*विश्वनाथ मुखर्जी*
भारत की महान साधिकाएँ	*विश्वनाथ मुखर्जी*
महाराष्ट्र के संत-महात्मा	*ना०वि० सप्रे*
महाराष्ट्र के कर्मयोगी	*ना०वि० सप्रे*
आधुनिक भारत के युग प्रवर्तक संत	*लक्ष्मी सक्सेना*

उत्तराखण्ड की सन्त परम्परा	*डॉ० गिरिराज शाह*
पूर्वांचल के संत महात्मा	*परागकुमार मोदी*
भुड़कुड़ा की सन्त परम्परा	*डॉ० इन्द्रदेव सिंह*
अतीन्द्रिय लोक	*गोविंद प्रसाद श्रीवास्तव*
योग वासिष्ठ की सात कहानियाँ	*भरत झुनझुनवाला*
कुण्डलिनी शक्तियोग तथा समाधि एवं मोक्ष	*डॉ० दिनेशकुमार अग्रवाल*
स्वर से समाधि	*स्वामी कृष्णानन्दजी 'महाराज'*
सोमतत्त्व	*सम्पा० : प्रो० कल्याणमल लोढ़ा*
जपसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय खण्ड)	*स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती*
वेद व विज्ञान	*स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती*
हिन्दी ज्ञानेश्वरी	*(अनु०) ना०वि० सप्रे*
श्रीमद् एकनाथी भागवत	*अनुवादक : ना०वि० सप्रे*
कथा राम के गूढ़	*डॉ० रामचन्द्र तिवारी*
कथा त्रिदेव की	*रामनगीना सिंह*
सृष्टि और उसका प्रयोजन (मेहेर बाबा)	*शिवेन्द्र सहाय*
सब कुछ और कुछ नहीं	*मेहेर बाबा*
कृष्ण का जीवन संगीत (गीता)	*डॉ० गुणवंत शाह*

म०म०पं० गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मकपरक कृतियाँ

भारतीय धर्म साधना
क्रम-साधना
अखण्ड महायोग
श्री साधना
श्रीकृष्ण प्रसंग
योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा
शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी
दीक्षा
सनातन-साधना की गुप्तधारा
साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-3)
ज्ञानगंज
प्रज्ञान तथा क्रमपथ
योग-तन्त्र साधना
परातंत्र साधना पथ
तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन
भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्ड)
अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान
काशी की सारस्वत साधना
भारतीय साधना की धारा
स्वसंवेदन
तांत्रिक वांङ्मय में शाक्त दृष्टि (अप्राप्य)
तांत्रिक साधना और सिद्धान्त (अप्राप्य)

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

गोरखनाथ

नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय